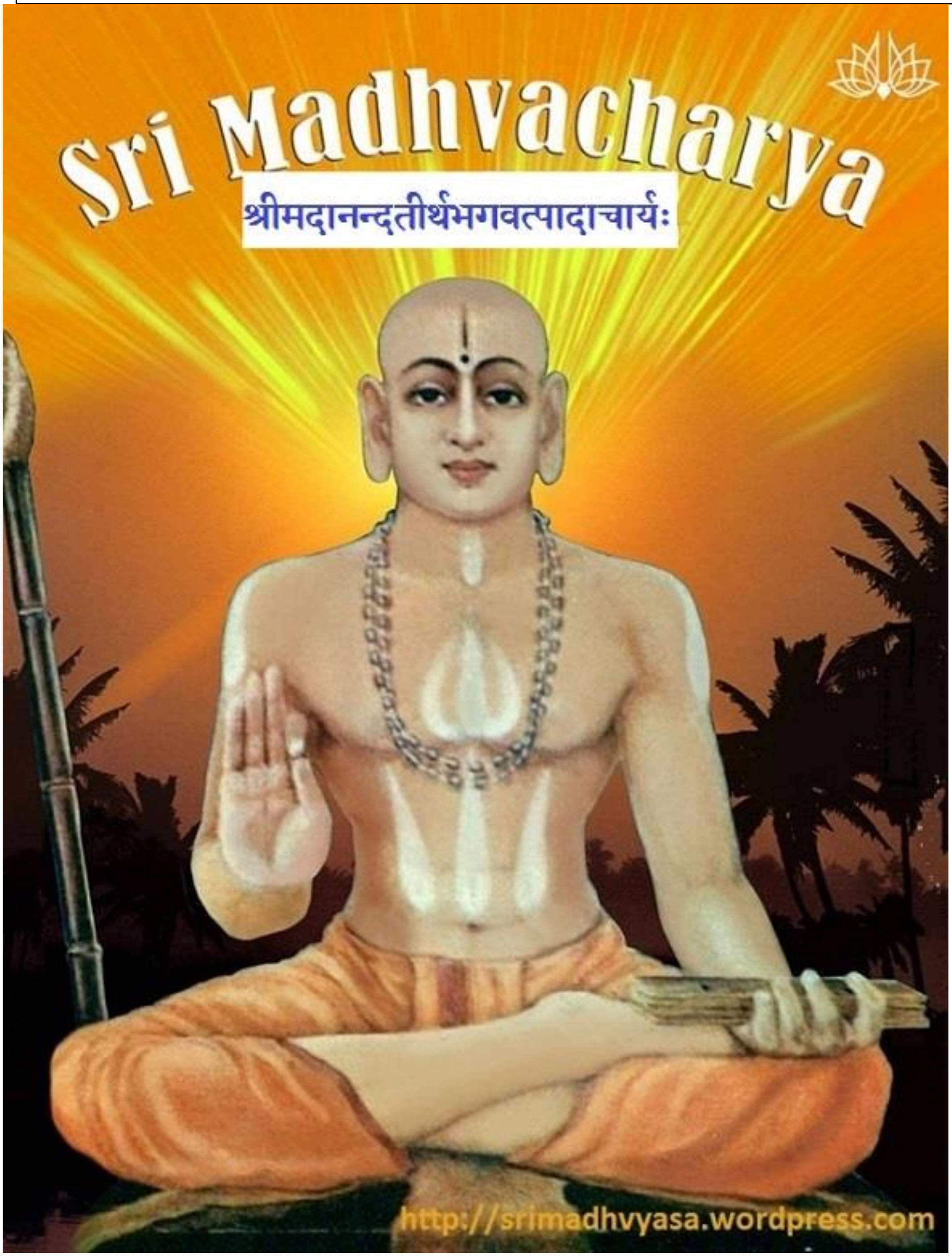

Tracking:

Sr	Date	Remarks	By
1	21/04/2015	Typing Started on	H K Srinivasa Rao
2	31/05/2015	Typing Ended on	H K Srinivasa Rao
3	29/08/2015	Ist Proof Reading & Correction	M S Venugopal & H K Srinivasa Rao

॥ ಶ್ರೀ ಹಯವದನ ರಂಗವಿಠ್ಠಲ ಗೋಪೀನಾಥೋ ವಿಜಯತೇ ॥

Blessed by Lord and with His divine grace, we are pleased to publish this Magnanimous Work of Sri Acharya Madhwa. It is a humble effort to make available this Great work to Sadhakas who are interested in the noble path of propagating Acharya Madhwa's Philosophy.

With great humility, we solicit the readers to bring to our notice any inadvertant typographical mistakes that could have crept in, despite great care. We would be pleased to incorporate such corrections in the next versions. Users can contact us, for editable version, to facilitate any value additions.

Contact: H K SRINIVASA RAO, N0 26, 2ND FLOOR, 15TH CROSS, NEAR VIDHYAPEETA CIRCLE, ASHOKANAGAR, BANGALORE 560050. PH NO. 26615951, 8095551774, 8095551773 Email : srkarc@gmail.com

ಕೃತಜ್ಞತೆಗಳು

ಅರ್ಧಾಂಗಿಯನ್ನು ಕರುಣಿಸಿ ಸಾಧನೆಗೆ ಅವಕಾಶಮಾಡಿದ ಪೂಜ್ಯ ಅತ್ತೆ ಮಾವಂದಿರಾದ, ದಿವಂಗತರಾದ ಯಶೋದಾಬಾಯಿ ಕೆ ಬಿ ಮತ್ತು ಬಿಂದುಮಾಧವರಾವ್ ಕೆ ಆರ್ ಅವರ ಸ್ಮರಣಾರ್ಥ ಈ ಜ್ಞಾನಯಜ್ಞ.

ಕೃತಜ್ಞತೆಗಳು

ಸಂಸ್ಕೃತದಲ್ಲಿರುವ ಅನುಸ್ವರ-ಅನುನಾಸಿಕದ ಸ್ಪಷ್ಟವಾದ ವೈವಿಧ್ಯತೆಯು, ಕನ್ನಡ ಭಾಷೆಯಲ್ಲಿಯೂ ಇರುವಾಗ, ಅದರ ಜ್ಞಾನದ ಗಂಧವೇ ಇಲ್ಲದವರಂತೆ, ಕನ್ನಡಿಗರು ಇದನ್ನು ಕಡೆಗಣಿಸಿರುವುದು ಏಕೋ ತಿಳಿಯದಾಗಿದೆ. ಸರಿಯಾದ ಉಚ್ಚಾರಣೆಗಾಗಿ, ಸರಿಯಾದ ಅನುಸ್ವಾರ-ಅನನಾಸಿಕಗಳು ಅವಶ್ಯಕ. ಆದ್ದರಿಂದ, ಶ್ರಮವಹಿಸಿ, ಸರಿಯಾದ ಅನುನಾಸಿಕ, ಅನುಸ್ವಾರಗಳನ್ನು ಬಳಸಲಾಗಿದೆ. ಓದುಗರು ಇದನ್ನು ಗಮನಿಸಿ ಮನ್ನಿಸಬೇಕಾಗಿ ಪ್ರಾರ್ಥಿಸಲಾಗಿದೆ.

ಗ್ರಂಥ ಋಣ- ತನ್ತ್ರದೀಪಿಕ – ಗುರುರಾಜ ಅಸೋೀಸಿಯೇಷನ್

Table of Contents

ಕೃತಜ್ಞತೆಗಳು........ 2
तन्त्रदीपिका........ 29
प्रथमाद्यायः (समन्वयाध्यायः) ॥1 ॥ 29
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥1-1 ॥ 29
जिज्ञासाधिकरणम्॥ 1-1-1॥ 29
ॐ ॐ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॐ ॥1-1-1-1॥ 29
जन्माधिकरणम् ॥1-1-2॥........ 30
ॐ जन्माद्यस्य यतः ॐ ॥1-1-2-2 ॥........ 30
शास्त्रयोन्यधिकरणम्॥1-1-3॥ 31
ॐ शास्त्रयोनित्वात् ॐ ॥1-1-3-3 ॥........ 31
समन्वयाधिकरणम् ॥1-1-4॥ 31
ॐ तत्तु समन्वयात् ॐ ॥1-1-4-4॥........ 31
ईक्षत्यधिकरणम्॥1-1-5॥........ 32
ॐ ईक्षतेर्नाशब्दम् ॐ ॥1-1-5-5 ॥ 32
ॐ गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॐ ॥1-1-5-6 ॥ 32
ॐ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॐ ॥1-1-5-7 ॥........ 32
ॐ हेयत्वावचनाच्च ॐ ॥1-1-5-8 ॥........ 33
ॐ स्वाप्ययात् ॐ ॥1-1-5-9 ॥ 33
ॐ गतिसामान्यात् ॐ ॥1-1-5-10 ॥ 33
ॐ श्रुतत्वाच्च ॐ ॥1-1-5-11 ॥ 34
आनन्दमयाधिकरणम्॥1-1-6॥........ 34
ॐ आनन्दमयोऽभ्यासात् ॐ ॥1-1-6-12 ॥ 34
ॐ विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॐ ॥1-1-6-13 ॥........ 34
ॐ तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-1-6-14 ॥ 35
ॐ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॐ ॥1-1-6-15 ॥........ 35
ॐ नेतरोऽनुपपत्तेः ॐ ॥1-1-6-16 ॥........ 35
ॐ भेदव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-1-6-17 ॥ 35
ॐ कामाच्च नानुमानापेक्षा ॐ ॥1-1-6-18 ॥........ 36
ॐ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॐ ॥1-1-6-19 ॥ 36
अन्तस्तत्त्वाधिकरणम्॥1-1-7॥........ 36

ॐ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॐ ॥1-1-7-20 ॥ ... 36

ॐ भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॐ ॥1-1-7-21 ॥ ... 36

ॐ आकाशस्तल्लिङ्गात् ॐ ॥1-1-8-22 ॥ ... 37

प्राणाधिकरणम्॥1-1-9॥ ... 37

ॐ अत एव प्राणः ॐ ॥1-1-9-23 ॥ ... 37

ज्योतिरधिकरणम्॥1-1-10॥ ... 37

ॐ ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॐ ॥1-1-10-24 ॥ ... 37

गायत्र्यधिकरणम्॥1-1-11॥ ... 38

ॐ छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ॐ ॥1-1-11-25 ॥ ... 38

ॐ भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॐ ॥1-1-11-26 ॥ ... 38

ॐ उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॐ ॥1-1-11-27॥ ... 39

पादान्त्यप्राणाधिकरणम्॥1-1-12॥ ... 39

ॐ प्राणस्तथाऽनुगमात् ॐ ॥1-1-12-28 ॥ ... 39

ॐ न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्भन्धभूमा ह्यस्मिन् ॐ ॥1-1-12-29 ॥ ... 39

ॐ शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॐ ॥1-1-12-30 ॥ ... 40

ॐ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॐ ॥1-1-12-31 ॥ ... 40

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥1-2 ॥ ... 41

सर्वगतत्वाधिकरणम्॥1-2-1॥ ... 41

ॐ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॐ ॥1-2-1-32 ॥ ... 41

ॐ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॐ ॥1-2-1-33 ॥ ... 41

ॐ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॐ ॥1-2-1-34॥ ... 41

ॐ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-2-1-35 ॥ ... 42

ॐ शब्दविशेषात् ॐ ॥1-2-1-36 ॥ ... 42

ॐ स्मृतेश्च ॐ ॥1-2-1-37 ॥ ... 42

ॐ अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॐ ॥1-2-1-38 ॥ ... 42

ॐ सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॐ ॥1-2-1-39 ॥ ... 43

अत्तृत्वाधिकरणम्॥1-2-2॥ ... 43

ॐ अत्ताचराचरग्रहणात् ॐ ॥1-2-2-40 ॥ ... 43

ॐ प्रकरणाच्च ॐ ॥1-2-2-41 ॥ ... 43

गुहाधिकरणम्॥1-2-3॥ ... 43

ॐ गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॐ ॥1-2-3-42 ॥ ... 43

ॐ विशेषणाच्च ॐ ॥1-2-3-43॥ ... 44

अन्तराधिकरणम्॥1-2-4॥ 44
ॐ अन्तर उपपत्तेः ॐ ॥1-2-4-44॥ 44
ॐ स्थानादिव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-2-4-45 ॥ 44
ॐ सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॐ ॥1-2-4-46 ॥ 45
ॐ श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॐ ॥1-2-4-47 ॥ 45
ॐ अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॐ ॥1-2-4-48 ॥ 45
अन्तर्याम्यधिकरणम्॥1-2-5॥ 45
ॐ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॐ ॥1-2-5-49॥ 45
ॐ न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॐ ॥1-2-5-50॥ 46
ॐ शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॐ ॥1-2-5-51 ॥ 46
अदृश्यत्वादिकरणम्॥1-2-6॥ 46
ॐ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॐ ॥1-2-6-52 ॥ 46
ॐ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॐ ॥1-2-6-53 ॥ 47
ॐ रूपोपन्यासाच्च ॐ ॥1-2-6-54 ॥ 47
वैश्वानराधिकरणम्॥1-2-7॥ 47
ॐ वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॐ ॥1-2-7-55॥ 47
ॐ शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषविधमपि चैनमधीयते ॐ ॥ 1-2-7-57 48
ॐ अत एव न देवता भूतं च ॐ ॥ 1-2-7-58॥ 48
ॐ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॐ ॥ 1-2-7-59 ॥ 48
ॐ अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॐ ॥ 1-2-7-60 ॥ 49
ॐ अनुस्मृतेर्बादरिः ॐ ॥ 1-2-7-61 ॥ 49
ॐ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॐ ॥ 1-2-7-62 ॥ 49
ॐ आमनन्ति चैनमस्मिन् ॐ ॥ 1-2-7-63 ॥ 49
प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥1-3 ॥ 50
द्युभ्वाद्याधिकरणम्॥1-3-1॥ 50
ॐ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॐ ॥ 1-3-1-64 ॥ 50
ॐ मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॐ ॥ 1-3-1-65 ॥ 50
ॐ नानुमानमतच्छब्दात् ॐ ॥ 1-3-1-66 ॥ 50
ॐ प्राणभृच्च ॐ ॥ 1-3-1-67 ॥ 50
ॐ भेदव्यपदेशात् ॐ ॥ 1-3-1-68 ॥ 51
ॐ प्रकरणात् ॐ ॥ 1-3-1-69 ॥ 51
ॐ स्थित्यदनाभ्यां च ॐ ॥ 1-3-1-70 ॥ 51

भूमाधिकरणम्॥1-3-2॥ 51
ॐ भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॐ ॥ 1-3-2-71 ॥ 51
ॐ धर्मोपपत्तेश्च ॐ ॥ 1-3-2-72 ॥ 52
अक्षराधिकरणम्॥1-3-3॥ 52
ॐ अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॐ ॥ 1-3-3-73 ॥ 52
ॐ सा च प्रशासनात् ॐ ॥ 1-3-3-74 ॥ 52
ॐ अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॐ ॥ 1-3-3-75 ॥ 52
सदधिकरणम्॥1-3-4॥ 53
ॐ ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॐ॥ 1-3-3-76 ॥ 53
दहराधिकरणम्॥1-3-5॥ 53
ॐ दहर उत्तरेभ्यः ॐ ॥ 1-3-5-77 ॥ 53
ॐ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॐ ॥ 1-3-5-78 ॥ 53
ॐ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॐ ॥ 1-3-5-79 ॥ 54
ॐ प्रसिद्धेश्च ॐ ॥ 1-3-5-80 ॥ 55
ॐ इतरपरामर्शात् सः इति चेन्नासम्भवात् ॐ ॥ 1-3-5-81 ॥ 55
ॐ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॐ ॥ 1-3-5-82 ॥ 55
ॐ अन्यार्थश्च परामर्शः ॐ ॥ 1-3-5-83 ॥ 55
ॐ अल्पश्रुतेरिति चेत् तदुक्तम् ॐ ॥ 1-3-5-84 ॥ 55
अनुकृत्यधिकरणम्॥1-3-6॥ 56
ॐ अनुकृतेस्तस्य च ॐ ॥ 1-3-6-85 ॥ 56
ॐ आपि स्मर्यते ॐ ॥ 1-3-6-86 ॥ 56
वामनाधिकरणम्॥1-3-7॥ 57
ॐ शब्दादेव प्रमितः ॐ ॥ 1-3-7-87 ॥ 57
ॐ हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॐ ॥ 1-3-7-88 ॥ 57
देवताधिकरणम्॥1-3-8॥ 57
ॐ तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॐ ॥ 1-3-8-89 ॥ 57
ॐ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॐ॥ 1-3-8-90 ॥ 58
ॐ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॐ॥ 1-3-8-91॥ 58
ॐ अत एव च नित्यत्वम् ॐ ॥ 1-3-8-92 ॥ 58
ॐ समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॐ ॥ 1-3-8-93 ॥ 59
ॐ मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॐ ॥ 1-3-8-94॥ 59
ॐ ज्योतिषि भावाच्च ॐ ॥ 1-3-8-95॥ 59

ॐ भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॐ ॥1-3-8-96॥ 60
अपशूद्राधिकरणम्॥1-3-9॥ 60
ॐ शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाऽऽद्रवणात् सूच्यते हि ॐ ॥1-3-9-97॥ 60
ॐ क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॐ॥ 1-3-9-98 ॥ 60
ॐ संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ॐ ॥ 1-3-9-99 ॥ 61
ॐ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॐ ॥ 1-3-9-100 ॥ 61
ॐ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॐ ॥ 1-3-9-101 ॥ 61
कम्पनाधिकरणम्॥1-3-10॥ 62
ॐ कम्पनात् ॐ ॥ 1-3-10-102 ॥ 62
ज्योतिरधिकरणम्॥1-3-11॥ 62
ॐ ज्योतिर्दर्शनात् ॐ ॥ 1-3-11-103 ॥ 62
आकाशाधिकरणम्॥1-3-12॥ 62
ॐ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॐ ॥ 1-3-12-104 ॥ 62
सुषुप्त्यधिकरणम्॥1-3-13॥ 62
ॐ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॐ ॥ 1-3-13-105 ॥ 62
ब्राह्मणाधिकरणम्॥1-3-14॥ 63
ॐ पत्यादिशब्देभ्यः ॐ ॥ 1-3-14-106 ॥ 63
तृतीयपादसारसङ्ग्रहः 63
अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥1-4॥ 63
आनुमानिकाधिकरणम्॥1-4-1॥ 63
ॐ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॐ ॥ 1-4-1-107 ॥ 63
ॐ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॐ ॥ 1-4-1-108 ॥ 64
ॐ तदधीनत्वादर्थवत् ॐ ॥ 1-4-1-109 ॥ 64
ॐ ज्ञेयत्वावचनाच्च ॐ ॥ 1-4-1-110 ॥ 64
ॐ वदतीती चेन्न प्राज्ञो हि ॐ ॥ 1-4-1-111 ॥ 65
ॐ प्रकरणात् ॐ ॥ 1-4-1-112 ॥ 65
ॐ त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॐ ॥ 1-4-1-7-113 ॥ 65
ॐ महद्वच्च ॐ ॥ 1-4-1-8-114 ॥ 66
ॐ चमसवदविशेषात् ॐ ॥ 1-4-1-9-115 ॥ 66
ज्योतिरुपक्रमाधिकरणम्॥1-4-2॥ 66
ॐ ज्योतिरुपक्रमात् तु तथा ह्यधीयत एके ॐ॥ 1-4-2-10-116 ॥ 66
ॐ कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॐ ॥ 1-4-2-11-117 ॥ 66

न शङ्ख्योपसङ्ग्रहादिकरणम्(पञ्चजनाधिकरणम्)॥1-4-3॥ ... 67
ॐ न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॐ॥1-4-3-12-118 ॥ ... 67
ॐ प्राणादयो वाक्यशेषात् ॐ ॥ 1-4-13-119 ॥ ... 67
ॐ ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॐ ॥ 1-4-14-120 ॥ ... 68
आकाशाधिकरणम्॥1-4-4॥ ... 68
ॐ कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॐ॥ 1-4-4-121 ॥ ... 68
समाकर्षाधिकरणम्॥1-4-5॥ ... 68
ॐ समाकर्षात् ॐ ॥ 1-4-5-122 ॥ ... 68
ॐ जगद्वाचित्वात् ॐ ॥ 1-4-5-123 ॥ ... 69
ॐ जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिति चेत् तद्व्याख्यातम् ॐ॥1-4-5-124 ॥ ... 69
ॐ अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॐ ॥ 1-4-5-125 ॥ ... 69
ॐ वाक्यान्वयात् ॐ ॥ 1-4-5-126 ॥ ... 70
ॐ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॐ ॥ 1-4-5-127 ॥ ... 70
ॐ उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॐ ॥ 1-4-5-128 ॥ ... 70
ॐ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॐ ॥ 1-4-5-129 ॥ ... 71
प्रकृत्यधिकरणम्॥1-4-6॥ ... 71
ॐ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॐ ॥ 1-4-6-130 ॥ ... 71
ॐ अभिध्योपदेशाच्च ॐ ॥ 1-4-6-131 ॥ ... 71
ॐ साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॐ ॥ 1-4-6-132 ॥ ... 71
ॐ आत्मकृतेः परिणामात् ॐ ॥ 1-4-6-133 ॥ ... 72
ॐ योनिश्च हि गीयते ॐ ॥ 1-4-6-134 ॥ ... 72
सर्वव्याख्यानाधिकरणम्॥1-4-7॥ ... 72
ॐ एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॐ ॥ 1-4-7-135 ॥ ... 72
द्वितीयाध्यायः॥2॥ ... 73
अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥2-1॥ ... 73
स्मृत्यधिकरणम्॥2-1-1॥ ... 73
ॐ स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॐ ॥ 2-1-1-136 ॥ ... 73
ॐ इतरेषां चानुपलब्धेः ॐ ॥ 2-1-1-137 ॥ ... 73
ॐ एतेन योगः प्रत्युक्तः ॐ ॥ 2-1-1-138 ॥ ... 74
न विलक्षणत्वाधिकरणम्॥2-1-2॥ ... 74
ॐ न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॐ ॥ 2-1-2-139 ॥ ... 74
ॐ दृश्यते तु ॐ ॥ 2-1-2-140 ॥ ... 74

अभिमान्यधिकरणम्॥2-1-3॥ 74
ॐ अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॐ ॥ 2-1-3-141 ॥ 74
ॐ दृश्यते च ॐ ॥ 2-1-3-142 ॥ 75
असदधिकरणम्॥2-1-4॥ 75
ॐ असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॐ ॥ 2-1-4-143 ॥ 75
ॐ अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॐ ॥2-1-4-144 ॥ 76
ॐ न तु दृष्टान्तभावात् ॐ ॥ 2-1-4-145 ॥ 76
ॐ स्वपक्षदोषाच्च ॐ ॥ 2-1-4-146 ॥ 77
ॐ तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॐ ॥ 2-1-4-147 ॥ 77
भोक्त्रधिकरणम्॥2-1-5॥ 77
ॐ एतेन शिष्टाऽपरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॐ ॥ 2-1-5-148 ॥ 77
ॐ भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॐ ॥ 2-1-6-149 ॥ 78
आरम्भणाधिकरणम्॥॥2-1-6॥ 78
ॐ तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॐ ॥ 2-1-6-150 ॥ 78
ॐ भावे चोपलब्देः ॐ ॥ 2-1-6-151 ॥ 79
ॐ सत्वाच्चावरस्य ॐ ॥ 2-1-6-152 ॥ 79
ॐ असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॐ 79
॥ 2-1-6-153॥ 79
ॐ युक्तेः शब्दान्तराच्च ॐ ॥ 2-1-6-154 ॥ 79
ॐ पटवच्च ॐ ॥ 2-1-6-155 ॥ 80
ॐ यथा प्राणादिः ॐ ॥ 2-1-6-156 ॥ 80
इतरव्यपदेशाधिकरणम्॥2-1-7॥ 80
ॐ इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॐ ॥ 2-1-7-157 ॥ 80
ॐ अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॐ ॥ 2-1-7-158 ॥ 80
ॐ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॐ ॥ 2-1-7-159 ॥ 81
ॐ उपसंहारदर्शनान्नेति चेत् क्षीरवद्धि ॐ ॥ 2-1-7-160 ॥ 81
ॐ देवादिवदपि लोके ॐ ॥ 2-1-7-161 ॥ 81
ॐ कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॐ ॥ 2-1-7-162 ॥ 82
शब्धमूलत्वाधिकरणम्॥2-1-8॥ 82
ॐ श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात् ॐ ॥ 2-1-8-163 ॥ 82
ॐ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॐ ॥ 2-1-8-164 ॥ 82
ॐ स्वपक्षदोषाच्च ॐ ॥ 2-1-8-165 ॥ 82

ॐ सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॐ ॥ 2-1-8-166 ॥ 83
ॐ विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् ॐ ॥ 2-1-8-167 ॥ 83
न प्रयोजनाधिकरणम्॥2-1-9॥ 83
ॐ न प्रयोजनवत्त्वात् ॐ ॥ 2-1-9-168 ॥ 83
ॐ लोकवत्तुलीलाकैवल्यम् ॐ ॥ 2-1-9-169 ॥ 83
वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम्॥2-1-10॥ 83
ॐ वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॐ॥ 2-1-10-170॥ 83
ॐ न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॐ ॥ 2-1-10-171 ॥ 84
ॐ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॐ॥ 2-1-10-172 ॥ 84
सर्वधर्मोपपत्यधिकरणम्॥2-1-11॥ 84
ॐ सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-1-11-173 ॥ 84
प्रथमपादसारसङ्ग्रहः 85
अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥2-2॥ 85
रचनानुपपत्यधिकरणम्॥2-2-1॥ 85
ॐ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॐ ॥ 2-2-1-174 ॥ 85
ॐ प्रवृत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-1-175 ॥ 86
ॐ पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ॐ ॥ 2-2-1-176 ॥ 86
ॐ व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॐ ॥ 2-2-1-177 ॥ 86
अन्यत्राभावाधिकरणम्॥2-2-2॥ 86
ॐ अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॐ॥ 2-2-2-178 ॥ 86
अभ्युपगमाधिकरणम्॥2-2-3॥ 87
ॐ अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॐ ॥ 2-2-3-179 ॥ 87
पुरुषाष्माधिकरणम्॥2-2-4॥ 87
ॐ पुरुषाश्मवदिति चेत् तथाऽपि ॐ ॥ 2-2-4-180 ॥ 87
ॐ अङ्गित्वानुपपत्तेः ॐ ॥ 2-2-4-181 ॥ 87
अन्यथानुमित्यधिकरणम्॥2-2-5॥ 87
ॐ अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॐ ॥ 2-2-5-182 ॥ 87
ॐ विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॐ ॥ 2-2-5-183 ॥ 88
वैशेषिकाधिकरणम्॥2-2-6॥ 88
ॐ महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॐ ॥ 2-2-6-184 ॥ 88
ॐ उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॐ ॥ 2-2-6-185 ॥ 88
ॐ समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॐ ॥ 2-2-6-186 ॥ 89

ॐ नित्यमेव च भावात् ॐ ॥ 2-2-6-187 ॥ 89
ॐ रूपादिमत्वाच्चविपर्ययो दर्शनात् ॐ ॥ 2-2-6-188 ॥ 89
ॐ उभयथा च दोषात् ॐ ॥ 2-2-6-189 ॥ 89
ॐ अपरिग्रहाच्च अत्यन्तमनपेक्षा ॐ ॥ 2-2-6-190॥ 89
समुदायाधिकरणम्॥2-2-7॥ 90
ॐ समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॐ ॥ 2-2-7-191 ॥........ 90
ॐ इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वात् ॐ॥2-2-7-192॥........ 90
ॐ उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॐ ॥ 2-2-7-193 ॥ 91
ॐ असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॐ ॥ 2-2-7-194 ॥........ 91
ॐ प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॐ॥ 2-2-7-195॥........ 91
ॐ उभयथा च दोषात् ॐ ॥ 2-2-7-196 ॥ 92
ॐ आकाशे चाविशेषात् ॐ ॥ 2-2-7-197 ॥ 92
ॐ अनुस्मृतेश्च ॐ ॥ 2-2-7-198 ॥........ 92
असदधिकरणम्॥2-2-8॥ 92
ॐ नासतोऽदृष्टत्वात् ॐ ॥ 2-2-8-199 ॥ 92
ॐ उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॐ ॥ 2-2-8-200 ॥........ 93
ॐ नाभाव उपलब्धेः ॐ ॥ 2-2-8-201 ॥ 93
ॐ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॐ ॥ 29-202 ॥ 93
अनुपलब्ध्यधिकरणम्॥2-2-9॥........ 94
ॐ न भावोऽनुपलब्धेः ॐ ॥ 2-2-9-203 ॥ 94
ॐ क्षणिकत्वाच्च ॐ ॥ 2-2-9-204 ॥........ 94
ॐ सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-9-205 ॥ 94
नैकस्मिन्नधिकरणम्॥2-2-10॥ 94
ॐ नैकस्मिन्नसम्भवात् ॐ ॥ 2-2-10-206 ॥........ 94
ॐ एवंचात्माऽकात्स्न्र्यम् ॐ ॥ 2-2-10-207 ॥ 95
ॐ न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ 2-2-10-208 ॥ 95
ॐ अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषात् ॐ ॥ 2-2-10-209 ॥........ 95
पत्युरधिकरणम्॥2-2-11॥........ 96
ॐ पत्युरसामञ्जस्यात् ॐ ॥ 2-2-11-210 ॥ 96
ॐ सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-11-211 ॥ 96
ॐ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-11-212 ॥ 96
ॐ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॐ ॥ 2-2-11-213 ॥ 96

ॐ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॐ ॥ 2-2-11-214 ॥ 96
उत्पत्त्यधिकरणम्॥2-2-12॥ 97
ॐ उत्पत्त्यसम्भवात् ॐ ॥ 2-2-12-215 ॥ 97
ॐ न च कर्तुः करणम् ॐ ॥ 2-2-12-216 ॥ 97
ॐ विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॐ ॥ 2-2-12-217 ॥ 97
ॐ विप्रतिषेधाच्च ॐ ॥ 2-2-12-218 ॥ 97
अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥2-3॥ 98
वियदधिकरणम्॥2-3-1॥ 98
ॐ न वियदश्रुतेः ॐ ॥ 2-3-1-219 ॥ 98
ॐ अस्तितु ॐ ॥ 2-3-1-220 ॥ 98
ॐ गौण्यसम्भवात् ॐ ॥ 2-3-1-221 ॥ 98
ॐ शब्दाच्च ॐ ॥ 2-3-1-222 ॥ 98
ॐ स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॐ ॥ 2-3-1-223 ॥ 99
ॐ प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् शब्देभ्यः ॐ ॥ 2-3-1-224 ॥ 99
ॐ यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॐ ॥ 2-3-1-225 ॥ 99
मातरिश्वाधिकरणम्॥2-3-2॥ 100
ॐ एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॐ ॥ 2-3-2-226 ॥ 100
असम्भवाधिकरणम्॥2-3-3॥ 100
ॐ असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॐ ॥ 2-3-3-227 ॥ 100
तेजोधिकरणम्॥2-3-4॥ 100
ॐ तेजोऽतस्तथा ह्याह ॐ ॥ 2-3-4-228 ॥ 100
अबधिकरणम्॥2-3-5॥ 101
ॐ आपः ॐ ॥ 2-3-5-229 ॥ 101
पृथिव्यधिकरणम्॥2-3-6॥ 101
ॐ पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरादिभ्यः ॐ ॥ 2-3-6-230 ॥ 101
तदभिध्यानाधिकरणम्॥2-3-7॥ 101
ॐ तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॐ ॥ 2-3-7-231 ॥ 101
विपर्ययाधिकरणम्॥2-3-8॥ 102
ॐ विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॐ ॥ 2-3-8-232 ॥ 102
अन्तराधिकरणम्॥2-3-9॥ 102
ॐ अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति........ 102
चेन्नाविशेषात् ॐ ॥ 2-3-9-233 ॥ 102

ॐ चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॐ ॥ 2-3-9-234 ॥ 103
आत्माधिकरणम्॥2-3-10॥ 103
ॐ नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॐ ॥ 2-3-10-235 ॥ 103
ज्ञाधिकरणम्॥2-3-11॥ 104
ॐ ज्ञोऽत एव ॐ ॥ 2-3-11-236 ॥ 104
ॐ युक्तेश्च ॐ ॥ 2-3-11-237 ॥ 104
उत्क्रान्त्यधिकरणम्॥2-3-12॥ 104
ॐ उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॐ ॥ 2-3-12-238 ॥ 104
ॐ स्वात्मना चोत्तरयोः ॐ ॥ 2-3-12-239 ॥ 105
ॐ नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॐ ॥ 2-3-12-240 ॥ 105
ॐ स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॐ ॥ 2-3-12-241 ॥ 105
ॐ अविरोधश्चन्दनवत् ॐ ॥ 2-3-12-242 ॥ 105
ॐ अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॐ॥2-3-12-243 ॥ 106
ॐ गुणाद्वाऽऽलोकवत् ॐ ॥ 2-3-12-244 ॥ 106
व्यतिरेकाधिकरणम्॥2-3-13॥ 106
ॐ व्यतिरेको गन्धवत् तथा च दर्शयति ॐ ॥ 2-3-13-245 ॥ 106
पृथगुपदेशाधिकरणम्॥2-3-14॥ 106
ॐ पृथगुपदेशात् ॐ ॥ 2-3-14-246 ॥ 106
ॐ तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॐ ॥ 2-3-14-247 ॥ 107
यावदधिकरणम्॥2-3-15॥ 107
ॐ यावदात्माभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॐ॥2-3-15-248॥ 107
पुंस्त्वाधिकरणम्॥2-3-16॥ 108
ॐ पुंस्त्वादिवत्वस्यसतोऽभिव्यक्तियोगात् ॐ ॥ 2-3-16-249 ॥ 108
ॐ नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॐ ॥2-3-16-250 ॥ 108
कर्तृत्वाधिकरणम्॥2-3-17॥ 109
ॐ कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॐ ॥ 2-3-17-251 ॥ 109
ॐ विहारोपदेशात् ॐ ॥ 2-3-17-252 ॥ 109
ॐ उपादानात् ॐ ॥ 2-3-17-253 ॥ 109
ॐ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॐ॥ 2-3-17-254 ॥ 109
ॐ उपलब्धिवदनियमः ॐ ॥ 2-3-17-255 ॥ 109
ॐ शक्तिविपर्ययात् ॐ ॥ 2-3-17-256 ॥ 110
ॐ समाध्यभावाच्च ॐ ॥ 2-3-17-257॥ 110

ॐ यथा च तक्षोभयथा ॐ ॥ 2-3-17-258 ॥ 110
ॐ परात् तु तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 2-3-17-259 ॥ 110
ॐ कृतप्रयत्नापेक्षस्तुविहितप्रतिषेधावैयर्थ्यादिभ्यः ॐ॥ 2-3-17-260 ॥ 110
अंशाधिकरणम्॥2-3-18॥ 110
ॐ अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॐ ॥ 2-3-18-261 ॥ 110
ॐ मन्त्रवर्णात् ॐ ॥ 2-3-18-262 ॥ 111
ॐ अपि स्मर्यते ॐ ॥ 2-3-18-263 ॥ 111
ॐ प्रकाशादिवन्नैवं परः ॐ ॥ 2-3-18-264 ॥ 111
ॐ स्मरन्ति च ॐ ॥ 2-3-18-265 ॥ 112
ॐ अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॐ 112
॥2-3-18-266॥ 112
ॐ असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॐ ॥ 2-3-18-267 ॥ 113
ॐ आभास एव च ॐ ॥ 2-3-18-268 ॥ 113
अदृष्टाधिकरणम्॥ 2-3-19॥ 113
ॐ अदृष्टनियमात् ॐ ॥ 2-3-19-269 ॥ 113
ॐ अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॐ ॥ 2-3-19-270 ॥ 113
ॐ प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॐ ॥ 2-3-19-271 ॥ 113
इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृत तन्त्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु 114
अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥2-4॥ 114
प्राणाधिकरणम्॥2-4-1॥ 114
ॐ तथा प्राणाः ॐ ॥ 2-4-1-272 ॥ 114
ॐ गौण्यसम्भवात् ॐ ॥ 2-4-1-273 ॥ 114
ॐ प्रतिज्ञानुपरोधाच्च ॐ ॥ 2-4-1-274 ॥ 114
मनोधिकरणम्॥2-4-2॥ 115
ॐ तत्प्राक्छ्रुतेश्च ॐ ॥ 2-4-2-275 ॥ 115
तत्पूर्वकत्वाधिकरणम्॥2-4-3॥ 115
ॐ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॐ॥ 2-4-3-276 ॥ 115
सप्तगत्यधिकरणम्॥2-4-4॥ 115
ॐ सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॐ ॥ 2-4-4-277 ॥ 115
ॐ हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॐ ॥ 2-4-4-278 ॥ 116
अण्वधिकरणम्॥2-4-5॥ 116
ॐ अणवश्च ॐ ॥ 2-4-5-279 ॥ 116

श्रेष्ठाधिकरणम्॥2-4-6॥ 116
ॐ श्रेष्ठश्च ॐ ॥ 2-4-6-280 ॥....116
ॐ न वायुक्रिये पृथुगुपदेशात् ॐ ॥ 2-4-6-281 ॥....116
चक्षुराध्यधिकरणम्॥2-4-7॥....116
ॐ चक्षुरादिवत् तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॐ ॥ 2-4-7-282 ॥....116
ॐ अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॐ ॥ 2-4-7-283 ॥....117
पञ्चवृत्त्यधिकरणम्॥2-4-8॥ 117
ॐ पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॐ ॥ 2-4-8-284 ॥ 117
अण्वधिकरणम्॥2-4-9॥ 117
ॐ अणुश्च ॐ ॥ 2-4-9-285 ॥ 117
ज्योतिराद्यधिकरणम्॥2-4-10॥....118
ॐ ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॐ ॥ 2-4-10-286 ॥ 118
ॐ प्राणवता शब्दात् ॐ ॥ 2-4-10-287 ॥ 118
ॐ तस्य च नित्यत्वात् ॐ ॥ 2-4-10-288 ॥ 118
त इंद्रियाण्यधिकरणम्॥2-4-11॥ 119
ॐ त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॐ ॥ 2-4-11-289 ॥....119
ॐ भेदश्रुतेः ॐ ॥ 2-4-11-290 ॥....119
ॐ वैलक्षण्याच्च ॐ ॥ 2-4-11-291 ॥....119
सङ्ज्ञामूर्त्यधिकरणम्॥2-4-12॥....119
ॐ सङ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॐ॥2-4-12-292॥....119
मांसाधिकरणम्॥2-4-13॥ 120
ॐ मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॐ ॥ 2-4-13-293 ॥ 120
ॐ वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः ॐ ॥ 2-4-13-294 ॥....120
तृतीयाध्यायः॥3॥....120
अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथम पादः ॥3-1॥ 120
तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्॥3-1-1॥ 121
ॐ तदन्तरप्रतिपत्तौरंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॐ॥ 3-1-1-295 ॥....121
त्र्यात्मकत्वाधिकरणम्॥3-1-2॥ 121
ॐ त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात् ॐ ॥ 3-1-2-296 ॥....121
प्राणगत्यधिकरणम्॥3-1-3॥....121
ॐ प्राणगतेश्च ॐ ॥ 3-1-3-297 ॥....121
अग्न्याद्यधिकरणम्॥3-1-4॥ 122

ॐ अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॐ ॥ 3-1-4-298 ॥ 122
प्रथमाधिकरणम्॥3-1-5॥ 122
ॐ प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॐ ॥ 3-1-5-299 ॥........ 122
अश्रुतत्वाधिकरणम्॥3-1-6॥........ 122
ॐ अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॐ ॥ 3-1-6-300 ॥........ 122
भाक्ताधिकरणम्॥3-1-7॥ 122
ॐ भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॐ॥ 3-1-7-301 ॥ 122
कृतात्ययाधिकरणम्॥3-1-8॥........ 123
ॐ कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम् ॐ ॥ 3-1-8-302 ॥ 123
यथेताधिकरणम्॥3-1-9॥ 123
ॐ यथेतमनेवं च ॐ ॥ 3-1-9-303 ॥ 123
चरणाधिकरणम्॥3-1-10॥ 123
ॐ चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॐ........ 123
॥3-1-10-304॥........ 123
ॐ आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॐ ॥ 3-1-11-305 ॥ 124
ॐ सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॐ ॥ 3-1-12-306 ॥........ 124
अनिष्टाधिकरणम्॥3-1-11॥........ 124
ॐ अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॐ ॥ 3-1-13-307 ॥ 124
ॐ संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॐ ॥ 3-1-14-308 ॥........ 124
ॐ स्मरन्ति च ॐ ॥ 3-1-15-309 ॥........ 125
अपिसप्ताधिकरणम्॥3-1-12॥........ 125
ॐ अपि सप्त ॐ ॥ 3-1-12-310 ॥ 125
तत्राप्यधिकरणम्॥3-1-13॥ 125
ॐ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॐ ॥ 3-1-13-311 ॥ 125
विद्याधिकरणम्॥3-1-14॥........ 126
ॐ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॐ ॥ 3-1-14-312 ॥........ 126
न तृतीयाधिकरणम्॥3-1-15॥........ 126
ॐ न तृतीये तथोपलब्धेः ॐ ॥ 3-1-15-313 ॥ 126
ॐ स्मर्यतेऽपि च लोके ॐ ॥ 3-1-15-314 ॥........ 126
ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-1-15-315 ॥........ 127
ॐ तृतीये शब्दावरोधः संशोकजस्य ॐ ॥ 3-1-15-316 ॥........ 127
ॐ स्मरणाच्च ॐ ॥ 3-1-15-317 ॥ 127
तत्स्वाभाव्याधिकरणम्॥3-1-16॥ 127

ॐ तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॐ ॥ 3-1-16-318 ॥ 127

नातिचिरेणाधिकरणम्॥3-1-17॥ 128

ॐ नातिचिरेण विशेषात् ॐ ॥ 3-1-17-319 ॥ 128

अन्याधिकरणम्॥3-1-18॥ 128

ॐ अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॐ ॥ 3-1-18-320 ॥ 128

ॐ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॐ ॥ 3-1-18-321 ॥ 128

रेतोधिकरणम्॥3-1-19॥ 129

ॐ रेतःसिग्योगोऽथ ॐ ॥ 3-1-19-322 ॥ 129

योन्यधिकरणम्॥3-1-20॥ 129

ॐ योनेः शरीरम् ॐ ॥ 3-1-20-323 ॥ 129

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥3-2॥ 129

सन्ध्यादिकरणम्॥3-2-1॥ 129

ॐ सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॐ ॥ 3-2-1-324 ॥ 129

ॐ निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॐ ॥ 3-2-1-325 ॥ 129

ॐ मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ॐ 130

॥3-2-1-326॥ 130

ॐ सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॐ ॥ 3-2-1-327 ॥ 130

पराभिध्यानाधिकरणम्॥3-2-2॥ 130

ॐ पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॐ 130

॥3-2-2-328॥ 130

देहयोगाधिकरणम्॥3-2-3॥ 131

ॐ देहयोगाद्वासोऽपि ॐ ॥ 3-2-3-329 ॥ 131

तदभावाधिकरणम्॥3-2-4॥ 131

ॐ तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि ह ॐ ॥ 3-2-4-330 ॥ 131

प्रबोधाधिकरणम्॥3-2-5॥ 132

ॐ अतः प्रभोधोऽस्मात् ॐ ॥ 3-2-5-331 ॥ 132

कर्मानुस्मृत्यधिकरणम्॥3-2-6॥ 132

ॐ स एव च कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॐ ॥ 3-2-6-332 ॥ 132

सम्पत्यधिकरणम्॥3-2-7॥ 132

ॐ मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॐ ॥ 3-2-7-333 ॥ 132

न स्थानतोऽप्यधिकरणम्॥3-2-8॥ 132

ॐ न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॐ ॥ 3-2-8-334 ॥ 132

ॐ न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॐ॥ 3-2-8-335 ॥ 133

ॐ अपि चैवमेके ॐ ॥ 3-2-8-336 ॥ 133
अरूपाधिकरणम्॥3-2-9॥ 134
ॐ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॐ ॥ 3-2-9-337 ॥ 134
ॐ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॐ ॥ 3-2-9-338 ॥ 134
ॐ आह च तन्मात्रम् ॐ ॥ 3-2-9-339 ॥ 134
ॐ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॐ ॥ 3-2-9-340 ॥ 135
उपमाधिकरणम्॥3-2-10॥ 135
ॐ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॐ ॥ 3-2-10-341 ॥ 135
अम्बुवदधिकरणम्॥3-2-11॥ 136
ॐ अम्बुवदग्रहणात् तु न तथात्वम् ॐ ॥ 3-2-11-342 ॥ 136
वृद्धिह्रासाधिकरणम्॥3-2-12॥ 136
ॐ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॐ........ 136
॥3-2-12-343॥........ 136
ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-2-12-344 ॥ 137
प्रकताधिकरणम्॥3-2-13॥ 137
ॐ प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॐ॥ 3-2-13-345 ॥ 137
अव्यक्ताधिकरणम्॥3-2-14॥........ 137
ॐ तदव्यक्तमाह हि ॐ ॥3-2-14-346 ॥ 137
ॐ अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॐ ॥3-2-14-347 ॥ 137
ॐ प्रकाशवच्चावैशेष्यम् ॐ ॥3-2-14-348 ॥........ 138
ॐ प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॐ ॥3-2-14-349 ॥ 138
ॐ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॐ ॥3-2-14-350 ॥ 138
अहिकुण्डलाधिकरणम्॥3-2-15॥........ 138
ॐ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॐ ॥ 3-2-15-351 ॥ 138
ॐ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॐ ॥ 3-2-15-352 ॥........ 139
ॐ पूर्ववद्वा ॐ ॥ 3-2-15-353 ॥........ 139
ॐ प्रतिषेधाच्च ॐ ॥ 3-2-15-354 ॥ 139
परमताधिकरणम्॥3-2-16॥ 139
ॐ परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॐ 139
॥ 3-2-16-355॥........ 139
ॐ दर्शनात् ॐ ॥ 3-2-16-356 ॥........ 140
ॐ बुद्ध्यर्थः पादवत् ॐ ॥ 3-2-16-357 ॥ 140
स्थानविशेषाधिकरणम्॥3-2-17॥ 140

ॐ स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॐ ॥ 3-2-17-358 ॥ 140
ॐ उपपत्तेश्च ॐ ॥ 3-2-17-359 ॥ 141
तथान्यत्वाधिकरणम्॥3-2-18॥ 141
ॐ तथाऽन्यत् प्रतिषेधात् ॐ ॥ 3-2-18-360 ॥ 141
सर्वगतत्वाधिकरणम्॥3-2-19॥ 141
ॐ अनेन सर्वगतत्वमायामयशब्दादिभ्यः ॐ ॥ 3-2-19-361 ॥ 141
फलाधिकरणम्॥3-2-20॥ 141
ॐ फलमत उपपत्तेः ॐ ॥ 3-2-20-362 ॥ 141
ॐ श्रुतत्वाच्च ॐ ॥ 3-2-20-363 ॥ 142
ॐ धर्मं जैमिनिरत एव ॐ ॥ 3-2-20-364 ॥ 142
ॐ पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ॐ ॥3-2-20-365 ॥ 142
अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥3-3॥ 142
सर्ववेदाधिकरणम्॥3-3-1॥ 142
ॐ सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॐ ॥ 3-3-1-366॥ 142
ॐ भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॐ ॥ 3-3-1-367 ॥ 143
ॐ स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च ॐ॥03-368॥ 143
ॐ सलिलवच्च तन्नियमः ॐ ॥ 04-369 ॥ 144
ॐ दर्शयति च ॐ ॥ 05-370 ॥ 144
उपसंहाराधिकरणम्॥3-3-2॥ 144
ॐ उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॐ 144
॥3-3-2-371॥ 144
ॐ अन्यथात्वं च शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॐ ॥3-3-2-372॥ 145
ॐ न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॐ ॥3-3-2-373॥ 145
ॐ सङ्ज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ॐ ॥3-3-2-374॥ 145
प्राप्त्यधिरकणम्॥3-3-3॥ 146
ॐ प्राप्तेश्च समञ्जसम् ॐ ॥ 3-3-3-375 ॥ 146
सर्वभेदाधिकरणम्॥3-3-4॥ 146
ॐ सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॐ ॥ 3-3-4-376 ॥ 146
आनन्दाधिकरणम्॥3-3-5॥ 146
ॐ आनन्दादयः प्रधानस्य ॐ ॥ 3-3-5-377 ॥ 146
प्रियशिरस्त्वाधिकरणम्॥3-3-6॥ 147
ॐ प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॐ॥3-3-6-378॥ 147

इतराधिकरणम्॥3-3-7॥ ... 147

ॐ इतरे त्वर्थसामान्यात् ॐ ॥ 3-3-7-379 ॥ ... 147

अध्यानाधिकरणम्॥3-3-8॥ ... 147

ॐ आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॐ ॥ 3-3-8-380 ॥ ... 147

ॐ आत्मशब्दाच्च ॐ ॥ 3-3-8-381 ॥ ... 148

आत्मगृहीत्यधिकरणम्॥3-3-9॥ ... 148

ॐ आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॐ ॥ 3-3-9-382 ॥ ... 148

अन्वयाधिकरणम्॥3-3-10॥ ... 148

ॐ अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॐ ॥ 3-3-10-383 ॥ ... 148

कार्याख्यानाधिकरणम्॥3-3-11॥ ... 149

ॐ कार्याख्यानादपूर्वम् ॐ ॥ 3-3-11-384 ॥ ... 149

समानाधिकरणम्॥3-3-12॥ ... 149

ॐ समान एवं चाभेदात् ॐ ॥ 3-3-12-385 ॥ ... 149

ॐ सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॐ ॥ 3-3-12-386 ॥ ... 150

नवाधिकरणम्॥3-3-13॥ ... 150

ॐ न वा विशेषात् ॐ ॥ 3-3-13-387 ॥ ... 150

ॐ दर्शयति च ॐ ॥ 3-3-13-388 ॥ ... 150

सम्भृत्यधिकरणम्॥3-3-14॥ ... 150

ॐ सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॐ ॥ 3-3-14-389 ॥ ... 150

पुरुषाधिकरणम्॥3-3-15॥ ... 151

ॐ पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ॐ॥3-3-15-390॥ ... 151

वेधाधिकरणम्॥3-3-16॥ ... 151

ॐ वेधाध्यर्थभेदात् ॐ ॥ 3-3-16-391 ॥ ... 151

हान्यधिकरणम्॥3-3-17॥ ... 151

ॐ हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछंदस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-17-392 ॥ ... 151

ॐ साम्परायेतर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॐ ॥ 3-3-17-393 ॥ ... 152

छन्दाधिकरणम्॥3-3-18॥ ... 152

ॐ छन्दत उभयाविरोधात् ॐ ॥ 3-3-18-394 ॥ ... 152

ॐ गतेरर्थवत्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॐ ॥ 3-3-18-395 ॥ ... 152

ॐ उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॐ ॥ 3-3-18-396 ॥ ... 153

अनियमाधिकरणम्॥3-3-19॥ ... 153

ॐ अनियमः सर्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्याम् ॐ ॥ 3-3-19-397 ॥ ... 153

यावदधिकरणम्॥3-3-20॥ ... 153

ॐ यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॐ ॥ 3-3-20-398 ॥ 153
ॐ अक्षरधियां त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-20-399 ॥......154
इयदामननाधिकरणम्॥3-3-21॥ 155
ॐ इयदामननात् ॐ ॥ 3-3-21-400 ॥ 155
ॐ अन्तरा भूतग्रामवदिति चेत् तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-21-401 ॥ 155
ॐ अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॐ॥3-3-21-402॥......155
व्यतिहाराधिकरणम्॥3-3-22॥ 156
ॐ व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॐ ॥ 3-3-22-403 ॥......156
सत्याधिकरणम्॥3-3-23॥ 156
ॐ सैव हि सत्यादयः ॐ ॥ 3-3-23-404 ॥......156
कामाधिकरणम्॥3-3-24॥ 156
ॐ कामादितरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॐ ॥ 3-3-24-405 ॥......156
ॐ आदरादलोपः ॐ ॥ 3-3-24-406 ॥ 157
ॐ उपस्थितेस्तद्वचनात् ॐ ॥ 3-3-24-407 ॥ 157
निर्धारणाधिकरणम्॥3-3-25॥......157
ॐ तन्निर्धारणार्थनियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॐ ॥3-3-25-408 ॥......157
प्रदानाधिकरणम्॥3-3-26॥ 158
ॐ प्रदानवदेव हि तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-26-409 ॥ 158
लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्॥3-3-27॥ 158
ॐ लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि ॐ ॥ 3-3-27-410 ॥......158
विकल्पाधिकरणम्॥3-3-28॥......159
ॐ पूर्वविकल्पःप्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॐ 159
॥3-3-28-411 ॥......159
ॐ अतिदेशाच्च ॐ ॥ 3-3-28-412 ॥......159
विद्याधिकरणम्॥3-3-29॥ 159
ॐ विद्यैव तु निर्धारणात् ॐ ॥ 3-3-29-413 ॥......159
ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-3-29-414 ॥ 160
श्रुत्यधिकरणम्॥3-3-30॥......160
ॐ श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॐ ॥ 3-3-30-415 ॥......160
अनुबन्धाधिकरणम्॥3-3-31॥......161
ॐ अनुबन्धादिभ्यः ॐ ॥ 3-3-31-416 ॥......161
प्रज्ञान्तराधिकरणम्॥3-3-32॥ 161
ॐ प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टिश्च तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-32-417 ॥ 161

न सामान्याधिकरणम्॥3-3-33॥ 161
ॐ न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॐ ॥ 3-3-33-418 ॥ 161
परेणाधिकरणम्॥3-3-34॥ 162
ॐ परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः ॐ ॥ 3-3-34-419॥ 162
एकाधिकरणम्॥3-3-35॥ 162
ॐ एक आत्मनः शरीरे भावात् ॐ ॥ 3-3-35-420 ॥........ 162
ॐ व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॐ ॥ 3-3-35-421 ॥........ 163
अङ्गावबद्धाधिकरणम्॥3-3-36॥ 163
ॐ अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॐ ॥ 3-3-36-422 ॥........ 163
ॐ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॐ ॥ 3-3-36-423 ॥........ 163
भूमाधिकरणम्॥3-3-37॥ 164
ॐ भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा च दर्शयति ॐ ॥ 3-3-37-424 ॥........ 164
नानाशब्दाधिकरणम्॥3-3-38॥ 164
ॐ नाना शब्दादिभेदात् ॐ ॥ 3-3-38-425 ॥........ 164
विकल्पाधिकरणम्॥3-3-39॥........ 165
ॐ विकल्पो विशिष्टफलत्वात् ॐ ॥ 3-3-39-426 ॥........ 165
कामाधिकरणम्॥3-3-40॥ 165
ॐ काम्यास्तुयथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॐ ॥ 3-3-40-427 ॥ 165
अङ्गाधिकरणम्॥3-3-41॥ 165
ॐ अङ्गेषु यथाऽऽश्रयाभावः ॐ ॥ 3-3-41-428 ॥ 165
ॐ शिष्टेश्च ॐ ॥ 3-3-41-429 ॥........ 166
ॐ समाहारात् ॐ ॥ 3-3-41-430 ॥........ 166
ॐ गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॐ ॥ 3-3-41-431 ॥ 166
नवाधिकरणम्॥3-3-42॥ 166
ॐ न वाऽतत्सहभावश्रुतेः ॐ ॥ 3-3-42-432 ॥........ 166
ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-4-1-433 ॥........ 166
अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥3-4॥ 167
पुरुषार्थाधिकरणम्॥3-4-1॥........ 167
ॐ पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॐ ॥ 3-4-1-434 ॥ 167
ॐ शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॐ॥ 3-4-1-435 ॥ 167
ॐ आचारदर्शनाच्च ॐ ॥ 3-4-1-436 ॥ 167
ॐ तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 3-4-1-437 ॥........ 168

ॐ समन्वारम्भणात् ॐ ॥ 3-4-1-438 ॥ 168
ॐ तद्वतो विधानात् ॐ ॥ 3-4-1-439 ॥ 168
ॐ नियमाच्च ॐ ॥ 3-4-1-440 ॥....................168
ॐ अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॐ॥ 3-4-1-441॥....................168
ॐ तुल्यम् तु दर्शनम् ॐ ॥ 3-4-1-442 ॥ 169
असार्वत्रिकाधिकरणम्॥3-4-2॥ 169
ॐ असार्वत्रिकी ॐ ॥ 3-4-2-443 ॥....................169
ॐ विभागः शतवत् ॐ ॥ 3-4-2-444 ॥ 169
ॐ अध्ययनमात्रवतः ॐ ॥ 3-4-2-445 ॥ 170
अविशेषाधिकरणम्॥3-4-3॥ 170
ॐ नाविशेषात् ॐ ॥ 3-4-3-446 ॥ 170
स्तुत्यधिकरणम्॥3-4-4॥ 170
ॐ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॐ ॥ 3-4-4-447 ॥ 170
ॐ कामकारेण चैके ॐ ॥ 3-4-4-448 ॥ 171
ॐ उपमर्दं च ॐ ॥ 3-4-4-449 ॥ 171
ॐ ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॐ ॥ 3-4-4-450 ॥....................171
ॐ परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॐ ॥ 3-4-4-451 ॥ 171
ॐ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॐ ॥ 3-4-4-452 ॥....................172
ॐ विधिर्वा धारणवत् ॐ ॥ 3-4-4-453 ॥....................172
ॐ स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॐ॥3-4-4-454 ॥....................172
ॐ भावशब्दाच्च ॐ ॥ 3-4-4-455 ॥....................172
ॐ पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॐ ॥ 3-4-4-456 ॥....................173
ॐ तथा चैकवाक्योपबन्धात् ॐ ॥ 3-4-4-457 ॥ 173
ॐ अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॐ ॥ 3-4-4-458 ॥....................173
ॐ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॐ ॥ 3-4-4-459 ॥ 173
ॐ शमदमाद्युपेतः स्यात् तथाऽपितु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॐ ॥ 3-4-4-460 ॥....................174
ॐ सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॐ ॥ 3-4-4-461 ॥....................174
ॐ अबाधाच्च ॐ ॥ 3-4-4-462 ॥....................174
ॐ अपि स्मर्यते ॐ ॥ 3-4-4-463 ॥....................175
ॐ शब्दश्चातोऽकामचारे ॐ॥ 3-4-4-464 ॥ 175
ॐ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॐ ॥ 3-4-4-465 ॥ 175
ॐ सहकारित्वेन च ॐ ॥ 3-4-4-466 ॥ 175

उभयलिङ्गाधिकरणम्॥3-4-5॥ 175

ॐ सर्वथाऽपितु त एवोभयलिङ्गात् ॐ ॥ 3-4-5-467 ॥........ 175

ॐ अनभिभवं च दर्शयति ॐ ॥ 3-4-5-468 ॥........ 176

ॐ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॐ ॥ 3-4-5-469 ॥ 176

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ॥ 3-4-5-470 ॥........ 176

ॐ विशेषानुग्रहं च ॐ ॥ 3-4-5-471 ॥ 177

ॐ अतस्त्वितरज्ज्यायोलिङ्गाच्च ॐ ॥ 3-4-5-472 ॥........ 177

ॐ तद्भूतस्य तु तद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॐ ॥ 3-4-5-473 ॥ 177

अधिकारिकाधिकरणम्॥3-4-6॥ 177

ॐ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॐ॥3-4-6-4॥........ 177

ॐ उपपूर्वमपीत्येके भावशमनवत् तदुक्तम् ॐ॥3-4-6-475 ॥........ 178

ॐ बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॐ ॥ 3-4-6-476 ॥ 178

फलश्रुत्यधिकरणम्॥3-4-7॥ 179

ॐ स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॐ ॥ 3-4-7-477 ॥ 179

ॐ आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॐ ॥ 3-4-7-478 ॥ 179

ॐ सहकार्यन्तरविधिःपक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॐ ॥ 3-4-7-479 ॥........ 180

कृत्स्नभावाधिकरणम्॥3-4-8॥ 180

ॐ कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ॐ ॥ 3-4-8-480 ॥ 180

ॐ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॐ ॥ 3-4-8-481 ॥........ 181

अन्वयाधिकरणम्॥3-4-9॥ 181

ॐ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॐ ॥ 3-4-9-482 ॥ 181

ऐहिकाधिकरणम्॥3-4-10॥........ 181

ॐ ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॐ ॥ 3-4-10-483 ॥........ 181

मुक्तिफलाधिकरणम्॥3-4-11॥........ 181

ॐ एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॐ ॥ 3-4-11-484 ॥ 181

अथ चतुर्थोध्यायः ॥4॥ 182

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥4-1॥ 182

आवृत्त्यधिकरणम्॥4-1-1॥........ 182

ॐ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॐ ॥ 4-1-1-485 ॥ 182

ॐ लिङ्गाच्च ॐ ॥ 4-1-1-486 ॥........ 182

आत्माधिकरणम्॥4-1-2॥ 182

ॐ आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॐ ॥ 4-1-2-487 ॥ 182

न प्रतीकाधिकरणम्॥4-1-3॥ 183
ॐ न प्रतीके न हि सः ॐ ॥ 4-1-3-488 ॥ 183
ब्रह्माधिकरणम्॥4-1-4॥ 183
ॐ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॐ ॥ 4-1-4-489 ॥ 183
आदित्याधिकरणम्॥4-1-5॥ 184
ॐ आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॐ ॥ 4-1-5-490 ॥ 184
आसीनाधिकरणम्॥4-1-6॥ 184
ॐ आसीनः सम्भवात् ॐ ॥ 4-1-6-491 ॥ 184
ॐ ध्यानाच्च ॐ ॥ 4-1-6-492 ॥ 184
ॐ अचलत्वं चापेक्ष्य ॐ ॥ 4-1-6-493 ॥ 184
ॐ स्मरन्ति च ॐ ॥ 4-1-6-494 ॥ 185
ॐ यत्रैकाग्रता तत्रा विशेषात् ॐ ॥ 4-1-6-495 ॥ 185
अप्रायणाधिकरणम्॥4-1-7॥ 185
ॐ आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॐ ॥ 4-1-7-496 ॥ 185
तदधिगमाधिकरणम्॥4-1-8॥ 185
ॐ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॐ ॥4-1-8-497 ॥ 185
ॐ इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॐ ॥ 4-1-8-498 ॥ 186
ॐ अनारब्दकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॐ ॥ 4-1-8-499 ॥....186
ॐ अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॐ....187
॥4-1-8-500 ॥....187
ॐ अतोऽन्यदपीत्येकेषामुभयोः ॐ ॥ 4-1-8-501 ॥ 187
ॐ यदेव विद्ययेति हि ॐ ॥ 4-1-8-502 ॥....187
ॐ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पत्स्यते ॐ ॥4-1-8-503 ॥ 188
इति श्रीराघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः सम्पूर्णः श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥ 188
अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः....188
वाङ्मनसाधिकरणम्॥4-2-1॥....188
ॐ वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॐ ॥ 4-2-1-504 ॥....188
ॐ अत एव च सर्वाण्यनु ॐ ॥ 4-2-1-505 ॥ 189
मनःप्राणाधिकरणम्॥4-2-2॥ 189
ॐ तन्मनः प्राण उत्तरात् ॐ ॥ 4-2-2-506 ॥....189
अध्यक्षाधिकरणम्॥4-2-3॥....189
ॐ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॐ ॥ 4-2-3-507 ॥ 189

भूताधिकरणम्॥4-2-4॥ 190
ॐ भूतेषु तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 4-2-4-508 ॥ 190
नैकस्मिन्नधिकरणम्॥4-2-5॥ 190
ॐ नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॐ ॥ 4-2-5-509 ॥ 190
समनाधिकरणम्॥4-2-6॥ 190
ॐ समना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॐ॥4-2-6-510॥ 190
ॐ तदपीतेः संसारव्यपदेशात् ॐ ॥ 4-2-6-511 ॥ 191
ॐ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्देः ॐ ॥ 4-2-6-512 ॥ 191
ॐ नोपमर्देनातः ॐ ॥ 4-2-6-513 ॥ 192
ॐ अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॐ ॥ 4-2-6-514 ॥ 192
ॐ प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॐ ॥ 4-2-6-515 ॥ 192
ॐ स्पष्टो ह्येकेषाम् ॐ ॥ 4-2-6-516 ॥ 192
ॐ स्मर्यते च ॐ ॥ 4-2-6-517 ॥ 192
पराधिकरणम्॥4-2-7॥ 193
ॐ तानि परे तथा ह्याह ॐ ॥ 4-2-7-518 ॥ 193
अविभागाधिकरणम्॥4-2-8॥ 193
ॐ अविभागो वचनात् ॐ ॥ 4-2-8-519 ॥ 193
तदोकोऽधिकरणम्॥4-2-9॥ 193
ॐ तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॐ ॥ 4-2-9-520 ॥ 193
ॐ रश्म्यनुसारी ॐ ॥ 4-2-9-521 ॥ 194
ॐ निशि नेति चेन्न सम्बन्धात् ॐ ॥ 4-2-9-522 ॥ 194
ॐ यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॐ ॥ 4-2-9-523 ॥ 194
ॐ अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे ॐ ॥ 4-2-9-524 ॥ 195
योग्यधिकरणम्॥4-2-10॥ 195
ॐ योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॐ ॥ 4-2-10-525 ॥ 195

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥4-3॥ 195

अर्चिराद्यधिकरणम्॥4-3-1॥ 195
ॐ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॐ ॥ 4-3-1-526 ॥ 195
वायुशब्दाधिकरणम्॥4-3-2॥ 196
ॐ वायुशब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॐ ॥ 4-3-2-527 ॥ 196
तटिदधिकरणम्॥4-3-3॥ 196
ॐ तटितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॐ ॥ 4-3-3-528 ॥ 196

आतिवाहिकाधिकरणम्॥4-3-4॥ 196
ॐ आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात् ॐ ॥ 4-3-4-529 ॥ 196
ॐ उभयव्यामोहत् तत्सिद्धेः ॐ॥ 4-3-4-530 ॥ 196
वैद्युताधिकरणम्॥4-3-5॥ 197
ॐ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 4-3-5-531 ॥ 197
कार्याधिकरणम्॥4-3-6॥ 197
ॐ कार्यं बादरिरस्यगत्युपपत्तेः ॐ ॥ 4-3-6-532 ॥ 197
ॐ विशेषितत्वाच्च ॐ ॥ 4-3-6-533 ॥ 197
ॐ सामीप्यात्तुतद्व्यपदेशः ॐ ॥ 4-3-6-534 ॥ 198
ॐ कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॐ ॥4-3-6-535 ॥ 198
ॐ स्मृतेश्च ॐ ॥ 4-3-6-536 ॥ 198
ॐ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॐ ॥ 4-3-6-537 ॥ 198
ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 4-3-6-538 ॥ 198
ॐ न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॐ ॥ 4-3-6-539 ॥ 199
ॐ अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात् तत्क्रतुश्च ॐ ॥ 4-3-6-540 ॥ 199
ॐ विशेषं च दर्शयति ॐ ॥ 4-3-6-541 ॥ 199
अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥4-4॥ 200
सम्पद्याधिकरणम्॥4-4-1॥ 200
ॐ सम्पद्याविहाय स्वेन शब्दात् ॐ ॥ 4-4-1-542 ॥ 200
मुक्ताधिकरणम्॥4-4-2॥ 200
ॐ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॐ ॥ 4-4-2-543 ॥ 200
आत्माधिकरणम्॥4-4-3॥ 200
ॐ आत्मा प्रकरणात् ॐ ॥ 4-4-3-544 ॥ 200
अविभागाधिकरणम्॥4-4-4॥ 201
ॐ अविभागेन दृष्टत्वात् ॐ ॥ 4-4-4-545 ॥ 201
ब्राह्माधिकरणम्॥4-4-5॥ 201
ॐ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॐ ॥ 4-4-5-546 ॥ 201
ॐ चितिमात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॐ ॥ 4-4-5-547 ॥ 201
ॐ एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॐ ॥4-4-5-548॥ 201
सङ्कल्पाधिकरणम्॥4-4-6॥ 202
ॐ सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 4-4-6-549 ॥ 202
अनन्याधिपत्यधिकरणम्॥4-4-7॥ 202

ॐ अत एव चानन्याधिपतिः ॐ ॥ 4-4-7-550 ॥ 202

अभावाधिकरणम्॥4-4-8॥ 202

ॐ अभावं बादरिराह ह्येवम् ॐ ॥ 4-4-8-551 ॥ 202

ॐ भावं जैमिनिर्विकल्पाम्नानात् ॐ ॥ 4-4-8-552 ॥ 203

ॐ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॐ ॥ 4-4-8-553 ॥ 203

ॐ तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॐ ॥ 4-4-8-554 ॥ 203

ॐ भावे जाग्रद्वत् ॐ ॥ 4-4-8-555 ॥ 203

ॐ प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॐ ॥ 4-4-8-556 ॥ 204

ॐ स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॐ ॥4-4-8-557॥ 204

जगद्व्यापाराधिकरणम्॥4-4-9॥ 204

ॐ जगद्व्यापारवर्जम् ॐ ॥ 4-4-9-558 ॥ 204

ॐ प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॐ ॥ 4-4-9-559 ॥ 205

ॐ प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॐ ॥4-4-9-560॥ 205

ॐ विकारावर्ति च तथाहि दर्शयति ॐ ॥ 4-4-9-561 ॥ 205

स्थित्यधिकरणम्॥4-4-10॥ 205

ॐ स्थितिमाह दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॐ ॥ 4-4-10-562 ॥ 205

ॐ भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॐ ॥ 4-4-11-563 ॥ 206

अनावृत्त्यधिकरणम्॥4-4-11॥ 206

ॐ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॐ ॥ 4-4-12-564 ॥ 206

तन्त्रदीपिका

प्रथमाद्यायः (समन्वयाध्यायः) ॥1 ॥

प्रणम्यगुणसम्पूर्णं दोषातीतं रमापतिम्।

पूर्णबोधं गुरूनन्यान् कुर्मः सूत्रार्थसङ्ग्रहम् ॥1 ॥

गुरुपादकृतोऽप्यस्ति सङ्ग्रहो हृदयङ्गमः।

प्रस्थानबेधप्रोक्तार्थसङ्ग्रहोऽथाप्ययं मम ॥2 ॥

ब्रह्मरुद्रादिभिः ज्ञानार्थं अर्थितो नारायणः वासत्वेन अवतीर्य –उत्सन्नान् वेदान् अभिव्यक्तिपूर्वकं अनेकधा विभज्य तदर्थनिर्णयाय ब्रह्मासूत्राणि व्यातेने॥ तत्रेतमादिमं सूत्रम् ।

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥1-1 ॥

जिज्ञासाधिकरणम्॥ 1-1-1॥

ॐ ॐ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॐ ॥1-1-1-1॥

अत्र नये चतुरध्यायात्मकैतच्छास्त्रस्य आरम्भणीयत्वोपयुक्ततया जिज्ञासा कर्तव्यं समर्थते।

अत्र आद्यन्तयोः ॐकारः ‘स्रवत्यनोङ्कृतं ब्रह्म परस्ताच्च विशीर्यते’ इति श्रुतिसिद्धः। आद्यः दृष्टादृष्टार्थः। अत एव एतत्सूत्रावयवत्वात् ।

सर्वसूत्रेषु अनुषङ्गः न स्यात् इति सर्वसूत्रेषु अदृष्टमात्रार्थतयाऽऽदौ अनुषङ्गाय असंहिततया पठ्यते। अन्त्यः अदृष्टमात्रार्थः। न सूत्रावयवः। अन्वयप्रतियोग्यसमर्पक इति यावत्। ओङ्काराथशब्दौ मङ्गलफलकौ क्रमात् गुणपूर्त्यानन्तर्यवाचकौ। ओमित्येतत् योग्यतया जिज्ञासागुणभूतब्रह्मविशेषणम्। अथेति योग्यतया अधिकारात् इत्यन्वेति। अत इति ‘यस्य प्रसादात्’ इत्यादि निर्णयश्रुत्यादिस्थं फलादिपरामृश्यते। ब्रह्मशब्दः गुणपूर्त्यर्थः सन् चिदचिद्विलक्षणविष्णुवाची। ‘स विष्णुराह हि तं ब्रह्मेत्याचक्षते’ इत्युक्तेः। ब्रह्मणो जिज्ञासा इति कर्मणि षष्ठ्या समासः। ततश्च, अथ अध्ययनशमदमादिरूपाधिकारसम्पत्त्यनन्तरं, अतः अकारवाच्यात् प्रसन्नात् ब्रह्मणः, ज्ञानोत्थप्रसादजमोक्षाख्यफलसत्त्वात्, बन्धस्य सत्यत्वात्, आगमस्य प्रामाण्यात्, सिद्धार्थप्रमापकत्वात् वा। ॐ ब्रह्मणो गुणपरिपूर्णस्य विष्णोः जिज्ञासा कर्तव्या इति शेषः।

ब्रह्मज्ञानाय सर्ववेदविषयकश्रवणमनननिदिध्यासनरूपा मननमात्ररूपा वा ॥ 'तद्विजिज्ञसस्व' इत्यादि श्रुत्युक्ता कर्तव्या इत्यर्थः।

ॐ ब्रह्मशब्दयोः यौगिकत्वेऽपि एकस्य रूढत्वमाश्रित्य विशेषवाचित्वेन 'आत्मेति तूपगच्छन्ति' इत्यत्रेवान्वयो बोध्यः।

ब्रह्मशब्दात् विषयसिद्धावपि ॐ इत्युक्तिः न केवलं ब्रह्मशब्दात् विषयसिद्धिः 'ओमित्येतदक्षरं उद्गीथं उपासीत' इत्यादौ गुणपूर्णार्थोङ्कारादपि इति युक्त्यन्तरसूचनाय। ब्रह्मणि किं मानं इत्यतः वेदरूपप्रमाणसूचनाय च। ओङ्कारवाच्यस्य ब्रह्मणः इत्युक्त्या व्याहृतिगायत्रिपुरुषसूक्तद्वारा सर्ववेदानां तद्व्याख्यानत्वात् वेदा एव तत्र मानमिति सिद्धेरिति भावः। तेन ब्रह्मणः प्रमितत्वेऽनुग्राह्यप्रमाणाभावात् जिज्ञासा न कर्तव्या इति न शङ्क्यम्।

गुरुपादास्तु ब्रह्म किं इत्यतः ॐ इत्युक्तम्। रक्षकस्य इत्यर्थः। अवतिरूपत्वात्। रक्षकश्च विष्णु प्रसिद्ध इत्याहुः॥

विभाषा गुण इति गुणशब्दस्य परतन्त्रमात्रार्थकत्वोक्तेः अत इति साधु। कृद्योगलक्षणा च षष्ठी समस्यत इत्युक्तेः ब्रह्मजिज्ञासा इति साधु। कर्तुः अनुपदानात् न उभयप्राप्तौ कर्मणीति षष्ठी। तेन कर्मणि च इति न निषेधः। पूर्वेणाध्यायद्वयेन ब्रह्मशब्दार्थस्य उत्तरेण च साधनफलयोः उपपादानात् ब्रह्मणः अथ जिज्ञासा इति वाच्ये अथात इत्यादि अथातः शब्दयोः स्वरूपतः अर्थतश्च आधिक्यादिति सूचनाय। अत्र अथातो ब्रह्मपदानि क्रमात् निरधिकारिकत्वनिष्फलत्वनिर्विषयत्वःशङ्काव्युदासकानि॥ 1 ॥

जन्माधिकरणम् ॥1-1-2॥

ॐ जन्माद्यस्य यतः ॐ ॥1-1-2-2 ॥

अत्र नये जिज्ञास्यब्रह्मणोलक्षणमुच्यते। यत इत्युक्तेः तदिति लभ्यते। जन्म आदिः यस्य स्थितिलयनियमनज्ञानाज्ञानबन्धमोक्षजातस्य तत् जन्मादि। अस्य प्रमितस्य चिदचिदात्मकस्य विश्वस्य जन्मादि यतः समासव्यासाभ्यां यथायोग्यं भवति तत् जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्यर्थः। सृष्टिहेतुत्वादीनि प्रत्येकं अष्टौ लक्षणानि वैभवादुक्तानीति बोध्यम्। लब्धजन्मनः स्थित्यादीति जन्मनः आदित्वोक्तिः । चिद्गतसुखादीनां अचिद्गतवृद्ध्यादीनां च सत्त्वेऽपि विचारविधायकेषु 'यतो वा' इत्यादि नानावाक्येषु 'उत्पत्तिस्थिति' इत्यादि स्मृतौ च सृष्ट्याद्यष्टकर्तृत्वस्यैव लक्षणत्वेन उक्तत्वात्

'सृष्टिरक्षाहृतिज्ञान' इत्याद्युक्त्या विशिष्य सृष्ट्याद्यष्टकर्तृत्वस्यैव मुमुक्षुज्ञेयत्वादष्टकस्यैव ग्रहणम्। अस्येति चिदचितोरिव तत्सम्बन्धि ज्ञानादेरपि नियमनसिद्धिः ॥2॥

शास्त्रयोन्यधिकरणम्॥1-1-3॥

ॐ शास्त्रयोनित्वात् ॐ ॥1-1-3-3 ॥

अत्र नये प्रागुक्तलक्षणस्य अतिव्याप्तिनिरासाय प्राणमुच्यते। तस्य जन्मादिकारणस्य इति वर्तते। शास्त्रं वेदः तदनुसारिपौरुषेयग्रन्थश्च योनिः ज्ञप्तिकारणं प्रमाणं इति यावत् यस्य तत् शास्त्रयोनि। तस्य भावः तत्त्वं तस्मादित्यर्थः। अनुमानेन पाशुपतादिना वा न जन्मादिकारणं ज्ञेयमिति नातिव्याप्तिः इति भावः। वेदयोनित्वात् इति वाच्ये शास्त्र इत्युक्तिः 'ऋग्यजुःसामाथर्वाश्च' इति स्मृत्युक्तशास्त्रग्रहणाय। तेन अनुमानं 'नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्' इत्युक्तपाशुपताद्यशास्त्रं च व्यावर्तितम्। 'मानत्वात्' इति वाच्ये 'योनित्वात्' इत्युक्तिः मानत्वोपपादनाय। शास्त्रपदलभ्यभ्रान्त्यहेतुताकस्यज्ञप्तिहेतोः मानताध्रौव्यात्। ऋगादेः अनादित्वादिना निर्दोषत्वेन शास्त्र इत्युक्त्या भ्रान्त्यहेतुत्वलाभात्। अस्य स्मृतिनयात् आगतार्थता चिन्द्रिकायां बोध्या ॥3॥

समन्वयाधिकरणम् ॥1-1-4॥

ॐ तत्तु समन्वयात् ॐ ॥1-1-4-4॥

अत्र नये पुनरतिव्याप्तिनिरासाय विष्णोरेव जगत्कारणत्वेन शास्त्रयोनित्वं समर्थ्यते। शास्त्रयोनीति वर्तते। समित्येतत् शास्त्रपदेनापि अन्वेति। तस्य कात्स्न्र्यं मुख्यत्वं चार्थः। तुरेव। अन्वीयन्ते शक्तितात्पर्यगोचरेण सम्बन्ध्यन्ते तथा ज्ञायन्त इति यावत् वाक्यान्यनेन इति अन्वय उपक्रमादिलिङ्गसङ्घः। सबलाबलत्वादिना विचिन्तितश्चासौ अन्वयश्च तस्मात् उपक्रमादिलिङ्गसमुदायात् मुख्यया वृत्त्या कृत्स्नशास्त्रयोनिः कृत्स्नशास्त्रतात्पर्यविषयः तत्तुतदेव प्रकृत विष्ण्वाख्यं ब्रह्मैव इत्यर्थः। उपक्रमादेरिति वाच्ये अन्वयादिति यौगिकोक्त्या न शास्त्रतात्पर्यज्ञप्तौ आपात प्रतीतिः उपक्रमाद्यनपेक्षव्याख्यातृवचनं वा लिङ्गमिति सूचितम्। तेन न ताभ्यां अन्येषां जगद्धेतुत्वं कल्प्यमिति भावः। समन्वयैरिति वाच्ये सुमुदायबुद्ध्या अन्वयात् इत्युक्तिस्तु उपक्रमादीनां अविरोधसूचनार्था। उपक्रमादेः तात्पर्यव्यभिचारनिरासाय समित्युक्तिः। जन्मादिसूत्रप्रकृततत्पदे मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तमानेऽपि पुनः तद् ग्रहणं अवधारणार्थ 'तु' शब्दान्वयार्थम्। अन्यथा अन्वयपदस्य उपक्रमादीनां लिङ्गत्वोक्तावेव चारितार्थ्यात् प्रतीति व्याख्यानानिरासकतया तन्निरासार्थत्वेन श्रुतेन समन्वयात् इत्यनेनैव अन्वीयेत। 'अज्ञनगमां सनी' इत्यादौ अज् ग्रहणस्य

अङ्गेनेव अत्रापि समस्तस्यापि संशब्दस्य अन्यावयो बोध्यः। सुधायां तु उपक्रमादिलिङ्गनिर्णीतात् समन्वयात् सम्यग् वचनवृत्त्या तत्परत्वरूपसम्बन्धात् तदेव शास्त्रयोनि शास्त्रजन्यप्रमाविषय इति वृत्त्यन्तरं च उक्तम् ॥4॥

ईक्षत्यधिकरणम्॥1-1-5॥

ॐ ईक्षतेर्नाशब्दम् ॐ ॥1-1-5-5 ॥

अत्र नये संशब्दोक्तवाच्यत्वं सर्वशास्त्रयोनित्वं च समर्थ्यते।

तदिति वर्तते । न विद्यते शब्दः वाचकः यस्य तदशब्दं अवाच्यम्। ईक्षतेरिति धातुनिर्देशेन तदर्थः ईक्षणं लक्ष्यते। तस्य च असम्बद्धस्य अहेतुत्वात् सम्बन्धस्य च कर्तृत्वादिरूपस्य श्रुत्यननुगमेन विपक्षे बाधकाभावप्रसङ्गेन च अयोगात् क्रियाकर्मभावस्यैव सिद्धिः। ईक्षतेः ईक्षणीयत्वात् तद् ब्रह्म अशब्दं न किन्तु वाच्यमेव इत्यर्थः। न च असिद्धो हेतुः। 'पुरिशयं पुरुषं ईक्षते' इति श्रुतेः। न चाप्रयोजकत्वम्। अक्षानुमानावेद्यस्य शब्दात् ईक्षणं वचनवृत्तिमन्तरा न युक्तमिति तात्पर्यात्। न अशब्दं ईक्षतेरिति वाच्ये ईक्षतेरित्याद्युक्तिरनियमसूचनार्था। 'आमनन्ति', 'कस्मात् उच्यते ब्रह्मे'ति वाच्यत्वश्रुत्यादिसत्त्वेऽपि तस्य अवाच्यत्वश्रुत्यादिना प्रतिरुद्धत्वेन अनिर्णायकत्वाच्छब्दात् नाशब्दं इत्यनुक्त्वा तदनुग्राहकन्याय एव ईक्षणीयत्वमुक्तम्। तेन श्रुतिप्राप्तं युक्तिमात्रात् कथं निरस्यमिति प्रत्युक्तम्। अवाच्यमिति वाच्ये अशब्दमित्युक्तिः अशब्दमस्पर्शमिति श्रुत्यनुगमाय।ईक्षतेर्वाच्यमिति वाच्ये अशब्दं नेत्युक्तिः वाच्यत्वविधिः अवाच्यत्वनिरासश्च श्रुत्यर्थाभ्यां कृतो यथा स्यादिति।उक्तमाक्षिप्य समाधत्ते

ॐ गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॐ ॥1-1-5-6 ॥

पुरुषमीक्षत इत्यादौ ईक्षणीयः त्रिगुणबद्धो जीवः न विष्णुः अत ईक्षणीयत्वं तत्र असिद्धमिति चेन्न। आत्मानं पश्येदित्यादौ ईक्षणीये आत्मप्रदश्रवणात्। उपलक्षणमेतत् । पुरुषब्रह्मादिशब्दादित्यर्थः।प्राक् तदित्यन्वयाय अशब्दमित्युक्तावपि इह आत्मपदान्वयाय गौण इति पुं - निर्देशः॥

ननु तथापि जीवः किं न इत्यतः आह—

ॐ तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॐ ॥1-1-5-7 ॥

तन्निष्ठस्य आत्मनिष्ठस्य। 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा, तस्य लोकः स उ लोक एव' इति मोक्षोपदेशात् न गौणः आत्मशब्देनोक्त इत्यर्थः। गौणज्ञानात् गुणनिवृत्तिरूपमुक्त्ययोगादिति भावः। अत एव प्राग् जीव इति वाच्ये गौण इत्युक्तिः।

इतश्च न गौणस्तस्थेत्याह—

ॐ हेयत्वावचनाच्च ॐ ॥1-1-5-8 ॥

'तमेवैकं जानथ आत्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति आत्मशब्दार्थस्य हेयत्वावचनात् प्रत्युताहेयत्ववचनात् अन्यस्य हेयत्ववचनाच्चेत्यर्थः। सुधायां तु गौणशब्दस्य मायाशबलब्रह्मपरत्वमुपेत्य सूत्रत्रयं व्याख्यातम्। तत्त्वप्रदीप-सन्न्यायरत्नावल्योस्तु न केवलमात्मशब्दादिबलादीक्षणीयो न गौणः। किन्तु तन्निष्ठस्येत्यादिसूत्रद्वयोक्तहेतुभ्यामपीति तन्निष्ठस्येत्यादिसूत्रद्वयमन्यथा व्याख्यातम्।

इतश्च निर्गुणो वाच्य इत्याह—

ॐ स्वाप्ययात् ॐ ॥1-1-5-9 ॥

नाशब्दमिति वर्तते। निर्गुणमिति च प्रकृतम्। 'आत्मन्येवात्मानं विलापयति' इति श्रुत्युक्तत्वाच्च निर्गुणं ब्रह्म नाशब्दं किन्तु वाच्यमेवेति बहिरेव योज्यम्। कुतोऽयं श्रुत्युक्तो निर्गुण इति चेत् स्वाप्ययात्। स्वेति तन्त्रम्। स्वस्य स्वस्मिन् अप्ययवचनादिति योज्यम् । एवं च स स्वाप्ययाच्चेति स्यादिति नाशङ्क्यम्।

शाखान्तरेषु रुद्रादि जगद्धेतुत्वेन उच्यतामित्यतः सर्वशास्त्रयोनित्वं विष्णोरेवेत्याह—

ॐ गतिसामान्यात् ॐ ॥1-1-5-10 ॥

तत्तु शास्त्रयोनीति वर्तते। गतेः सर्वशाखोत्पाद्यज्ञानस्य सामान्यात् समानत्वात् एकरूपत्वश्रवणात् 'सर्वे वेद युक्तयः' इत्यादौ तदेव विष्ण्वाख्यं ब्रह्मैव कारणत्वेन सर्वशास्त्रयोनि न त्वन्यत्र अन्यथा उच्यत इत्यर्थः।

वृत्त्यन्तरं तु गतिसामान्यात् गतिसामान्यानुमानात् इति। सूत्रकृन्निर्णीतशाखादृष्टान्तेन शाखात्वेन हेतुना शाखान्तरेऽप्येतदनुमानादित्यर्थः। चन्द्रिकायां तु आत्मशब्दमोक्षोपदेशहेयत्वानुक्तिस्वाप्ययाः शाखान्तरे गौणात्मन्यपि स्युरित्यवतार्य गतः सर्वत्रैकरूप्यमेवेत्यप्यर्थ उक्तः।

इतश्चनिर्गुणं ब्रह्मवाच्यमित्याह—

ॐ श्रुतत्वाच्च ॐ ॥1-1-5-11 ॥

तत् नाशब्दमिति वर्तते। निर्गुणस्येति प्रकृतम्। केवलो निर्गुणश्च इति सत्त्वादिगुणहीनस्य श्रुतत्वाच्च तत् नाशब्दमित्यर्थः। लक्षणया श्रुतत्वस्य अनवस्थादुःस्थत्वादिति भावः ॥5 ॥

प्रतिज्ञातं समन्वयं प्रकटयत्यध्यायशेषेण। अन्यत्रोभयत्रान्यत्रैवप्रसिद्धभेदात् त्रिविधवैदिकशब्दानां नामलिङ्गभेदेन प्रत्येकं द्वैविध्यात् आद्यपादे अन्यत्रप्रसिद्धानां नामात्मकशब्दानां समन्वय उच्यते॥2॥

आनन्दमयाधिकरणम्॥1-1-6॥

ॐ आनन्दमयोऽभ्यासात् ॐ ॥1-1-6-12 ॥

अत्र नये गुणिसामान्यवाचका गुणवाचकाश्चनामात्मकाः शब्दाः समन्वीयन्ते।तत्त्विति अध्यायपरिसमाप्ति साध्यार्पकतया प्रतिनयं प्रायेण अनुवर्तते। आनन्दमय इत्युपलक्षणम्। तैत्तिरीये श्रुता आनन्दमयादयः पञ्च तत्तु तदेव ब्रह्मैव। आनन्दमयादिशब्दवाच्यं ब्रह्मैव इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि प्रतिनयमर्थो ध्येयः। कुतः अभ्यासात् । अत्र अभ्यासशब्देन तदेकदेशोऽसकृदुक्तिमात्रं गृह्यते। प्रतिप्रकरणं 'येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इत्यादिरूपेण ब्रह्मशब्दश्रवणादित्यर्थः। यद्वा 'अन्योऽन्तर आत्मा', 'एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रामिति', 'एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य' इति प्रतिप्रकरणं त्रिः श्रवणादात्मशब्दाभ्यासादित्यर्थः। यद्वा 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्युत्तरानुवाके ब्रह्मशब्दसत्त्वात् द्विः श्रवणेन ब्रह्मशब्दाभ्यासादेवेत्यर्थः॥उत्तरं कल्पद्वयं चन्द्रिकोक्तम्। श्रुतौ अन्नमयस्यादित्वेऽप्यानन्दमयस्येतरोपलक्षकत्वेनोक्तिः जिज्ञासाक्षेपकावयवत्वादिपूर्वपक्षहेतोः सत्त्वात् सर्वापेक्षितानन्दवाचित्वाच्च। आद्यकल्पे ब्रह्मशब्दादिति वाच्येऽभ्यासादित्युक्तिर्विज्ञानानन्दमययोः सोऽप्यस्तीति सूचनाय॥

उक्तमाक्षिप्य समाधत्ते—

ॐ विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॐ ॥1-1-6-13 ॥

विकारार्थक मयड्शब्दादन्नमयादिर्न ब्रह्मेति चेन्न। प्राचुर्यात् प्राचुर्यार्थत्वादत्र मयड्शब्दजातस्येत्यर्थः। शब्दादिति समुदायाभिप्रायम्। विकारेति प्राचुर्यादिति च बाधकान्तरतत्समाध्योरुपलक्षणम्। समन्वयेशब्दगतत्वादस्य स्वशब्देनोक्तिः॥

आनन्दमयमात्रस्य ब्रह्मत्वे मयटः प्राचुर्यार्थत्वे च हेत्वन्तरमाह—

ॐ तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-1-6-14 ॥

आनन्दमयस्तत्त्विति वर्तते। मयट् प्राचुर्यार्थ इति च। तस्य विष्णोस्तत्र पूर्णानन्दत्वे 'को ह्येवान्यात्' इति लोकचेष्टकत्वाख्यहेतुव्यपदेशादित्यर्थः। सौत्रं तदिति पदं तन्त्रम्। यदि आनन्दमयो न ब्रह्म, मयट् च न प्राचुर्यार्थः तदा आकाशाख्यविष्णोः पूर्णानन्दत्वे हेतुं न ब्रूयादिति भावः॥

इतश्च आनन्दमयादयः पञ्चापि ब्रह्मेत्याः—

ॐ मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॐ ॥1-1-6-15 ॥

आनन्दमयादिब्रह्मेति वर्तते। चो यत इत्यर्थे। किं चेति समुच्चये वा। मन्त्रवर्णः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' इति वेदः तेन प्रोक्तं मान्त्रवर्णिकम्। मन्त्रवर्णेन लक्षणवत्तयोक्तं परं ब्रह्मैव अन्नमयादिशब्दपञ्चकेन गीयते। यतोऽतश्च पञ्चापि ब्रह्मैवेत्यर्थः। सत्यज्ञानानन्तपदानां अन्नमयादिशब्दानां च अर्थानुसन्धाने एकार्थत्वप्रतीतेरिति भावः।

एतेन अभ्यासादित्युक्तब्रह्मशब्दोऽमुख्य इति निरस्तम्। मान्त्रवर्णिकपरब्रह्मण एवात्र गानादिति॥

विरिञ्चादिरेव किं नेत्यत आह—

ॐ नेतरोऽनुपपत्तेः ॐ ॥1-1-6-16 ॥

आनन्दमयादिरिति वर्तते। इतरस्तदितरो विष्णिवतरश्चतुर्मुखादिर्न भवति। कुतः? 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्युक्तमुक्तिहेतुज्ञानविषयत्वस्यानुपपत्तेः। तस्यैव अन्नमयादित्वेनोक्तत्वादित्यर्थः। 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इत्यत्र विभाषा गुण इति योगविभागोक्तेरनुपपत्तेरिति साधु । एवमग्रेऽपि ॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ भेदव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-1-6-17 ॥

आनन्दमयो नेतर इति वर्तते। आनन्दमयाद्भेदव्यपदेशाच्चानन्दमयो नेतर इत्यर्थः। 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्यादिना विरिञ्चादेः परिमितानन्दत्वमुक्त्वा 'यतो वाच' इत्यानन्दमयस्य पूर्णानन्दत्वोक्तेरिति भावः। सुधायां तु आनन्दमयादेः विरिञ्चादित्वं युज्यते। मुक्तिहेतुज्ञानत्वादिब्रह्मधर्माणां ब्रह्माभेदाज्जीवानां कथञ्चिदुपपत्तेरित्याशङ्कायां 'भेदव्यपदेशाच्च' इति सूत्रम्। तत्र चशब्दो न केवलमितर आनन्दमयादिर्नेति किन्तु ब्रह्मभिन्नश्च नेत्यर्थे 'स यश्चायं पुरुषे। 'यश्चासावादित्ये' इत्यादावधिष्ठातृत्वादिना ब्रह्मभेदस्य व्यपदेशादिति व्याख्यातम् ॥

नन्वस्त्वानन्दमयादिर्ब्रह्म। तद्भेदो विरिञ्चादेर्न युक्तः। शरीरत्वात्मत्वाद्यनुमानविरोधादित्यत आह—

ॐ कामाच्च नानुमानापेक्षा ॐ ॥1-1-6-18 ॥

चोऽवधारणे। अदृष्टेऽर्थे शुष्कानुमानापेक्षा न कार्या। कामात् कामचारित्वादेवेत्यर्थः। प्रत्यक्षस्याद्वैतेऽप्रसरात् श्रुतेश्च 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यत्र निरस्यत्वादनुमानामेवाशङ्क्य प्रत्युक्तम्।

ननूक्तभेदोऽसत्य एवातो न दोष इत्यत आह—

ॐ अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॐ ॥1-1-6-19 ॥

च शब्दो युक्तिसमुच्चये। श्रुतिर्मुक्तावपीति शेषः। अस्मिन् प्रकरणे। अस्येतरस्य जीवस्य। तेनानन्दमयादिरूपेण ब्रह्मणा सह योगं सम्बन्धं मुक्तावपि 'सोऽश्नुत' इति श्रुतिः शास्ति यतः अत ऐक्यायोगात् आनन्दमयादिः नेतर इत्यर्थः। न केवलं भेदव्यपदेशात् किन्तु मुक्तावपि भेदाक्षेपकतद्योगशासनाच्चेति चार्थः। तदानीन्तनो भेदो नासत्य इति भावः। यद्वा इतश्चानन्दमयादिर्ब्रह्मेत्याह॥ 'अस्मिन् 'इति अस्मिन् प्रकरणे। अस्य 'स य एवं वित्' इत्युक्तस्य ब्रह्मविदस्तद्योगं तैरन्नमयादिभिर्योगं प्राप्तिं फलत्वेन 'एतमन्नमयमात्मानम्' इति श्रुतिः शास्ति यतोऽतश्चानन्दमयादिभिर्ब्रह्मैवेत्यर्थः। न हि ब्रह्मज्ञानादन्यप्राप्तिर्युक्तेति भावः॥6॥

अन्तस्तत्त्वाधिकरणम्॥1-1-7॥

ॐ अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॐ ॥1-1-7-20 ॥

अत्र नये अन्तस्थत्वलिङ्गद्वारा अधि दैवगत सर्वनामसमन्वयः क्रियते। तत्त्विति वर्तते। श्रुतमिति शेषः। 'अन्तःप्रविष्टं कर्तारम्', 'अन्तश्चन्द्रमसि' इति तैत्तिरीये अन्तःश्रुतं ब्रह्मैव न तु इन्द्रादिः । तस्यब्रह्मणो धर्माणां समुद्रस्थत्व ब्रह्माण्डवीर्यत्वादिरूपाणां तत्रान्तः श्रुते 'अन्तः समुद्रे', 'यस्याण्डकोशम्' इत्यादिनोपदेशादित्यर्थः। धर्मोपदेशादित्येव पूर्तौ तदित्युक्तिस्तेषां ब्रह्माव्यभिचारित्वपक्षधर्मत्वयोः प्रदर्शनार्था। अन्तस्तदिति तन्त्रम् । एवमग्रेऽपि ।

नन्वत्र इन्द्रादिश्रुतीनामपि सत्त्वात् श्रुतिलिङ्गानुरोधेन इन्द्रादेरन्तस्थेन ब्रह्मणा अभेदात् इन्द्रादिरपि अन्तस्थोऽस्त्वित्यत आह—

ॐ भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॐ ॥1-1-7-21 ॥

चः समुच्चये। तदिति वर्तते। इन्द्रादिभ्य इति योग्यतया लभ्यते। न केवलं तच्छब्दार्थो विष्णुरन्तःश्रुतः किन्तु इन्द्रादिभ्योऽन्यश्च। कुतः ? 'इन्द्रस्यात्मा', 'वायोरात्मानम्' इत्यादौ

इन्द्राद्यन्तर्यामित्वाद्युक्त्या भेदव्यपदेशादित्यर्थः। श्रुतयस्तु ब्रह्मणि नेया इति भावः। तदित्यनुवृत्तेरन्यदिति वाच्ये पुंनिर्देशः श्रौतात्मपदानुसारात् ॥7॥

आकाशाधिकरणम्॥1-8॥

ॐ आकाशस्तल्लिङ्गात् ॐ ॥1-1-8-22 ॥

अत्र नये आधिभौतिकसर्वनामसमन्वय उच्यते। प्राधान्यादन्योपलक्षकत्वेन आकाशस्योक्तिः। तत्त्विति वर्तते। 'आकाश इति होवाच' इति छान्दोग्यस्थाकाशो हरिरेव। महायोगविद्वद्रूढिभ्यां मुख्यवृत्त्या ब्रह्मपर आकाशशब्द इति यावत्। न तु रूढ्या भूताकाशम्। 'स एषः परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' इति परोवरीयस्त्वादेस्तत्राकाशे तस्य विष्णोर्लिङ्गादित्यर्थः। ब्रह्माव्यभिचारलिङ्गस्य आकाशे श्रवणादिति यावत्। लिङ्गादित्युक्तिः समुदायाशया। पतिनयं तत्त्वित्यवधारणार्थकतोरनुवृत्तिः 'अभिमानिव्यपदेशस्तु' इत्यत्राभिमानिदेवतेव महायोगविद्वद्रूढिभ्यामीश एव तत्तच्छब्दमुख्यार्थ इति दर्शयितुम्। अन्यस्य मुख्यत्वे वा अस्यामुख्यत्वे वा तदयोगात्। एवं च मुख्यामुख्यन्यायेनैव श्रुतिषु तैस्तैः शब्दैः विष्णुग्रहणसिद्धावपि अभ्यासतद्धर्मतल्लिङ्गाद्युक्तिः तात्पर्यज्ञप्त्यर्था। मुख्यत्वं नेत्यभ्युपेत्य, अनुवादेनं वेति ज्ञेयम् ॥8॥

प्राणाधिकरणम्॥1-1-9॥

ॐ अत एव प्राणः ॐ ॥1-1-9-23 ॥

अत्र नये आध्यात्मिकाशेषनामसमन्वय उच्यते। प्राधान्यादन्योपलक्षणत्वेन प्राणोक्तिः।'तद्वै त्वं प्राण' इत्युक्तः प्राणो ब्रह्मैव। न तु रूढ्या मुख्यप्राणः। कुतः? अत एव 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इति निरवकाशश्रीलक्ष्मीपतित्वलिङ्गादेवेत्यर्थः। एवेति 'शब्दादेव' इत्यत्रेव लिङ्गस्य निरवकाशत्वमाह ॥9॥

ज्योतिरधिकरणम्॥1-1-10॥

ॐ ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॐ ॥1-1-10-24 ॥

अत्र नये सूक्तगताशेषनामसमन्वय उच्यते। प्रकाशवाचित्वेन प्राधान्याद्वा पूर्वाक्षेपकहृदया हि तत्वयुक्ततया वा अन्योपलक्षणत्वेन ज्योतिष उक्तिः। 'ज्योतिर्हृदय आहितम्' इति सूक्तोक्तं ज्योतिः तत्तु ब्रह्मैव। न त्वग्निसूक्तगतत्वादिना अग्निः। 'वि मे कर्णा पतयतः' इत्यादिना कर्णादीनां

विचारणाभिधानात्। कर्णादिसर्वेन्द्रियविदूरत्वादित्यर्थः। अपरिच्छिन्नवैभवादिति यावत्। विचरणेति वाच्ये चरणेत्युक्तिरुपसर्गस्य द्योतकत्वमात्राद्वा वि मे मनश्चरतीति श्रुत्यनुगमार्था वेति ॥10॥

गायत्र्यधिकरणम्॥1-1-11॥

ॐ छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ॐ ॥1-1-11-25 ॥

अत्र नये अधि वेदगतगायत्र्याद्यशेषछन्दोनामसमन्वयं ब्रूते। प्राधान्यादन्योपलक्षणत्वेन गायत्र्याः सूचनेनोपादानम्।छन्द इत्यावृत्तिः। 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इत्युक्तगायत्री छन्दः स्यात् । कुतः? गायत्रीपदेन छन्दसोऽभिधानात्। तच्छब्दस्य तत्र रूढत्वादिति यावत्। न ब्रह्मेति चेत्। न। कुतः? तथा हि दर्शनम्। दर्शनं श्रुतिः। 'गायति त्रायति च' इति गानत्राणकर्तृत्वादिलिङ्गबोधकश्रुतिर्हि यतोऽत इत्यर्थः। अप्रसिद्धपदेन ब्रह्मणो निर्देशो किं प्रयोजनमत उक्तं— तथेति। गानादिकर्तृत्वगुणविशिष्टतया चेतस्यर्पणायोपासनायेत्यर्थः। निगदात् 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इति कथनादित्यर्थः। चेतोर्पणेत्युक्तिरुपासनास्वरूपोक्त्यर्था। एवं नयान्तरे अप्रसिद्धशब्दोक्तिकृत्यं बोध्यम्। सुधायां तु 'परो दिवो ज्योतिः' इत्युक्तं ज्योतिश्छन्द एव। न विष्णुः। 'गायत्री वा' इत्युपक्रमे गायत्रीरूपछन्दसोऽभिधानादिति चेतित्यपि शङ्कार्थः। गानत्राणकर्तृत्वाद्गायत्री ब्रह्मेति ज्योतिरपि ब्रह्मेति परिहारोऽभिमतः॥

इतश्च गायत्री ब्रह्मेत्याह—

ॐ भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॐ ॥1-1-11-26 ॥

भूतं विश्वमादिर्यस्यामृतस्यामृताख्यस्वरूपस्य तद्भूतादि। भूतादि चासौ पादश्च। तस्य व्यपदेशः। एवं 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्येवं भूतामृतरूपपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवं गायत्री ब्रह्मैवेत्यर्थः। एवमित्यस्यावृत्तिः। तत्राद्यं 'त्रयाणामेव चैवम्' इत्यत्रेव प्रकारार्थकम्। 'चतुष्पदा गायत्री' इत्युक्त्वा तद्विवरणाय सम्मतित्वेनोपनिषदुदाहृते 'तावान्' इति मन्त्रे अस्य पुरुषस्य 'सर्वाणि भूतानि' इत्येकः पादः। अमृताख्यं वैकुण्ठादिस्थितरूपत्रयं त्रिपात् पादत्रयमिति भूतादिपादचतुष्टयवत्त्वमुक्तम्। तच्च न छन्दसि युक्तमिति भावः। 'पुरुषसूक्तोक्तत्वाच्च' इत्यनुक्तसमुच्चये वा चः। 'ज्ञे प्रथमयोः' इत्यत्र प्रथमाद्वितीययोः प्रथमाशब्द इव पादशब्दः अमृताख्यस्वरूपांशे मुख्यो भूतेष्वमुख्य इति बोध्यम् ॥

उक्तमाक्षिप्य समाधत्ते—

ॐ उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॐ ॥1-1-11-27॥

गायत्रीज्योतिषोर्द्युस्थत्वदिवःपरत्वरूपोपदेशभेदात् तद् द्वयं ब्रह्माख्यमेकं वस्त्वित्युक्तं न युक्तमिति चेन्न। उभयस्मिन्नप्युपदेशे विरोधाभावादित्यर्थः। त्रिसप्तलोकापेक्षयोपपत्तेरिति भावः। भूर्भुवः स्वरिति त्रिलोकापेक्षायां भुवर्लोकादूर्ध्वस्य सर्वस्य द्युत्वादनन्तासनश्वेतद्वीपवैकुण्ठस्थानां द्युस्थत्वात्। भूर्भूवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमिति सप्तलोकविवक्षायां मेरुसूर्यमण्डलेन्द्रसदनानां 'पृथिव्यां द्यौर्महामेरुराकाशे सूर्यमण्डलम्। दिवीन्द्रसदनं चैव तत्परे तु दिवः परे' इति स्मृत्या द्युत्वात् क्रमात् तत्परानन्तासनादिस्थानां द्युपरत्वादिति भावः। लोकत्रयपक्षेऽपि उक्तदिशा द्युपरत्वसिद्धावपि वैकुण्ठस्य सर्वद्युपरत्वसिद्ध्यै सप्तलोकपक्षोक्तिः। 'द्यात्मकेभ्यश्च सर्वेभ्यो वैकुण्ठश्चोच्च उच्यते' इत्युक्तेः। चन्द्रिकायां तु – अग्निसूक्तस्थचान्दोग्यस्थज्योतिषोर्नैकार्थत्वं कर्णादिविदूरत्वदृष्टश्रुतत्वाद्युपदेशभेदादिति चेन्न। उभयस्मिन्नप्युपदेशे आकारभेदेन अविरोधादिति वृत्त्यन्तरमुक्तम् ॥11॥

पादान्त्यप्राणाधिकरणम्॥1-1-12॥

ॐ प्राणस्तथाऽनुगमात् ॐ ॥1-1-12-28 ॥

अत्र नये अन्यप्रापकबहुलिङ्गयुतनामसमन्वय उच्यते। ऐतरेये बहुकृत्वः 'ता वा एता' इत्यारभ्य श्रुतः प्राणो यथा 'तद्वैत्वं प्राण' इत्ययं ब्रह्म तथा अयं च तत्तु ब्रह्मैव। न तु इन्द्रजीवमुख्यप्राणाः। कुतः? ब्रह्मशब्ददेवोपास्यत्वादितत् श्रुतिलिङ्गानामस्मिन् प्रकरणे अनुगमात् अनुवृत्तेरभ्यासादित्यर्थः। तथेत्युक्तिः तत्रोक्तजीवनहेतुत्वरूपप्राणपदप्रवृत्तिनिमित्तसत्त्वस्मारणार्था। 'तथा प्राणाः तथाऽन्यत्रप्रतिषेधात्' इत्यादिवत्। यद्वा अस्यान्यत्वे प्राचीनोऽप्यन्य इति न शङ्क्यम्। स चायं च ब्रह्मैवेति वक्तुं तथेत्युक्तिः। अनुगमादित्युक्तिरेतत्प्रकरणस्य वैष्णत्वोक्त्यर्था।

उक्तमाक्षिप्य समाधत्ते—

ॐ न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्मन्धभूमा ह्यस्मिन् ॐ ॥1-1-12-29 ॥

वक्तुर्बृहतीसहस्रं वक्तुर्विश्वामित्रस्येन्द्रेण 'प्राणो वा अहमस्मृषे' इति आत्मन एव प्राणतयोपदेशान्न प्राणो ब्रह्मेति चेन्नेति शेषः। कुतः? हि यस्मात् अस्मिन् प्रकरणे अद्यात्मं देहेषु विष्णुदेहभूतेषु इन्द्रविश्वामित्रादिषु सम्बन्धभूमासम्बन्धबाहुल्यम्, 'प्राणोऽहं प्राणस्त्वं प्राणः सर्वाणि भूतानि'

इत्युक्तबह्वध्यात्मसम्बन्ध इति यावत्, व्यपदिश्यते यतोऽतः प्राणो विष्णुरित्यर्थः। इन्द्रेण प्राणाख्यब्रह्मणः सर्वगतत्वमेवोच्यते न तु प्राणत्वेनात्मोपदिश्यत इति भावः। यद्वा अस्मिन्निन्द्रेऽधिकात्मनः सम्बन्धभूमा आवेशबाहुल्यं हि यस्मादस्त्यतः तदपेक्षया 'प्राणो वा अहम्' इत्युक्तिरित्यर्थः। आत्मोपदेशादित्येव पूर्तौ वक्तुरित्युक्तिः शास्त्रवक्तारं प्रति इन्द्रस्य न विप्रलम्भ इति पूर्वपक्षे युक्तिसूचनार्था। सम्बन्धेत्युक्तिरैक्यनिवृत्त्यर्था॥

तर्हि प्राणो मय्यस्त्यृषे इत्यादि स्यादित्यत आह—

ॐ शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॐ ॥1-1-12-30 ॥

तुरेव। शास्तीति शास्त्रमन्तर्यामी। 'संविच्छास्त्रं परं पदम्' इत्यादेः। तद् दृष्ट्यैव 'प्राणो वा अहम्' इत्युपदेशो न तु तदात्म्येन। वामदेववत् वामदेवोपदेशवत्। यथा वामदेवोऽन्तर्यामिदृष्ट्या 'अहं मनुरभवम्' इत्याद्याह तद्वदित्यर्थः। अन्तर्यामिदृष्ट्येति वाच्ये शास्त्रेत्युक्तिः सर्व शास्तृत्वात् तत्तच्छब्दवाच्यतेति ज्ञापनार्था। 'तत्तन्नाम्नोच्यते विष्णुः सर्वशास्तृत्वहेतुतः' इत्यादेः।

ॐ जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॐ ॥1-1-12-31 ॥

प्राणो ब्रह्मेति वर्तते। नेत्यनन्तरं शास्त्रदृष्या तूपदेश इति च । 'तं शतं वर्षाण्यभ्यार्चत्' इति शतायुष्ट्वादिरूपजीवलिङ्गात् प्राणसंवादादिमुख्यप्राणलिङ्गान्न प्राणो ब्रह्मेति चेन्न। 'तं शतम्' इत्यादिजीवप्राणलिङ्गोपदेशः तदन्तर्यामिदृष्ट्यैव युक्तः। 'उदासीनवदास्तां तौ' इत्यौदासीन्यं तु बाह्यरूपेणेत्यविरोधः। किमर्था अन्तर्याम्युक्तिरित्यत उक्तम् उपासेत्यादि। अन्तर्व्याप्तत्वबहिष्ठत्वभेदेन ब्रह्मोपासायाः त्रैविध्यादिह प्रकरणे 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' इति 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्मततममपश्यत्' इति 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः' इति च तत्-त्रैविध्यस्याश्रितत्वादुक्तत्वात् इत्यर्थः। एकयैवोपासया अलं किं त्रैविध्यनेत्यत उक्तम्—तद्योगात्। तस्योपासात्रैविध्यस्यादिकारिभेदेन योगाद्युक्तत्वादित्यर्थः। 'पूरणगुण' इति गुणेन समासनिषेधस्यानित्यत्वोक्तेरुपासत्रैविध्यादिति साधु। संज्ञाप्रमाणत्वादित्यादिवत्। एवमग्रेऽपि। 'ण्यासश्रन्थो युच्' इति विशेषमनाश्रित्य 'गुरोश्च हलः' इत्युत्सर्गस्यैवाश्रयणाद्वा, 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' इति बहुलग्रहणाद्वा, 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' इति सरूपप्रत्ययस्य विकल्पेन बाधोक्तेः घञंतत्वेन वा उपासेति साधु॥ 'घञंतः पुंसि' इति पाणिनीयलिङ्गानुशासनस्य तृतीये 'नौ वृ धान्ये' इत्यत्र मञ्जर्यां प्रायिकत्वोक्तेः ॥12 ॥

अत्रानन्दमयनये विष्णोः स्वावयवैक्यं, अन्तर्नये इन्द्रादिदेवगतैश्वर्यादेः आकाशनये सर्वस्वभावस्य च ईशायत्तत्वं, प्राणनये सर्वजीवनहेतुत्वं, ज्योतिर्नये सर्वसूक्तानां अवैष्णवत्वप्रसिद्धेः अज्ञानमूलत्वं, छन्दोनये अनादिनित्यस्यापीशाधीनत्वं, अन्त्यनये सर्वतत्तच्छ्रुतिलिङ्गानां तत्तदन्तर्यामिस्थत्वं सिद्धमित्यादि बोध्यम् ॥

॥ इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥1-1॥

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥1-2 ॥

सर्वगतत्वाधिकरणम्॥1-2-1॥

एवमन्यत्र प्रसिद्धाशेषनामसमन्वयं उक्त्वा अत्रपादे तादृशलिङ्गसमन्वय उच्यते —-

ॐ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॐ ॥1-2-1-32 ॥

अत्र नये सर्वत्रावस्थितत्वरूपतादृशभावाख्यलिङ्गसमन्वयः क्रियते। तत्त्विति वर्तते। उच्यमानमिति शेषः। सर्वत्र 'एतमस्यामेतं दिवि' इत्यादिना 'सर्वेषु भूतेषु' इत्यन्तेन पृथिव्यादिषूच्यमानं तत्तु ब्रह्मैव। नत्वादित्यो जीवो वा। कुतः? प्रसिद्धस्य ब्रह्मण्येव श्रुत्यादौ प्रसिद्धस्य ब्रह्मशब्दस्य 'एतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते' इत्युपदेशादित्यर्थः। ब्रह्मशब्दादिति वाच्ये प्रसिद्धेत्युक्तिर्जीवादिग्रहणे प्रसिद्धिबाधसूचनाय।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॐ ॥1-2-1-33 ॥

सर्वत्र तत्त्विति वर्तते। विवक्षितानां वक्तुं योग्यानां वक्ष्यमाणानामिति वा, उपसंहारस्थानामिति यावत्, तात्पर्यविषयाणामिति वा, गुणानां 'स योऽतोऽश्रुत' इत्याद्युक्ताश्रुतत्वादिधर्माणामुपपत्तेश्च पृथिव्यादौ ब्रह्मैव। जीवादावनुपपत्तेरित्यर्थः। विवक्षितेत्युक्तिर्गुणानामुपसंहारस्थत्वादिना प्राबल्य सूचनाय। अनुव्याख्याने तु विवक्षित एतच्छ्रुत्यादावभिमतो दूरे शक्तस्यापि तत्तच्छक्तिप्रबोधनार्थं तत्र तत्रावस्थानरूपो यो गुणस्तस्य लीलयोपपत्तेर्दूरस्थस्यापि शक्तस्य तत्र तत्रावस्थानं व्यर्थमिति न चोद्यमिति वृत्यन्तरम् अभिप्रेतम्॥

आदित्यश्रुतेरादित्यश्चक्षुर्मयत्वादिलिङ्गाच्च जीवो वा किं न स्यादित्यत आह—

ॐ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॐ ॥1-2-1-34॥

सर्वत्रोच्यमानमिति वर्तते। तुरेव। शारीरः शरीरसम्बन्धी आदित्यो जीवो वा न तथा। सर्वगतत्वानुपपत्तेरेवेत्यर्थः। अणुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्तयोः सर्वगतत्वे कर्मणामपि सर्वसम्बन्धितापत्त्या अभिमानस्याप्यापातेन सुखदुःखादिव्यवस्थायोगाच्चेति भावः। एवेत्यनुपपत्तेर्दार्ढ्यं किं तत्र साधकोक्त्येति वा सूचयति। नेतर इति वाच्ये शारीर इत्युक्तिः 'स यश्चायमशरीरः' इति श्रुतावशरीरत्वानुपपत्तिं च जीवे सूचयितुम्।

इतश्च न शारीरस्तथेत्याह—

ॐ कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-2-1-35 ॥

भावप्रधानोऽयम्। सर्वत्रोच्यमानस्येति शारिरस्येति च विपरिणम्यानुवर्तते। एतस्यामिति पृथिव्यादौ सर्वत्रोच्यमानस्य 'आत्मानं परस्मै' इति कर्मत्वेन शारीरस्य शंसतीति कर्तृत्वेन व्यपदेशाच्च न शारीरस्तथेत्यर्थः। तथात्वे शारीरस्यैव शंसनक्रियायां कर्मत्वं कर्तृत्वं च स्यात्। तच्च विरुद्धमेकस्येति भावः॥

चक्षुर्मयत्वादिप्रबलजीवलिङ्गात् प्रागुक्तं ब्रह्मशब्दादिकं सर्वमन्यथयितव्यमित्यत आह —

ॐ शब्दविशेषात् ॐ ॥1-2-1-36 ॥

शब्दस्य ब्रह्मशब्दस्य। विशेषात् सावधारणत्वरूपविशेषाद् ब्रह्मशब्दो न शारीरपर इत्यर्थः। 'एतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते' इति सावधारणब्रह्मशब्दत्वे मुख्यब्रह्मत्वं स्यात् तच्च जीवे न युक्तमिति भावः॥

इतश्चसर्वत्रोच्यमानं ब्रह्मेत्याह —

ॐ स्मृतेश्च ॐ ॥1-2-1-37 ॥

'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' इति स्मृतेश्च सर्वत्र तदेवेत्यर्थः। स्मृतेः स्ववचनत्वेऽपि परोक्तार्थानुवादरूपत्वात् तदुक्तिः। एवमग्रेऽपि॥

उक्तमाक्षिप्य समाधत्ते -

ॐ अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॐ ॥1-2-1-38 ॥

सर्वत्र तत्त्विति वर्तते। अर्भकमल्पमोकः स्थानं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। व्यपदेशादित्येतदर्ताप्यन्वेति। 'सर्वेषु भूतेषु' इति सर्वप्राणिहृदयगुहास्थत्वरूपार्भकौकस्त्वव्यपदेशात् तद् व्यपदेशाच्च तस्य शारीरस्यादित्यश्रुत्या चक्षुर्मयत्वादिलिङ्गेन च व्यपदेशाच्च न सर्वत्र ब्रह्मैवेति

युक्तम्। शास्तुरपि व्याप्तत्वेन शास्त्रदृष्ट्यापि नयनायोगादिति चेन्न। किं ब्रह्मणोऽल्पौकस्त्वाद्युक्तिर्व्यर्थाअयुक्ता वा। नाद्य इत्याह - निचाय्यत्वादेवम्। अर्भकौकत्स्वचक्षुर्मयत्वादिनोपास्यत्वान्न व्यर्थेत्यर्थः। अन्त्ये आह — व्योमवत्। यथा व्याप्तस्यापि व्योम्न एकैकदेशेऽवस्थितिः तथा ब्रह्मणोऽपि भूताशयादौ स्थितिर्युक्तेत्यर्थः। अत्र व्योमवैषम्यमल्पश्रुतेः इत्यत्र समाधास्यते। उपासात्रैविध्यादित्युक्तावपि निचाय्यत्वादिति पुनरुक्तिरुपासाया ज्ञानस्वरूपत्वप्रदर्शनाय। 'चायृ दर्शने' इति धातोः। तेनोपासा मानसक्रियाऽर्थहीनापि युक्तेति तच्छ्रुतिरमानमिति न शङ्क्यम्॥

पुनरुक्तमाक्षिप्याह —

ॐ सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॐ ॥1-2-1-39 ॥

समानो भोगः सम्भोगः। व्योमवत् सर्वजीवशरीरस्थत्वे तत्समानभोगप्राप्तिर्ब्रह्मण इति चेन्न। कुतः? वैशेष्यात् सामर्थ्यातिशयादित्यर्तः। अन्तर्नये कतिपयान्तःस्थत्वमुक्तम्। अत्र तु सर्वान्तःस्थत्वम्। व्याप्ते हरौ व्योमवदिति तस्योपपन्नता चोच्यत इति भेदः॥1 ॥

अत्तृत्वाधिकरणम्॥1-2-2॥

ॐ अत्ताचराचरग्रहणात् ॐ ॥1-2-2-40 ॥

अत्र नये संहाररूपक्रियात्मकलिङ्गसमन्वय उच्यते। 'सर्वं वा अत्ति' इत्युक्तात्ता तत्तु ब्रह्मैव। न त्वदितिः। सर्वमिति चराचरस्याद्यतया ग्रहणादित्यर्थः। तदित्यनुवृत्तेरत्त्रिति वाच्ये पुंनिर्देशः 'स तया वाचा तेनाऽत्मना' इत्यादौ स इति पुल्लिङ्गतच्छब्देन प्रकृतमृत्युरेव निर्णयश्रुतावुच्यत इति तदनुरोधेन। श्रुत्यनुगमात् सर्वेति वाच्ये चराचरेति तद् व्याख्यानेनोक्तिः सङ्कोचशङ्कानिरासाय॥

इतश्चैवमित्याह—

ॐ प्रकरणाच्च ॐ ॥1-2-2-41 ॥

'नैवेह किञ्चन' इत्यादि ब्रह्मप्रकरणाच्छात्ता ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥2॥

गुहाधिकरणम्॥1-2-3॥

ॐ गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॐ ॥1-2-3-42 ॥

अत्र नये कर्मफलभोगरूपक्रियालिङ्गं समन्वीयते। ऋतं पिबन्ताविति योग्यतयान्वेति। 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ' इति श्रुत्युक्तौ ऋतं पिबन्तावात्मानावेव आत्मान्तरात्माख्यब्रह्मरूपविशेषावेव। न तु जीवेश्वरौ। कुतः? गुहां प्रविष्टौ। हेतुगर्भमिदम्। हृदयगुहाप्रविष्टत्वलिङ्गादित्यर्थः। हिशब्देन ब्रह्मण्येव 'यो वेद निहितं गुहायां' इत्यादौ तस्य प्रसिद्धिमाह। रूपद्वयस्य गुहास्थत्वं कुत इत्यत उक्तं — तद्दर्शनात्। तस्य आत्मनोर्गुहास्थत्वस्य 'घर्मा समन्तात्त्रिवृतं व्यापतुः' इत्यादिश्रुत्युक्तेरित्यर्थः। ऋतं पिबन्तामिति वाच्ये गुहाप्रविष्टत्वोक्तिद्वारा तदुक्तिर्गुहाप्रविष्टत्वरूपहेतुसूचनार्था। तत्त्वित्यनुवृत्तावपि आत्मानाविति द्विवचनान्तात्मपदोक्तिरादेयं मातीत्यात्मेति शुभबोक्तृत्वमस्य सूचयितुं, श्रौतद्विवचनस्य गत्युक्त्यै आत्मान्तरात्माख्यरूपद्वयं वक्तुं चेति॥

इतश्चैवमित्याह –

ॐ विशेषणाच्च ॐ ॥1-2-3-43॥

'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' इत्येकवचनेन सेतुत्वब्रह्मत्वादिना च विशेषणाच्च पिबन्तावात्मानावेव न जीवेशावित्यर्थः॥3॥

अन्तराधिकरणम्॥1-2-4॥

ॐ अन्तर उपपत्तेः ॐ ॥1-2-4-44॥

अत्र नये चक्षुरन्तःस्थितरूपभावयुक्तरमणरूपक्रियालिङ्गं समन्वीयते। तत्त्वित्यस्ति। 'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा' इत्युक्तोऽन्तरश्चक्षुरन्तःस्थित्वा रममाणो ब्रह्मैव न त्वग्निः। 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इत्युक्तामृतत्वाभयत्वलिङ्गब्रह्मशब्दानां तत्रैवोपपत्तेरित्यर्थः। 'अन्तरक्षिणि' इति श्रुतावन्तःस्थत्वोक्तावपि, 'एष आत्मा' इत्यात्मपदेनाऽऽदेयं मातीति रमणस्याप्युक्तेः अन्तरुपपदाद्रमतेर्जमन्ताड्डप्रत्ययेनान्तर इति निरदिक्षत्। अत एव तदित्यनुवृत्तावपि पुंनिर्देशः॥

इतश्चैवामित्याह—

ॐ स्थानादिव्यपदेशाच्च ॐ ॥1-2-4-45 ॥

स्थानमक्षि। आदिपदात् तदधिष्ठातृ गृह्यते। स्थानादिशब्दात् स्थानादिशक्तिरुपलक्ष्यते। स्थानरूपाक्षिशक्तेरधिष्ठातृशक्तेश्चव्यपदेशाच्चान्तरो ब्रह्मैवेत्यर्थः। 'तद्यदस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति'

इत्यादिनाऽक्षणोऽसङ्गत्वशक्तिरुच्यते। एवं 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते' इत्यादिना अक्ष्यन्तस्थस्य संयद्वामत्वशक्तिश्चोच्यते। तद् द्वयमक्ष्यन्तःस्थस्य ब्रह्मत्व एव युक्तमिति भावः॥

प्रकरणबलाच्चैवमित्याह—

ॐ सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॐ ॥1-2-4-46 ॥

विशिष्टं च तत्सुखं च सुखविशिष्टं 'कडाराः कर्मधारये' इति परनिपातः। सुखेन विशिष्टमिति वा, सुखेषु विशिष्टमिति वा सुखविशिष्टम्। 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इत्युपक्रमे कं सुखं ब्रह्म पूर्णमिति पूर्णत्वविशिष्टसुखरूपत्वाभिधानाच्चान्तरो ब्रह्मैव इत्यर्थः। एवेत्यनेन तिष्ठतु तावत् खं ब्रह्मेति पूर्णज्ञानाभिधानमित्याह। विशिष्टेति जीवे व्यभिचारनिरासाय ॥

अस्तु कं ब्रह्मेत्युक्ता ब्रह्मविद्या। अक्षिविद्या त्वग्निपराऽस्त्वित्यत आह -

ॐ श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॐ ॥1-2-4-47 ॥

श्रुतेत्युपलक्षणम्। केति ब्रह्मवायू तन्त्रेणोक्तौ। 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म' इति तयोः प्रकृतत्वात्। श्रुतोपनिषदां श्रुतमतध्यातैतद्विद्यानां पुंसां केन वायुना कस्य ब्रह्मणो गतेः प्राप्तेः 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इत्यभिधानाच्च अन्तरो ब्रह्मैवेत्यर्थः। अन्यविद्याश्रवणादिनाऽन्यप्राप्तेरयोगादिति भावः।

विपक्षे बाधकेनाप्येवमित्याह –

ॐ अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॐ ॥1-2-4-48 ॥

अन्तर इतरोऽग्निर्न। किं तु ब्रह्मैव। कुतः? अनवस्थितेः। जीवस्याग्नेर्जीवान्तरप्रेरकत्वे तस्यापि प्रेरकान्तरेण भाव्यम्। तस्यापि तथेत्यनवस्थानात्। अङ्गीकृत्य चेदमुदितम्। अग्नेरपि प्रेर्येण जीवत्वसाम्येन प्रेरणासम्भवाच्चेत्यर्थः॥ 4॥

अन्तर्याम्यधिकरणम्॥ 1-2-5॥

ॐ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॐ ॥1-2-5-49॥

अत्र नये अन्तःस्थितिरूपभावयुक्तं नियमनाख्यं क्रियात्मकं लिङ्गं समन्वीयते। अधि दैवादिपदेन तत्तत्प्रकरणं लक्ष्यते। तदिति तन्त्रम्। तत्वित्यस्ति। 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत' इति श्रुतोऽन्तर्यामी ब्रह्मैव न तु प्रकृतिस्तत्तदभिमानी जीवो वा। कुतः? अधि दैवाधि भूतादिप्रकरणेषु तस्यान्तर्यामिणः सम्बन्धितया तस्य ब्रह्मणो धर्मस्य 'यं पृथिवी न वेद यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इत्यादिना पृथिव्याद्यविदितत्वान्तरत्वादेर्व्यपदेशादित्यर्थः। तत्त्वित्यनुवृत्तावपि पुंनिर्देशो निर्णयश्रुत्यनुसारात्।

तद्धर्मव्यपदेशादित्येव पूर्तावधिदैवेत्युक्तिः पृथिव्यादेः चेतनत्वसूचनार्था। तेन जडावेद्यत्वं प्रकृत्यादावपि युक्तमिति न शङ्क्यम्।

ननु पृथिव्यादिशरीरत्वालिङ्गात् प्रकृतिजीवौ किं न स्यातामित्यत आह-

ॐ न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॐ ॥1-2-5-50॥

चस्त्वर्थे। शारीरश्चेत्यनुकृष्यते। स्मार्तं साङ्ख्यस्मृत्युक्तं प्रधानम्। अन्तर्यामी तदेव न तु स्मार्तं शारीरो जीवश्च। कुतः? अतद्धर्माभिलापात्। तयोः स्मार्तजीवयोर्धर्माणां त्रिगुणत्वसंसारित्वादीनां अभिलापाभावात् इत्यर्थः। शारीरत्वं तु 'शीर्यते नित्यमेवास्मात्' इत्यादिना सावकाशमिति भावः। स्मार्तेत्युक्तिः स्मृत्युक्तदिशा सर्वस्य तदुपादानकतया तदभेदेन तत्स्वरूपत्वाभिप्रायेण पृथिव्यादिशरीरत्वमिति पूर्वपक्षे युक्तिं सूचयितुम्। शारीरेत्युक्तिरपि शारीरत्वात् तत्तच्छरीरत्वं तत्तदभिमानिजीवस्य युक्तमिति सूचयितुमित्याहुः। तत्त्वप्रदीपे तु कापिलस्मृतिमात्रकल्पितं, न तु श्रुत्युक्तमिति स्मार्तमित्युक्तम्। प्रसज्यप्रतिषेधार्थकनञः क्रियासापेक्षत्वेन असामर्थ्येऽपि 'असूर्यंपश्याः' इत्यादाविव अकर्तरि च इति ज्ञापनात् समासः॥

जीवपक्षे साधकं नेत्युक्त्वा बाधकं चाह —

ॐ शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॐ ॥1-2-5-51 ॥

नेति वर्तते। आत्मनोऽन्तर इति माध्यन्दिनायनाः विज्ञानादन्तरो विविक्त इति काण्वाश्चैनं जीवं प्रकृतादन्तर्यमिणो भेदेनाधीयते हि यस्मादतो न शारीरश्चान्तर्यामीत्यर्थः। आत्मविज्ञानशब्दयोर्जीवार्थत्वादिति भावः। चकारो 'यस्तेजसि तिष्ठन्' इत्यादिभेदाध्ययनात् चित्प्रकृतिर्नान्तर्यामीति समुच्चयार्थ इति तत्त्वप्रदीपकोक्तिः। नञोऽनुकर्षणार्थ इति टीकोक्तिः। आद्यसूत्रेऽनुवृत्तावधारणव्यावर्त्यं सयुक्तिकं दर्शयितुमिमौ योगौ॥5॥

अदृश्यत्वादिकरणम्॥1-2-6॥

ॐ अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॐ ॥1-2-6-52 ॥

अत्र नये अभावात्मकलिङ्गं समन्वीयते। अदृश्यत्वादयो गुणा यस्य 'अक्षरात् परतः पर इत्युक्तपरस्य स तथा। 'शेषाद्विभाषा' इति कः। "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" इत्युक्तादृश्यत्वादिगुणकमक्षरं ब्रह्मैव। न तु चिदचित्प्रकृतिविरिञ्चिरुद्राः। "अथ परा यया तदक्षरमधि गम्यते" इति ऋगादिपरविद्या विषयत्वरूपधर्मोक्तेरित्यर्थः। "परतः परः" इति श्रुत्यनुसारात् पुंनिर्देशः। तेन

अदृश्यत्वादिगुणकमक्षरं परतः पर इत्युक्तपरवस्तु चैकमित्युक्त्या परत्वावध्यक्षरमन्यदिति प्राप्तेर्न सिद्धान्ते अक्षरात् परत्वं बाधकमिति ज्ञापितम्। अदृश्वत्वादिरिति वाच्ये गुणेत्युक्तिः दृश्यादन्यददृश्यमिति विग्रहेण दृश्याद्यन्योन्याभावश्च गुण इति विधि रूपत्वादीशाख्यधर्मिस्वरूपत्वं न विरुद्धमिति द्योतयितुम्। तथापि विशेषाद्धर्मधर्मित्वमिति सूचयितुं बहुव्रीहीत्यर्थः कः।

अवधारणव्यावर्त्यं विशेषयुक्त्या निरस्यति —

ॐ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॐ ॥1-2-6-53 ॥

विरिञ्चिरुद्रयोः चेतनत्वेनैकीकारेण जडप्रकृतिविरिञ्चिरुद्राणामितराविति द्विवचनेनात्र ग्रहणम्। इतरौ नादृश्यत्वादिगुणकौ। कुतः:? "यः सर्वज्ञः" इति सार्वज्ञविशेषणात्। परतः परत्वविशेषणाच्च जडप्रकृतिर्न। "तस्मादेतद् ब्रह्म" इति "अन्यमीशम्" इति च विरिञ्चिरुद्रयोरदृश्यत्वादिगुणकाक्षरात् भेदव्यपदेशाच्च न विरिञ्चिरुद्राविति यथाक्रमं हेतू। चशब्दस्य न केवलं धर्मोक्तेः किन्त्वाभ्यां हेतुभ्यां चेत्यर्थः। तेनान्यत्रापि सिद्धान्तहेतोः परपक्षनिरासेऽपि व्यापर इति सूचितम्। चिदचितोः प्रकृतित्वेनैक्यं जीवत्वेन च ब्रह्मरुद्रयोरिति इतराविति चत्वारो अपि गृह्यन्त इत्यप्याहुः॥

इतश्चैवमित्याह—

ॐ रूपोपन्यासाच्च ॐ ॥1-2-6-54 ॥

"यदा पश्यः पश्यते रुग्मवर्णम्" इति रुग्मवर्णोपन्यासाच्च अदृश्यत्वादिगुणको ब्रह्मैवेत्यर्थः। अन्येषां मिश्ररूपत्वेन विष्णोरेव शुद्धरूपतया तस्यैवात्र ग्रहणादिति भावः॥6॥

वैश्वानराधिकरणम्॥1-2-7॥

ॐ वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॐ ॥1-2-7-55॥

अत्र नये पाचकत्वाद्यनेकलिङ्गयुतं वैश्वानरनाम समन्वीयते। तत्त्वित्यस्ति। "आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते", 'अयमग्निर्वैश्वानरः' इत्यादौ श्रुतौ वैश्वानरो ब्रह्मैव न तु अग्निः। कुतः? साधरारणशब्दस्य अग्नाविष्णुसाधारणस्यापि वैश्वानरशब्दस्य विशेषादात्मपदेन विशेषणादित्यर्थः।

आत्मशब्दः अग्नावमुख्योऽपि युज्यत इत्यतः समाख्यामाह—

ॐ स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॐ ॥1-2-7-56॥

वैश्वानरो ब्रह्मेत्यस्ति। तेन इतिशब्दान्वयः। अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्। “अहं वैश्वानर” इति गीतायां स्मर्यमाणं विष्णोर्वैश्वानरत्वमत्रापि स एव वैश्वानर इत्यस्यानुमापकं स्यादित्यर्थः। “अहं वैश्वानरः” इति श्रुतिसमाख्यानादिति भावः।

उक्तमाक्षिप्याह—

ॐ शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषविधमपि चैनमधीयते ॐ ॥ 1-2-7-57

आदिपदाल्लिङ्गानि। अन्तः प्रतिष्ठानेन तत्कर्मोपलक्ष्यते। ‘अयमग्निः’ इत्याद्यग्निशब्दात् ‘वैश्वानरे तद् हुतम्’ इति ‘हृदयं गार्हपत्यम्’ इत्यादिना होमाद्याधारत्वगार्हपत्याद्यङ्गत्वलिङ्गेभ्यो ‘योऽयमन्तः पुरुषे’, ‘येनेदमन्नं पच्यते’ इत्यन्तः प्रतिष्ठानेन पचनव्यापारात् पाचकत्वेनान्तः प्रतिष्ठानादिति वा वैश्वारनो न ब्रह्मेति चेत्। न। कुतः? तथा अग्न्यादिनामलिङ्गकर्मवत्त्वेन दृष्ट्युपदेशात् उपासनोपदेशात् तेषां सावकाशत्वादिति भावः। दृष्टिपादात् नाविद्यमानध्यानमिति सूचितम्। किञ्च ‘को न आत्मा किं ब्रह्म’ इत्युपक्रमोक्तात्मत्वाद्यसम्भवात्। ब्रह्मप्रकरणाच्चेति यावत्। अपि किञ्चेत्यर्थः। एनं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषो यद्विधस्तद्विधमधीयते छन्दोगा यतोऽतोऽपीति योज्यम्। ‘शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत’ इत्यादिना पुरुषसूक्तोक्तपुरुषविधमेवैनं ‘मूर्द्धैव सुतेजा’ इत्यादिना अधीयत इति तत्समाख्यानादपीत्यर्थः। चशब्दः पुरुषसूक्तस्य वैष्णवत्वप्रसिद्धिद्योतकः। अन्तः प्रतिष्ठानस्य कर्मत्वात् पृथगुक्तिः। तत्पप्रदीपे तु प्रधानलिङ्गत्वात् पृथगुक्तमित्युक्तम्। तथा चेतोर्पणेत्यत्र प्रसिद्धशब्दत्यागे प्रयोजनोक्तिः। इह तु शब्दादेः सावकाशत्वोक्तिरिति भेदः॥

प्रसिद्धेर्देवता भूतं च किं न स्यादित्यत आह —

ॐ अत एव न देवता भूतं च ॐ ॥ 1-2-7-58॥

आत्मशब्दादिति हेतोरेवाग्निर्देवता तेजोभूतं च वैश्वानरो न भवतीत्यर्थः। अग्न्यादिशब्दानां ब्रह्मैकवाचित्वेऽग्न्यादौ व्यवहारविरोधः फलाभावादित्यत आह —

ॐ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॐ ॥ 1-2-7-59 ॥

वाच्यार्थधीव्यवहितं लक्षणादिकं विना साक्षात् मुख्यवृत्त्या ब्रह्मणः अग्न्यादिशब्दार्थत्वेऽप्यन्यत्र व्यवहाराविरोधं जैमिनिराहेत्यर्थः। हानाद्यर्थत्वादिति भावः।

अग्न्यादिशब्दानां ब्रह्मणि मुख्यत्वे सूक्तादिव्यवस्था न स्यादित्यत आह —

ॐ अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॐ ॥ 1-2-7-60 ॥

अग्न्यादिसूक्तादिनियम इति शेषः। अग्न्यादिसूक्तादिभिर्ब्रह्मोपास्तावग्न्यादिष्वेव तस्याभिव्यक्तेरिति भावेनाग्न्यादिसूक्तादिनियम इत्याश्मरथ्यो मन्यत इत्यर्थः।

प्रकारान्तरेण व्यवस्थामाह —

ॐ अनुस्मृतेर्बादरिः ॐ ॥ 1-2-7-61 ॥

तत्तत्सूक्ताद्युपासकैरग्न्यादिष्वेव ब्रह्मणोऽनुस्मृतेर्हेतोः सूक्तादि व्यवस्थेति बादरिर्मन्यते। अनुस्मृतेः पूर्वत्वेऽप्यभिव्यक्त्यनन्तरमपि सा कार्येति द्योतयितुं तदनन्तरमुक्तिः।

निमित्तान्तरमाह—

ॐ सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॐ ॥ 1-2-7-62 ॥

अग्न्यादिसूक्ताद्युपासकानामग्न्यादिप्राप्तेर्निमित्तादिति भावेन सूक्तादिनियम इति जैमिनिर्मन्यते। तदुपास्तौ तत्प्राप्तिः कुतः? तथा हि दर्शयति। 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति हि प्रसिद्धा श्रुतिः जैमिनिमतं यथा तथा दर्शयतीत्यर्थः भवतीत्यस्य प्राप्नुवन्तीत्यर्थात्।

ब्रह्मोपास्तावग्न्यादिप्राप्तिः कथमित्यत आह —

ॐ आमनन्ति चैनमस्मिन् ॐ ॥ 1-2-7-63 ॥

चशब्दः शङ्काव्यावर्तकः। एनं विष्णुमस्मिन्नग्न्यादौ। तस्य देवता भूतश्चेति प्रकृतत्वात्। 'योऽग्नौ तिष्ठन्' इत्यादिना आमनन्ति श्रुतय इत्यर्थः। अग्न्यादिप्राप्तिपदेन तत्स्थब्रह्मप्राप्तेर्विवक्षितत्वादिति भावः। श्रुत्यनुसारादेनमिति पुंनिर्देशः। जैमिन्याद्युक्तिस्तेषां प्रसिद्ध्यर्था। शब्दानां लोकव्यवहाराविरोधं वदन् सूक्तादिनियमं चाहेति जैमिनेर्द्विरुपादानम्॥

अत्राद्यनये विष्णोस्सर्वशक्तिप्रबोधकत्वं सर्वगतस्याप्यल्पस्थानस्थितत्वं च। अत्तेति नयेऽदनक्रिया। गुहानये सारभोक्तृत्वमेकस्याप्यनेकत्वं च। अन्तरनये ब्रह्मादेरीशं विना स्वावरनेतृत्वायोगः। अन्तर्यामिनये सर्वस्य तच्छीर्यत्वात् तत्तन्त्रत्वाद्वा तच्छरीरत्वम्। अदृश्यत्वनये गोत्राद्यभावस्येशाख्यधर्मितो भेदेऽपि दृश्याद्यन्योन्याभावस्य तत्स्वरूपत्वं सिद्धम्। अन्त्यनये सूक्तादिव्यवस्थेत्यादिध्येयम्॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥1-2॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥1-3 ॥

द्युभ्वाद्याधिकरणम्॥1-3-1॥

अत्रपादे उभयत्रप्रसिद्धनामलिङ्गात्मकद्विविधशब्धसमन्वय उच्यते

ॐ द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॐ ॥ 1-3-1-64 ॥

अत्र नये तादृषं सर्वाधारत्वलिङ्गं समन्वीयते। तत्त्वित्यस्ति। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्' इत्यादिनोक्तं द्युभ्वाद्यायतनं तत्तु ब्रह्मैव। न तु प्रधानं वायुरुद्रजीवा वा। स्वशब्दात् स्वेति शब्दः स्वशब्दस्तस्मात्। श्रुतौ स्वशब्दाभावात् तत्पर्यायात्मशब्दो ग्राह्यः। सभाराजेत्यत्र पाणिनीये राजशब्दवत्। तमेवैकं जानथात्मानमित्यात्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दादिति वाच्ये स्वेत्युक्तिः स्वस्य ब्रह्मण एव शब्द इत्यपि विग्रहेणासाधाराण्यं ज्ञापयितुम्। तच्छब्दादित्युक्तावपि शब्दविशेषो न ज्ञापितः स्यादिति।

जायमानत्वरूपजीवलिङ्गादात्मशब्दः अमुख्यः किं न स्यादित्यत आह —

ॐ मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॐ ॥ 1-3-1-65 ॥

द्व्येकयोरित्यादाविव भावप्रधानोऽयम्। उपसृप्यत्वं प्राप्यान्तरशून्यत्वे सति प्राप्यत्वम्। तेनान्तरा प्राप्ये न व्यभिचारः। 'अमृतस्येष सेतुः' इत्यमृतशब्दितमुक्तोपसृप्यत्वव्यपदेशात् नात्मशब्दोऽमुख्य इति योज्यम्। अमृतसेत्विति वाच्ये मुक्तेत्याद्युक्तिः तदर्थोक्त्यर्था। एवमन्यत्रापि।

रुद्रप्रकृती किं न स्याताम्। 'रुद्रो वा व लोकाधारः भूतं च भवच्च भविष्यच्च' इत्यादेः। अत आह —

ॐ नानुमानमतच्छब्दात् ॐ ॥ 1-3-1-66 ॥

द्युभ्वाद्यायतनमित्यस्ति। अनुमीयत इत्यनुमानशब्देन वा अनुमानशब्दाच्छैषिकेऽणि कृते अनुमानशब्देन वा अनुमानप्रधानपाशुपतसाङ्ख्यसिद्धरुद्रप्रधाने ग्राह्ये। रुद्रः प्रधानं च न द्युभ्वाद्यायतनम्। अतच्छब्दात्। तयोः रुद्रप्रकृत्योर्भस्मधरोग्रत्वत्रिगुणत्वादिशब्दानामभावादित्यर्थः। रुद्रपिनाक्यादिशब्दानां 'अन्यनाम्नां गतिर्विष्णुः' इत्यादेर्न तच्छब्दत्वमिति भावः। अतद्धर्मेतिवदयं निर्देशो बोध्यः। रुद्रप्रकृत्योर्द्वयोरुपादानाय वा टीकोक्तरीत्या पूर्वपक्षयुक्तिसूचनाय वा तदागमानाममानत्वसूचनाय वा वक्ष्यमाणादिशा वृत्त्यन्तरसूचनाय वा नानुमानमित्युक्तिः।

जीववायू किमत्र वाच्यौ न स्यातां जायमान इति लिङ्गात् 'वायुना वै गौतम' इत्यादेः। अत आह —

ॐ प्राणभृच्च ॐ ॥ 1-3-1-67 ॥

चशब्दान्नेति स्वशब्दादिहेतवश्चानुकृष्यन्ते। वायुश्च समुच्चीयते। आत्मशब्दमुक्तोपसृप्यत्वातच्छब्देभ्यो जीववायू न द्युभ्वाद्यायतनमित्यर्थः। जायमानादिशब्दोऽभिव्यक्त्यादिना विष्णौ युक्त इति भावः। जीव इति वाच्ये प्राणभृदित्युक्तिः सह प्राणैरित्युक्तप्राणभृत्त्वं तस्य युक्तमिति पूर्वपक्षयुक्तिसूचनाय। योगविभाग उत्तरार्थः। व्याकरणे रञ्जेश्चेत्यादिवत्।अत्र श्रुतौ जीवमात्रलिङ्गसत्त्वेन तदैक्यस्यैवाग्रे निरासात्। अत एवास्य स्वशब्देनोक्तिः।

ननूभयप्रापकाबाधेन जीवब्रह्माभेदोऽस्त्वित्यत आह —

ॐ भेदव्यपदेशात् ॐ ॥ 1-3-1-68 ॥

'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्' इतीहैव जीवब्रह्मभेदव्यपदेशान्नैक्यमित्यर्थः।

ईशशब्दं ब्रह्मेति कुतः? येन जीवब्रह्मभेदोक्तिः स्यादित्यत आह —

ॐ प्रकरणात् ॐ ॥ 1-3-1-69 ॥

'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति परविद्याविषयवस्तुन आरभ्याधीतत्वेन ब्रह्मप्रकरणादीशशब्दार्थो ब्रह्मेत्यर्थः॥

न केवलं श्रुतिबलाद्भेदः, लिङ्गादपीत्याह —

ॐ स्थित्यदनाभ्यां च ॐ ॥ 1-3-1-70 ॥

नैक्यमित्यस्ति। स्थितिः कर्मफलोपजीवनं विनाऽवस्थानम्। अदनं तदुपजीवनम्। ताभ्यां च जीवब्रह्मणोर्नैक्यमित्यर्थः। 'अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति जीवेशयोरदनतद्रहितस्थित्युक्तेरिति भावः। श्रुतावदनस्यादित्वेन अदनस्थितिभ्यामिति वाच्ये स्थितेरीशसम्बन्धित्वेनाभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च व्यत्यासः। अत्र नानुमानमतच्छब्दादित्यनुवृत्त्या अनुमानं भेदमिथ्यात्वे न मानम्। तद्विरुद्धमतत् भेदसत्यत्वम्। अतच्छब्दात् भेदसत्यत्वबोधकशब्दात्। अनुमानमूलभूतशब्दाभावाच्चेति वृत्त्यन्तरमुक्त्वा भेदमिथ्यात्वं निरसनीयमिति वदन्ति॥ 1 ॥

भूमाधिकरणम्॥ 1-3-2॥

ॐ भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॐ ॥ 1-3-2-71 ॥

अत्र तादृशभूमनाम समन्वीयते। 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इत्युक्तो भूमा तत्तु ब्रह्मैव। न तु प्राणः। कुतः? सम्प्रसादात् सम्यक् प्रसीदत्यनेनेति सम्प्रसादः पूर्णसुखम्। 'तत्सुखम्' इति पूर्णसुखत्वाभिधानात्। अध्युपदेशात्, अधि अधिकत्वेन नामादीनां सर्वेषामुपरि तदुत्तमत्वेन

व्यपदेशाच्चेत्यग्रेतनश्चकारोऽत्रानुकृष्यते। अत्र भूमेति पुंनिर्देशः प्राग्वत्। सम्बन्धभूमेत्यस्य भावार्थत्वेऽपीह भावभवित्रोरभेदात्पूर्णरूपभवित्रर्थत्वं बोध्यम्। पूर्णसुखत्वादिति वाच्ये सम्प्रसादादिति यौगिकोक्तिरीशस्य सुखित्वे दुःखित्वं स्यादिति न शङ्क्यम्। पूर्णसुखकार्येण प्रसादेन दुःखाभावनिश्चयादिति सूचयितुम्।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ धर्मोपपत्तेश्च ॐ ॥ 1-3-2-72 ॥

'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्' इत्युक्तसर्वगतत्वादिधर्माणामुपपत्तेश्च भूमा ब्रह्मैवेत्यर्थः। श्रुतौ सत्यस्यादित्वेऽपि सत्यादेः प्रणाड्या भूमायत्तत्वोक्तेः सर्वस्य ब्रह्मताप्तये भूम्न उक्तिरित्येके। सम्प्रसादादिहेतुयुतत्वाच्च। सैव हीत्यतो गतत्वं चान्यतोऽवसेयम्॥2॥

अक्षराधिकरणम्॥1-3-3॥

ॐ अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॐ ॥ 1-3-3-73 ॥

अत्राक्षरनाम समन्वीयते। 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' इत्युक्तमक्षरं तत्तु ब्रह्मैव न श्रीतत्त्वम्। अम्बरान्तधृतेः। अम्बरमाकाशशब्दितं श्रीतत्त्वमन्ते यस्य सर्वस्य तदम्बरान्तं तस्य धृतेर्धारणात्। श्रुतावाकाशाख्यचित्प्रकृतेः सर्वाधारत्वमुक्त्वा 'एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इत्यक्षरस्य तदाधारत्वश्रवणादित्यर्थः। अम्बरधृतेरित्येव पूर्तावन्तेत्युक्तिः पृथिव्यादिसर्वस्यापि प्रकृतिद्वारा ब्रह्मैवाश्रय इति सूचयितुम् 'पृथिव्यादिप्रकृत्यन्तम्' इति स्मृतेः। अम्बरस्य श्रीतत्त्वज्ञापनाय चेत्यप्याहुः। सर्वाश्रयत्वे सत्येकाश्रयत्वस्य तल्लिङ्गत्वादिति॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ सा च प्रशासनात् ॐ ॥ 1-3-3-74 ॥

उच्यत इति शेषः। सा धृतिश्च प्रशासनादक्षरस्याज्ञामात्रादुच्यते 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादौ। अतश्चाक्षरं ब्रह्मैवेत्यर्थः। न हि प्रेत्युक्तासङ्कुचितविषयत्वानन्यायत्तत्वरूपप्रकृष्टशासनमात्रेण सर्वधृतिरन्यस्य युज्यत इति भावः।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॐ ॥ 1-3-3-75 ॥

अन्येषां वस्तूनां भावानां स्थौल्यादिधर्माणां व्यावृत्तेः 'अस्थूलमनणु' इत्यादिनाऽक्षरे व्यावृत्त्युक्तेश्चाक्षरं ब्रह्मवेत्यर्थः। स्थौल्यादीति वाच्येऽन्यभावेत्युक्तिः स्थौल्यादिहीनमक्षरं ब्रह्म चेन्निःस्वभावं स्यादिति न शङ्क्यं, अन्यवस्तुस्वभावस्य प्राकृतस्यैव स्थौल्यादेर्व्यावृत्त्युक्तेरिति सूचयितुम्। न हि तादृशं निरपेक्षं स्थौल्यादिराहित्यमन्यस्य युज्यत इति भावः। यद्वा सुधारीत्या 'अस्थूलमनणु' इत्यादिना स्थौल्यादिविरुद्धाणुत्वमहत्त्वादिमत्त्वाच्चेति चशब्देन समुच्चीयते। बहुपदविषयं व्याख्यानं स्वशब्देन कृत्वा कतिपयपदविषयत्वादिदं व्याख्यानं चशब्देन समुच्चितम्। न च विरोधः। अन्यभावव्यावृत्तेरन्यवस्तुवैलक्षण्यात् वस्तुस्वभावस्यैव तादृशत्वादिति यावदिति वृत्त्यन्तरं बोध्यम्॥3॥

सदधिकरणम्॥1-3-4॥

ॐ ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॐ॥ 1-3-3-76 ॥

अत्र 'सदेव सोम्य' इत्यादिसृष्टिस्थानस्थसन्नाम समन्वीयते। योग्यतया सदित्यन्वेति। स इत्यनेन तच्चिति तुरन्वेति। 'सदेव' इत्यादौ श्रुतं सत् स एव विष्णुरेव। न प्रधानम्। ईक्षतिरूपं च तत्कर्म च तस्य व्यपदेशात् 'तदैक्षत' इतीक्षणाख्यव्यापारोक्तेर्जडे तदयोगादित्यर्थः। ईक्षतीत्येव वाच्ये कर्मेत्युक्तिः स्वरूपान्येक्षणाभावात्कथं तदैक्षतेति कर्तृत्वश्रुतिरिति न शङ्क्यम्। विशेषात् क्रियाकर्तृभाव इति सूचयितुम्। तत्त्वप्रदीपचन्द्रिकयोस्तु कर्मेति 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' इत्यत्रेव सृष्टिरुच्यते। ईक्षतिश्च कर्म च तयोरीक्षणसृष्टिक्रिययोरुक्तेरित्यर्थः। तत्त्वित्यनुवृत्तावपि स इत्युक्तिः 'एको नारायण आसीत्', 'स मुनिर्भूत्वा समचिन्तयत्' इत्यादिसमाख्यां सूचयितुमित्युक्तम् ॥4॥

दहराधिकरणम्॥1-3-5॥

ॐ दहर उत्तरेभ्यः ॐ ॥ 1-3-5-77 ॥

अत्र हृत्पद्मस्थत्वलिङ्गं समन्वीयते। तत्त्वित्यस्ति। द्युभ्वाद्यायतनमिति मण्डूकप्लुत्याऽन्वेति। पूर्वस्मात् सदिति च। 'उभे अस्मिन् ध्यावापृथिवी' इत्यादिनोक्तं द्युभ्वाद्यायतनं सत् दहरे 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इत्याद्युक्तदहरे हृत्पद्मे तत्तु ब्रह्मैव न जीवादिः। उत्तरेभ्यः 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्याद्युत्तरवाक्यस्थापहतपाप्मत्वादिधर्मेभ्य इत्यर्थः॥

इतश्चैवमित्याह—

ॐ गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॐ ॥ 1-3-5-78 ॥

दहरे तत्त्वित्यस्ति। गतिः सुप्तप्राप्तिः। शब्दो ब्रह्मशब्दः। ताभ्यां सुप्तगम्यत्वलिङ्गब्रह्मशब्दाभ्यामुक्तरूपदहरस्थं ब्रह्मैवेत्यर्थः।'अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति हृत्पद्मस्थस्य सुप्तप्रजाप्राप्यत्वोक्त्या ब्रह्मणो लोकमिति ब्रह्मलोकत्वोक्त्या च तस्थस्य सुप्तप्राप्यत्वं ब्रह्मशब्दवाच्यत्वं च सिद्धिमिति भावः। इतश्चैवमित्याह तथाहीत्यादिना। यथा गतिशब्दौ हृत्पद्मस्थगौ तथा लिङ्गमरण्याख्यसुधासमुद्राश्रयलोकवत्त्वरूपं लिङ्गं च हृत्पद्मस्थगं दृष्टं यतोऽतोऽपि दहरस्थं ब्रह्मेत्यर्थः। एतल्लोकवत्त्वं च विष्णौ प्रसिद्धमिति हेरर्थः।

'अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इत्युत्तरवाक्येऽरण्याख्यसुधा समुद्राश्रये विष्णुलोके प्रयुक्तस्य ब्रह्मलोकशब्दस्य हृत्पद्मे 'एतं ब्रह्मलोकम्' इति प्रयोगात् तत्स्थस्य तल्लोकवत्त्वमिति भावः। अस्य लिङ्गस्य हृत्मद्मस्थगतत्वं न स्पष्टमिति पृथगुक्तिः। अत एवास्य तत्स्थतां वक्तुं तथेत्युक्तिः। यद्वा ब्रह्मलोकमिति हृत्पद्मस्य विष्णुलोकत्वोक्त्या तत्स्थो विष्णुरित्युक्तम्। ब्रह्मलोकपदस्य विष्णुलोकवाचित्वं कुत इत्यत इदमुच्यते। लिङ्गं सुधासमुद्राश्रयलोकवत्त्वरूपलिङ्गं च दृष्टं तदाश्रयलोकवत्त्वं च विष्णुलोकलिङ्गं प्रसिद्धमिति हेरर्थः। हृत्पद्मे प्रयुक्तब्रह्मलोकपदमुत्तरत्र प्रयुज्य 'अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इति तदाश्रयलोकत्वोक्तेर्न सत्यलोको ब्रह्मलोकपदार्थ इति भावः। अत्र पक्षे ब्रह्मशब्दरूपहेतुसाधकत्वादस्य लिङ्गस्य पृथगुक्तिः॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॐ ॥ 1-3-5-79 ॥

धृतेर्धारणाच्च 'य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इति सर्वधारकत्वलिङ्गश्रवणाच्च दहरे ब्रह्मैव। एतल्लिङ्गं हृत्पद्मस्थगमिति। कुतः? अस्य हृत्पद्मस्थस्य महिम्नोऽपहतपाप्मत्वादेरस्मिन् वाक्ये उपलब्धेरित्येकोऽर्थः। 'य आत्मा' इति प्रागुक्तहृत्पद्मस्थात्मपरामर्शेन 'स सेतुः' इत्याद्युक्त्वा सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्याद्युक्तेरिति भावः। अन्यस्तु धृतिपदेन धृतियुक्तं वाक्यं गृह्यते। अस्मिन्निति च तन्त्रम्। चशब्द उपलब्धेश्चेत्यन्वेति। धृतेर्धृतिप्रतिपादकादेषसेतुर्विधारण इति वाक्यात् वाजसनेयसमाख्यानाद्दहरे ब्रह्मैवेति यावत्। तत्रापि ब्रह्मेति कुतः? अस्य विष्णोर्महिम्नः सर्वाधिपतित्वादेरस्मिन् हृत्पद्मस्थे अस्मिन् वाजसनेये उपलब्धेश्चेत्यर्थः। 'य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी' इत्याद्युक्त्वा 'एष सर्वेश्वर एष भूतपालः' इति विष्णुलिङ्गोक्त्या तस्य वैष्णवत्वं सिद्धमिति तत्समाख्यानाद्दहरे विष्णुरिति भावः।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ प्रसिद्धेश्च ॐ ॥ 1-3-5-80 ॥

'दहरं विपाप्मम्' इत्यादितैत्तिरीये विष्णोर्हृत्पद्मस्थत्वप्रसिद्धेश्च तत्समाख्यानाद्दहरे ब्रह्मैवेत्यर्थः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ इतरपरामर्शात् सः इति चेन्नासम्भवात् ॐ ॥ 1-3-5-81 ॥

'परञ्ज्योतिरुपसम्पद्य' इति प्रकृतस्येतरस्य जीवस्य परामर्शात् 'एष आत्मा' इत्येतच्छब्देन 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिनोक्त हृत्पद्मस्थस्यात्मत्वविधानाद्दहरे स जीव इति चेन्न। असम्भवात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्माणां हृत्पद्मस्थे श्रुतानां जीवे असम्भवात् 'एतदमृतमभयम्' इत्युक्तामृतत्वादेश्च असम्भवादित्यर्थः।

उक्तासम्भवमाक्षिप्याह —

ॐ उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॐ ॥ 1-3-5-82 ॥

तुरेव। स इति दहर इति चास्ति। नेति शेषः। उत्तरात् जीवस्य सत्यकामत्वप्रतिपादकात् 'स तत्र पर्यैति' इत्याद्युत्तरवाक्यात्। तत एवापहतपाप्मत्वादिसम्भवेन दहरे जीव इति चेन्न। आविर्भूतस्वरूपस्तु मुक्त एवोच्यते सत्यकामत्वेन तत्रेत्यर्थः। 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्युक्तेः। हृत्पद्मस्थस्य देहान्तर्वर्तितया मुक्तत्वायोगादिति भावः। मुक्तस्त्विति वाच्ये श्रौतमुक्तिस्वरूपोक्त्यार्थैवमुक्तिः। 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इत्युक्तेरुत्तरादिति साधु॥

एष आत्मेति जीवपरामर्शबलात् कथञ्चिज्जीव एव दहरस्थ इत्यत आह —

ॐ अन्यार्थश्च परामर्शः ॐ ॥ 1-3-5-83 ॥

च एव। अन्योऽर्थो विषयो यस्य सः। परञ्ज्योतिरित्युक्तज्योतिरूपब्रह्मविषय एव परामर्शः। परामृश्यात्मत्वविधानमित्यर्थः। एष इति पुल्लिङ्गं त्वन्त्यात्मापेक्षयेति भावः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ अल्पश्रुतेरिति चेत् तदुक्तम् ॐ ॥ 1-3-5-84 ॥

'दहरं पुण्डरीकम्' इत्यादिना अल्पस्य स्थानस्य श्रवणाद्दहरे सः न ब्रह्मेति चेत् नेति शेषः। तत् अल्पस्थानस्थत्वमुक्तं निचाय्यत्वादित्यादिना समाहितमित्यर्थः। व्योम्नोऽम्शतोऽल्पौकस्त्वं युक्तम्। विष्णोरंशस्यापि पूर्णत्वादिति विशेषशङ्कानिरासार्थमिदं स्मरणम्। तन्निरासश्च तदुक्तं तत्सर्वगतत्वेनैव

हृत्पद्मस्थत्वं 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या' इत्यादिश्रुतावुक्तमिति वृत्यन्तराद्बोध्यः। अचिन्त्यशक्तित्वाद्युज्यत इति भावः॥

अनुकृत्यधिकरणम्॥1-3-6॥

ॐ अनुकृतेस्तस्य च ॐ ॥ 1-3-6-85 ॥

अत्र ज्ञानार्थं प्रार्थितत्वरूपमानुकूल्येन गृह्यमाणत्वं लिङ्गं समन्वीयते। आनुकूल्येन गृह्यमाणमिति योग्यतयाऽन्वेति। अनुकृतिपदेनानुभानमुच्यते। तस्यापि क्रियात्वात्। तस्येति तन्त्रम्। 'कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति न भाति वा' इत्युक्तमानुकूल्येन गृह्यमाणं तत्तु ब्रह्मैव। न तु ज्ञानिसुखम्। कुतः? तस्याऽनूकूल्येन गृह्यमाणस्यानुकृतेः सूर्यादिभिरनुभानात्। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति तदधीनभानश्रवणात् सूर्यादेरिति यावत्। किञ्च तस्य, वाक्यप्रतीकं चैतत्, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति सर्वस्य तत्प्रकाश्यत्वोक्तेरित्यर्थः। चशब्देन 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्याद्युक्तसूर्याद्यप्रकाश्यत्वाच्चेति समुच्चीयते। 'कथं नु तद्विजानीयाम्' इति वाक्यशेषे तमिति तस्येति तत्रेति तच्छब्दैरानुकूल्येन गृह्यमाणं परामृश्य सूर्यादितेजोनियन्तृत्व-सर्वप्रकाशकत्व-सूर्याद्यप्रकाश्यत्वाख्यनिरवकाशलिङ्गत्रयोक्तेर्ब्रह्मैवेति भावः। अनुभानादिति वाच्ये अनुकृतेरित्युक्तिः सूर्यादिकृतमन्यदपि तपनादीशाधीनमिति दर्शयितुमित्युक्तं तत्त्वप्रदीपादौ। 'तापनी पाचनी चैव' इत्यादिस्मृतेः। श्रुतौ सूर्याद्यप्रकाश्यत्वस्यादित्वेऽप्यनुकृत्युक्तिः तमिति पुल्लिङ्गत्वात् कथं 'कथं नु तत्' इत्युक्तं तमित्यादिना परामृश्यत इति पूर्वपक्षमूलत्वाद्वा, क्रीयान्तरमपि तदधीनमिति ज्ञापयितुं वेति। अत एव 'किमु भाति' इत्युक्तदुर्ज्ञेयस्य 'न तत्र सूर्यो भाति' इति प्रत्यभिज्ञानात् सन्निहितपरामर्शिप्रातिपदिकप्राबल्याच्च तदेव परामृश्यत इति वक्तुं तस्यानुकृतेरित्याह। अन्यथाऽनुकृतेरित्येवावक्ष्यत्॥

पूर्वोक्तलिङ्गत्रयस्य वैष्णवत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यामाह —

ॐ आपि स्मर्यते ॐ ॥ 1-3-6-86 ॥

अपिः श्रूयत इति समुच्चिनोति। 'आहं तत्तेजो रश्मीत्' इत्यत्रतेज इति सर्वप्रकाशकत्वं रश्मीदिति सूर्यादितेजोनियन्तृत्वं श्रूयते। 'यदादित्यगतं तेजः' इति स्मृतौ 'मामकम्' इत्यनेन तद्वयम् स्मर्यते। मामकं मदधीनं मदीयञ्चेत्यर्थात्। 'न तद्भासयते सूर्यः' इति तृतीयं स्मर्यत इत्यर्थः। यद्वा यथाटीकं सूत्रद्वयं लिङ्गद्वयपरम्। स्मृताविव श्रुतौ विवक्षितार्थस्यास्फुटत्वात् सा अपिना समुच्चिता। स्मृतिस्तु स्वशब्दोक्ता। यद्वा पूर्वत्र चशब्दोऽनुकृतेस्तस्येत्युक्तसर्वप्रकाशकत्वाच्चेति हेतुद्वयसमुच्चये। अत्रापि

हेत्वन्तरसमुच्चये। 'न तद्भासयते' इति सूर्याद्यप्रकाश्यत्वं विष्णोः स्मर्यते। अतोऽप्यानुकूल्येन गृह्यमाणं ब्रह्मैवेत्यस्य वृत्त्यन्तरं बोध्यम्॥6॥

वामनाधिकरणम्॥1-3-7॥

ॐ शब्दादेव प्रमितः ॐ ॥ 1-3-7-87 ॥

अत्र नये ईशाननाम समन्वीयते। तच्च योग्यतयाऽन्वेति। तत्त्वित्यस्ति। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति', 'ईशानो भूतभव्यस्य' इत्युक्त ईशानो ब्रह्मैव प्रमितः। ईशानशब्दो ब्रह्ममात्रवाचित्वेन प्रमितो न तु वायुवाचित्वेनेत्यर्थः। 'मध्ये वामनमासीनम्' इति वामनशब्दादेवेत्यर्थः। एवेति प्राणादिव्यवस्थापकत्वादिवायुलिङ्गाच्छ्रुतेः प्राबल्यमुच्यते। प्रमित इति निरवकाशत्वम्॥

ननु कथमङ्गुष्ठमात्र इत्युक्त तन्मात्रत्वं ब्रह्मण इत्यत आह —

ॐ हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॐ ॥ 1-3-7-88 ॥

'अङ्गुष्टमात्र' इति योग्यतयाऽन्वेति। तत्त्वित्यस्ति। तुरेव। अप्यर्थे च। हृदीति तत्स्थावकाश उच्यते। हृत्स्थावकाशापेक्षयैव ब्रह्माख्यपुरुषोऽङ्गुष्ठमात्र उच्यते न तु स्वत इत्यर्थः। हृदयाकाशरूपस्थानगतं तद्गते विष्णावुपचयर्थ इति भावः। तन्मात्रपरिमाणतया व्यक्तहृत्स्थरूपापेक्षयेत्यपि मुख्योऽर्थः टीकातो भाति। पश्वादीनामङ्गुष्ठाभावेऽप्यङ्गुष्ठमात्र

इति विद्याया मनुष्याधिकारत्वात् 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इति युक्तमित्यर्थः। पश्वादिगतस्याङ्गुष्ठमात्रत्वानुक्तेरिति भावः॥7॥

देवताधिकरणम्॥1-3-8॥

ॐ तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॐ ॥ 1-3-8-89 ॥

अत्र देवानामधिकारोऽस्तीति प्रसङ्गादुच्यते। अधिकार इति विभागविपरिणामाभ्यामस्ति। तदुपरि तस्य प्रकृतस्य मनुष्यत्वस्योपरि विद्याकर्मभ्यां देवत्वप्राप्त्यनन्तरमपि। देवानामपीति यावत्। अधिकारोऽस्ति। कुतः? सम्भवात्। विशिष्टबुद्ध्यादेः सम्भवादिति बादरायण आहेत्यर्थः। बादराण इति विमतिसूचनाय। देवानामिति वाच्ये तदुपरीत्युक्तिर्देवत्वस्य सादित्वादिना मोक्षार्थिता युक्तेति सूचयितुम्। अपीत्यनेन न केवलं तेषां मनुष्यत्वदशायामित्याह। पुराणगुणेत्यत्र सनातव्येन च साहचर्यात् कृदन्ताव्ययेनैव समासनिषेधात्तदुपरीति साधु॥

तदुपरीत्यनेनोक्तं सादित्वं तावदाक्षिप्याह —

ॐ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॐ ॥ 1-3-8-90 ॥

तदुपरीत्युक्तदेवपदस्य सादित्वे कर्मणि कर्मविषये विरोधो व्यर्थता स्यात्। इन्द्रादिपदप्राप्तेः पूर्वमिन्द्रादिदेवताऽभावेन तदुद्देशेन हविस्त्यागायोगादिति चेन्न। अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। अनेकेषां योग्यमनुष्याणां प्रतिपत्तेः पूर्वं पूर्वं देवतापदप्राप्तेः 'यज्ञेन यज्ञम्' इति श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः। एतद्देवताभावेऽपि प्राप्तपददेवतान्तरसत्त्वान्न कर्मविरोध इति भावः॥

सान्तत्वमाक्षिप्याह —

ॐ शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॐ ॥ 1-3-8-91 ॥

विरोध इत्यस्ति। अतः शब्दः प्रकृतशब्दपरः। प्रभवशब्दस्तन्नियमावगमपरः। तदुपरीत्युक्तिलब्धसान्तत्वे देवपदस्योपप्लवे सति शब्दे नित्ये वेदरूपशब्दे अप्रामाण्याख्यविरोधः स्यात्। पश्चादिन्द्रादिदेवताभावेन वाच्यहीनस्य प्रामाण्यायोगादिति चेन्न। अतः शब्दात्। 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' 'यथैव नियमः काले' इत्यादिशब्दात् देवानां प्रभवनियमावगमात् प्रवाहरूपेण देवानां नित्यत्वान्न दोष इति भावः। शब्दे उपचरिताऽप्युक्तिः स्यादत उक्तं प्रत्यक्षेति। महतां प्रभवनियमप्रत्यक्षादन्येषामुपरितनकालो देववान् कालत्वादित्यनुमानात्तन्नियमावगमादित्यर्थः। नन्वत इत्येवालं किं प्रत्यक्षाद्युक्त्या। मैवम्। श्रुतावुपचारोक्तिनिरासार्थत्वादनुमानस्याप्ययोग्यजनार्थत्वात्। अत एव चशब्दाभावः। शब्दप्रत्यक्षानुमानेभ्य इत्यनुक्त्वा पृथगुक्तिश्च प्राङ्निर्देशश्च शब्दस्य जात्या प्राबल्यात्। कर्मणीव सादित्वयुक्तचोद्यसमाध्योः शब्दे, शब्द इव च सान्तत्वनिमित्तशङ्कोत्तरयोः कर्मण्यपि साम्येन विरोधः शब्दकर्मणोरिति चेदिति विन्यसितव्येऽपि कर्मणा देवत्वोक्तौ तर्हि कर्मणि विरोध इति तत्रैवोत्थिते चोद्ये शब्देनोद्धृते तर्हि शब्दे विरोध इत्यनन्तरं शङ्कोत्थानादाकाङ्क्षाक्रमाद्योगद्वयम्॥

अर्थापत्त्या देवप्रवाहनित्यत्वमाह —

ॐ अत एव च नित्यत्वम् ॐ ॥ 1-3-8-92 ॥

अत एव शब्दनित्यत्वादेव। तदन्यथानुपपत्त्यैवेत्यर्थः। नित्यत्वं देवप्रवाहस्येत्यर्थः। किं युक्त्यन्तरान्वेषणेनेत्येवार्थः। न केवलं शब्दात् किन्तु शब्दनित्यत्वान्यथानुपपत्त्या चेति चार्थः। न

हीन्द्रागच्छेत्यादिवाचो नित्यत्वं वाच्यानित्यत्वे युज्यत इति भावः। अर्थापत्तेरनुमानविशेषत्वात्पृथगुक्तिः॥

ननु देवानां प्रवाहनित्यत्वेऽपि नानानामरूपवत्त्वेनैकप्रकारवेदस्याप्रामाण्याख्यविरोधः स्यादित्यत आह—

ॐ समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॐ ॥ 1-3-8-93 ॥

तदुपरीत्यतो देवानामित्यन्वेति। प्राचीनदेवानां मुक्तत्वेन स्वस्वपदेष्ववृत्तावपि तदन्येषां तत्समाननामरूपत्वात्। तत्त्वप्रदीपरीत्या समानधर्मकत्वाच्चेति चशब्दार्थः। तत्प्रतिपादकैकविधवेदस्याप्रामाण्याख्याविरोधो नास्ति। तदेव कुत इति चेत् दर्शनात्। 'यथा पूर्वम्' इति श्रुतेः। 'अनादिनिधना नित्या' इत्यादिस्मृतेश्चेत्यर्थः। इन्द्रादिपदस्थत्वोपाधिना तानेव प्रतिपादयतीति भावः। श्रुतेः स्वरूपक्लृप्तिनियमपरत्वरूपान्यथासिद्धिनिरासकत्वात् स्मृतेः पृथगुक्तिः। चन्द्रिकायान्तु प्राचीनानां तत्पदस्थानां मुक्तानां सतामन्येषां तत्पदप्राप्तिः पुनस्तेषामपि मुक्तिरित्येवं मुक्तेरावृत्तावपीत्येकमर्थमुक्त्वा प्राचीनानां मुक्तत्वेन स्वस्वपदादावृत्तावपीति चेति तत्त्वप्रदीपोक्तमावृत्तावित्यस्यार्थान्तरमुक्तम्॥

देवानामधिकारमाक्षिपति —

ॐ मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॐ ॥ 1-3-8-94॥

देवानामित्यस्ति। 'असौ वा आदित्यो देवमधु' इत्याद्युक्तमधुज्योतिष्टोमादिविद्यासु देवानामनधिकारं जैमिनिर्मन्यत इत्यर्थः। मोक्षेतरवसुत्वादिफलकासु योग्यानां वसुत्वादिफलानामाप्तत्वादयोग्यानामकाम्यत्वेनार्थिताऽसम्भवादित्यर्थः॥

मोक्षार्थविद्यास्वधिकारः स्यादित्यत आह —

ॐ ज्योतिषि भावाच्च ॐ ॥ 1-3-8-95॥

चोऽप्यर्थे। देवानामित्यस्ति। ज्योतिःशब्दो ज्ञानपरः। देवानां ज्ञाने भावात्। वस्तूनामिति शेषः। समस्तवस्तुविषयीकरणादिति यावत्। देवानां सार्वज्ञ्येन मोक्षार्थविद्यास्वपि तत्साध्यज्ञानस्याप्तत्वेनाऽर्थिताऽसम्भवादनधिकारं मन्यत इत्यन्वयः। ज्ञाने भावादिति सर्वज्ञत्वादिति वा वाच्ये ज्योतिषीत्याद्युक्तिरादित्यप्रकाशे सर्ववस्तूनामन्तर्भाववदित्यर्थसूचनार्था।

योगद्वयोक्तमनधिकारचोद्यं समाधत्ते —

ॐ भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॐ ॥1-3-8-96॥

मध्वादिष्विति अधिकारस्येति देवानामिति चास्ति। तुर्विशेषे। बादरायणस्त्वित्यन्वयः। भावं देवानां मध्वाद्यशेषविद्यास्वधिकारस्य भावं मन्यते। कुतः? अस्ति हि। अतिशय इति शेषः। मोक्षफले तद्धेतुज्ञाने चातिशयोऽस्ति हि यतोऽतोऽतिशयार्थमित्यर्थः। अन्यथा योग्यस्य ज्ञानफलयोरतिशयस्यानवाप्त्यापत्तेरिति भावः। जैमिनिमतं तु प्राप्तज्ञानफलयोरर्थेऽनधिकार इत्यविरोधो बोध्यः॥8॥

अपशूद्राधिकरणम्॥1-3-9॥

ॐ शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाऽऽद्रवणात् सूच्यते हि ॐ ॥1-3-9-97॥

अत्र शूद्राणामधिकारो नेत्युच्यते। वेदविद्यास्विति प्रकृतम्। शूद्रस्येत्यर्थादन्वेति। अनधिकार इत्यस्ति। आद्यस्तच्छब्दः श्रुत्युक्तहंसपरः। अन्त्यः शुक्परः। तया शुचा आद्रवणान्निमित्ताच्छूद्रेत्युक्तपौत्रायणो मुनिना 'अह हारेत्वा शूद्र' इत्यादि श्रुतौ, न रूढ्या। अतः शूद्रस्यानधिकार इत्यर्थः। शुगेवास्य किं निमित्तेत्यत उक्तम् — शुगस्य तदनादरेति। 'कम्वर एनम्' इत्यादिना हंसकृतानादरश्रवणादस्य पौत्रायणस्य शुगित्यर्थः। कथं ज्ञायते शुगस्य जातेत्यत उक्तम्। सूच्यते हीति। हि यस्मात् 'सः सञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाच' इति व्यग्रत्वोक्त्या सूच्यते। अतः शुगस्य ज्ञायत इत्यर्थः। शुचा द्रवतीति निरुक्तत्वाद्धकारस्य दत्वे दीर्घे च शूद्र इति भवति। शुग्द्रेति वाच्ये श्रुतौ शूद्रेत्युक्तिः शोकाधिक्यज्ञापनाय। अत एव सूत्रे तद्द्रवणादिति वाच्ये तदाद्रवणादित्युकारव्याख्यानामाङाकृतम्॥

ननु श्रौतः शूद्रशब्दो रूढः किं न स्यादित्यत आह —

ॐ क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॐ॥ 1-3-9-98 ॥

अस्येत्यस्ति। आद्रवणादिति शूद्रस्यानधिकार इति च। चित्रश्चासौ रथश्च चित्रस्थस्तस्येदं चैत्ररथम्। भावप्रधानश्चेदं, तेन। उत्तरत्रास्याद्रवणादुत्तरवाक्ये पौत्रायणस्याद्रवणोक्त्यनन्तरं 'अयमश्वतरीरथः' इत्युत्तरवाक्ये श्रुतेन इत्यर्थः। चैत्ररथेन चैत्ररथत्वेन चित्ररथसम्बन्धित्वेन लिङ्गात् लिङ्गेनास्य पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वावगतेश्च शूद्रशब्दो न रूढ इति शूद्रस्यानधिकार इत्यर्थः। अश्वतरीयुक्तरथश्चित्रपदार्थः। 'रथस्त्वश्वतरीयुक्तश्चित्रः' इत्यादेः। रथेन लिङ्गेनेत्येव वाच्ये चित्रपदमपूर्वरथयोगात् क्षत्रियत्वसम्भावनार्थम्। चित्रेणेत्युक्तावपि तादृशरथेनेति सिद्धे रथोक्तिः

स्पष्टार्था। चित्रेति वाच्ये चैत्रेत्युक्तिः' 'हारेत्वा तव' इत्युक्तमुख्यस्वाभाविकसम्बन्धं द्योतयितुम्। तेन रथित्वमात्रस्य वैदिकमात्रेऽपि कथञ्चित् सम्भवाद्यभिचार इति न शङ्क्यम्। लिङ्गेनेति वाच्ये लिङ्गादित्युक्तिर्व्यत्ययात्, तृतीयापञ्चम्योर्हेतुरूपैकार्थत्वाद्वेति। उत्तरत्रेत्युक्तिस्तादृशरथबोधकवाक्यद्योतनाय। यद्वा शूद्रेति सम्बोधनादुत्तरत्रेत्यर्थः। तेन शूद्रश्रुतितोऽपि लिङ्गस्य चरमत्वेन प्राबल्यं सूचयति। चशब्दः 'श्रद्धादेयो बहुदायी' इत्यादिवाक्यशेषस्थलिङ्गान्तरसमुच्चयार्थ इत्यप्येके॥

इतश्च शूद्रस्यानधिकार इत्याह —

ॐ संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ॐ ॥ 1-3-9-99 ॥

अन्यार्थवचनं परामर्शः। अध्ययनाङ्गत्वेन 'तमध्यापयीत' इत्युपनयनाख्यसंस्कारपरार्शात् शूद्रस्य च 'नाग्निर्न यज्ञो न संस्कारः' इति श्रुतौ संस्काराभावाबिलापाच्च शूद्रस्य वेदविद्यानधिकार इत्यर्थः। यद्वा पूर्वसूत्रे रथस्य वेदव्याप्तत्वाद्वेदद्वारा लिङ्गत्वमभिमतम्। तद्वयं शूद्रेऽप्यस्त्वित्यतोऽयं योगः। वेदाङ्गसंस्कारभावाद्वेदाभावेन रथित्वं न चेति योज्यम्। शूद्रं नोपनयीतेति निषेधाभावादस्तु तस्यापि संस्कार इत्यतो वा।

इतश्च न संस्कार इति वाऽऽह —

ॐ तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॐ ॥ 1-3-9-100 ॥

चोऽवधारणे समुच्चये वा। तस्य प्रकृतशूद्रत्वस्याभावनिर्धारणे सत्येव प्रवृत्तेः। संस्कार इत्यस्ति। उपनयनसंस्कारे प्रवृत्तेश्च न निशेधाभाव इति वा न संस्कार इति वा योज्यम्। 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति' इति सत्यकामे शूद्रत्वाभावं निश्चित्यैव तदुपनयने प्रवृत्तत्वात्तेन लिङ्गेन निषेधाधिर्ज्ञायत इति भावः। अन्त्यपक्षे संस्काराभावे साध्ये नाग्निरिति प्रागुक्तश्रुत्या प्रवृत्तिरूपलिङ्गसमुच्चये चः॥

संस्काराभावेऽपि विशिष्टबुद्ध्यादिमत्त्वाद् द्विजवदधिकारः स्यादित्यत आह —

ॐ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॐ ॥ 1-3-9-101 ॥

अर्थपदेनार्थावधारणमुच्यते। वेदश्रवणाध्ययनार्थावधारणानां 'श्रवणे त्रपुजतुभ्याम्' इत्यादिना प्रतिषेधात् 'नाग्निर्न यज्ञः शूद्रस्य' इत्यादिस्मृतेश्च शूद्रस्यानधिकार इत्यर्थः। श्रुतौ शूद्रपदानुक्तेः पृथक् स्मृत्युक्तिः॥9॥

कम्पनाधिकरणम्॥1-3-10॥

ॐ कम्पनात् ॐ ॥ 1-3-10-102 ॥

अत्र वज्रनाम समन्वीयते। योग्यतया वज्र इत्यन्वेति। तत्त्वित्यस्ति। 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इत्युक्तवज्रो ब्रह्मैव। न त्विन्द्रायुधम्। कम्पनात् 'जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्' इति कम्पनवचनात् जगच्चेष्टकत्वलिङ्गादित्यर्थः॥10॥

ज्योतिरधिकरणम्॥1-3-11॥

ॐ ज्योतिर्दर्शनात् ॐ ॥ 1-3-11-103 ॥

अत्र ज्योतिर्नाम समन्वीयते। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' इत्युक्तं ज्योतिर्ब्रह्मैव। न तु जीवः। कुतः? दर्शनात् 'विष्णुरेव ज्योतिर्विष्णुरेव ब्रह्म' इति श्रुतेरित्यर्थः। प्राक् समन्वितत्वेऽप्युभयत्र प्रसिद्धत्वेन पृथगुक्तिः। एवमग्रेऽपि॥11॥

आकाशाधिकरणम्॥1-3-12॥

ॐ आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॐ ॥ 1-3-12-104 ॥

अत्राकाशनाम समन्वीयते। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्युक्ताकाशस्तत्तु ब्रह्मैव। न त्वव्याकृताकाशः। कुतः? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्। विलक्षणोऽर्थः। तस्य भावः। नामरूपराहित्यरूपविलक्षणार्थत्वव्यपदेशात् आदिपदाद्ब्रह्मत्वामृतत्वव्यपदेशादित्यर्थः। अर्थान्तरत्वमात्रोक्तावपि 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतम्' इति विषयवाक्ये सन्निहितत्वात् अनामरूपत्वरूपविशेषसिद्धिः। यद्वाऽर्थान्तरत्वमरूपत्वं आदिपदेनामतत्वं ग्राह्यम्। प्राकृतरूपराहित्यात् साकल्येन शब्दागोचरत्वरूपानामत्वाच्चेत्यर्थः। निरपेक्षहेतुत्वं सूचयितुं पृथगुक्तिः। श्रुतावनामत्वस्यादित्वेऽप्यरूपत्वोक्तिर्नाम्नोऽर्थसापेक्षत्वात्॥12॥

सुषुप्त्यधिकरणम्॥1-3-13॥

ॐ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॐ ॥ 1-3-13-105 ॥

अत्र स्वप्नादिद्रष्टृत्वलिङ्गं समन्वीयते। व्यपदेशादित्यस्ति। स्वप्नादिद्रष्टेति योग्यतयाऽन्वेति। 'स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति' इत्युक्तस्वप्नादिद्रष्टा तत्तु ब्रह्मैव। न जीवः। कुतः? 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यसङ्गत्वलिङ्गात्। न चाभेदेन लिङ्गोपपत्तिः।

‘प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः’ इति ‘प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः’ इति च सुषुप्त्युत्क्रान्तिप्रकरणयोः भेदेन जीवेशयोर्व्यपदेशादिति परम्परया योज्यम्॥13॥

ब्राह्मणाधिकरणम्॥1-3-14॥

ॐ पत्यादिशब्देभ्यः ॐ ॥ 1-3-14-106 ॥

अत्र ब्राह्मणनाम समन्वीयते। ब्राह्मण इति योग्यतयाऽन्वेति। ‘एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य’ इत्युक्तो ब्राह्मणस्तत्तु ब्रह्मैव। न विरिञ्चः। कुतः? ‘सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः। सर्वाधिपतिः’ इत्यादिसर्वाधिपत्यादिवाचिशब्देभ्य इत्यर्थः। अत्र श्रुतौ वशित्वस्यादित्वेऽपि भाष्योक्तश्रुत्यन्तरानुरोधात् पत्यादीत्युक्तम्। प्रत्येकं हेतुत्वज्ञापनाय बहुवचनमित्याहुः॥14॥

तृतीयपादसारसङ्ग्रहः

अत्राद्यनये अजस्याविर्भावाख्यजनिः, भूमनये सर्वगतस्यापि परिस्पन्दक्रिया, अक्षरनये महतोऽप्यणुत्वम्, ईक्षतिनये स्वरूपैरेव बहुभवनम्, दहरनये ईशांशस्यापि व्याप्तता, अनुकृतिनये सूर्यादिकृतेरीशायत्तत्वम्, शब्दादिति नये प्राणप्रेरकत्वं श्रुत्यादेः पूर्वपूर्वप्राबल्यं च, देवतानये देवर्ष्यादीनां कर्मब्रह्मविद्ययोरधिकारः, शुगिति नये वेदविद्यायामेव शूद्रस्यानधिकारः, कम्पनादिति नये रूढितः स्मार्तयोगस्य प्राबल्यम्, ज्योतिर्नये जीवेन सहेशस्य लोकान्तरसञ्चारस्य कर्मानधीनत्वम्, सुषुप्तिनये निर्लेपत्वम्, अन्त्यनये विरिञ्चैक्यनिरास इत्यादि सिद्धमिति विवेक्तव्यम्॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥ 1-3॥

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥1-4॥

अस्मिन् पादेऽन्यत्रैव प्रसिद्धद्विविधशब्दसमन्वय उच्यते।

आनुमानिकाधिकरणम्॥1-4-1॥

ॐ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॐ ॥ 1-4-1-107 ॥

अत्रैश्वर्यविरोध्यवरत्वदुःखित्वाद्यर्थकशब्दाः समन्वीयन्ते। अत्राव्यक्तजीवबद्धादिशब्दो योग्यतयाऽन्वेति। अपिरेवार्थे। आनुमानिकमिति जीवादेरुपलक्षणम्। तत्त्वित्यस्ति। ‘अव्यक्तात् पुरुषः परः’, ‘जीवा एव तु दुःखिनः’ इत्युक्ताव्यक्तादिशब्दैरानुमानिकमप्यनुमानगम्यम्, शैषिकष्ठक्, प्रधानादिरेव केषाञ्चिच्छाखासूच्यत इति चेन्न। अव्यक्तादि तत्तु परममुख्यवृत्त्या ब्रह्मैव। न प्रधानादि।

कुतः? दर्शयति श्रुतिः। चशब्देन स्मृतिः। 'अव्यक्तमचलं शान्तम्' इति श्रुतिः। 'अव्यक्तोऽक्षर उच्यते' इति स्मृतिश्च। तथा 'अनेन जीवेनात्मना' इति श्रुतिः। 'जीवो विनयिता साक्षी' इति स्मृतिश्चाव्यक्तादि ब्रह्मेति यतो दर्शयति तस्मादित्यर्थः। विष्णोरेवाव्यक्तादिशब्दवाच्यत्वे कथमन्यत्र व्यवहार इत्यत उक्तम्। शरीरेति। शरीरस्य रूपमिव रूपं यस्य तच्छरीररूपं, कुत्सितं शरीररूपं शरीररूपकं प्रधानादि तत्र विन्यस्तस्य स्थितस्य विष्णोरव्यक्तादिपदेन गृहीतेरित्यर्थः। विन्यस्तेत्युक्त्या अव्यक्तादिशब्दवाच्यब्रह्मसम्बन्धात् प्रधानादावव्यक्तादिशब्दव्यवहार इति दर्शितम्। वैपरीत्यं किं नेत्यतः शरीरेति। जीवशरीरं यथा तत्तन्त्रं तथा प्रधानाद्यपि ब्रह्मतन्त्रमिति। मुख्यशरीरं कुतो नेत्यतः केति। न हि कुत्सितं मुख्यशरीरं भवतीति भावः। स्थितेति वाच्ये विन्यस्तेत्युक्तिः प्रधानादिविशिष्टस्यैवाव्यक्तादिपदेन गृहीतिर्न केवलस्येति वक्तुम्॥

श्रौतस्मार्तप्रयोगेऽप्यव्यक्तादिशब्दस्य विष्णौ मुख्यत्वं कुत इत्यत आह —

ॐ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॐ ॥ 1-4-1-108 ॥

तुरेव। सूक्ष्ममेव वस्त्वव्यक्तशब्दवाच्यमित्यर्थः। अव्यक्तत्वस्यैव तच्छब्दनिमित्तत्वात् कथमेतदित्यत उक्तम् — तदर्हत्वात्। तदिति तन्त्रम्। तस्य सूक्ष्मस्य तस्य प्रकृताव्यक्तत्वस्यार्हत्वादित्यर्थः। सूक्ष्मस्यैवाव्यक्तशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताव्यक्तताऽर्हत्वात् तदव्यक्तशब्दवाच्यं ब्रह्मैव। 'यत्तत्सूक्ष्मम् परमं वेदितव्यम्' इत्यादेः सूक्ष्मतममित्यव्यक्त शब्दमुख्यार्थ इति भावः। जीवादिपदनिमित्तप्राणधारकत्वादेरुपलक्षणमेतत्।

ननु विष्णोरव्यक्तादिशब्दमुख्यार्थत्वेऽपीह परत्वावधित्वार्थक पञ्चम्याक्षिप्तावरत्वदुःखित्वादेश्चायोगेन पञ्चम्यादेः व्यर्थतापत्तेर्नाव्यक्तादिशब्दवाच्यं ब्रह्मेत्यत आह —

ॐ तदधीनत्वादर्थवत् ॐ ॥ 1-4-1-109 ॥

अवरत्वाक्षेपकाविधित्वादिवाचिपञ्चम्यादिशब्दजातमित्यन्वेति। अर्थवत् परब्रह्मण्यर्थवत् न व्यर्थम्। कुतः? तदधीनत्वात्। अवरत्वदुःखित्वादितन्निमित्तधर्माणां तस्य विन्यस्तपदेन प्रकृतस्य ब्रह्मणोऽधीनत्वादित्यर्थः। ब्रह्मण्यवरत्वादेरभावेऽपि अन्यगतावरत्वादेः तदधीनत्वात्तत्र तद्वाचिशब्दो राज्ञि जयिशब्दवदस्तीति भावः।

इतश्च मुख्यतोऽव्यक्तादिशब्दवाच्यं ब्रह्मेत्याह—

ॐ ज्ञेयत्वावचनाच्च ॐ ॥ 1-4-1-110 ॥

अव्यक्तजीवादिशब्दमुख्यार्थो ब्रह्मैव। नानुमानिकादिः। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ब्रह्मण एव मुमुक्षुज्ञेयत्वोक्त्यनुक्तिभ्यां मोक्षार्थवेदानां ब्रह्मपरत्वसिद्धौ प्रतिवाक्यं तत्परत्वस्य 'आदावन्ते च मध्ये च' इत्यादिना सिद्धेः स्वतःप्राप्तमुख्यवृत्तित्यागायोगात् अव्यक्तादिशब्दमुख्यार्थो ब्रह्मैवेति भावः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ वदतीती चेन्न प्राज्ञो हि ॐ ॥ 1-4-1-111 ॥

ज्ञेयत्वावचनमन्यस्यापि सिद्धम्। यतो 'महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' इति महत्परत्वलिङ्गेन प्रधानस्यापि मुमुक्षुज्ञेयत्वं वदति श्रुतिरिति चेन्न। प्राज्ञो हि। यस्मात् प्राज्ञो विष्णुरत्र उच्यत इत्यर्थः। सर्वतः परे महत्परत्वं युक्तमिति भावः॥

विष्णुर्ग्रहणे किं कारणमित्यत आह —

ॐ प्रकरणात् ॐ ॥ 1-4-1-112 ॥

'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इति प्रकरणोक्तार्थोपासकस्य विष्णुपदप्राप्त्युक्त्या निर्णीतात्प्रकरणात् प्राज्ञस्तत्रोच्यत इत्यन्वयः॥

इतश्च प्राज्ञ एव निचाय्यवाक्योक्त इत्याह —

ॐ त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॐ ॥ 1-4-1-7-113 ॥

आद्यचशब्दो युक्तिसमुच्चये। न केवलं प्रकरणादिति। अन्त्यः प्रश्नोपन्याससमुच्चये। प्राज्ञ इत्यस्ति। बुद्धिस्थत्वात् एतदुपनिषदीत्यन्वेति। एवं 'वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्' इति 'स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्' इति, 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल' इत्येवं प्रकारेण त्रयाणां पितृसौमनस्य-स्वर्ग्याग्नि-ब्रह्मणामेवोपन्यासो यतोऽतश्च प्राज्ञ एव तत्र उच्यत इत्यर्थः। त्रयाणामेवेति कुत इत्यत उक्तम् — प्रश्नश्चेति। 'सुमना यथा स्याद्वीतमन्युः' इति, 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो ब्रूहि तम्' इति, 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये' इति चैतत् त्रितयविषय एव प्रश्नश्च यतोऽत उपन्यासस्त्रितयविषय इत्यर्थः। आद्यश्चो हेतौ। अन्त्यः समुच्चय इत्येके। प्रश्नस्यादित्वेऽपि प्रतिवचनस्थनिचाय्यवाक्यस्य प्रधानपरत्वशङ्कनात् तन्निरसितुमुपन्यासस्यादावुक्तिः। त्रयाणामेव चेत्येव पूर्तावेवमित्युक्तिः त्रयमध्ये प्रधानस्य न निवेश इति दर्शयितुं प्रकारत्रयोक्त्यर्थो। उपन्यासस्योक्तत्रयविषयत्वसिद्धौ प्रश्नोक्तिः।

ननु प्रवृत्तिनिमित्तसत्त्वेऽपि प्रयोगप्राचुर्याभावान्मुख्यतो नाव्यक्तादिशब्दं ब्रह्मेत्यत आह —

ॐ महद्वच्च ॐ ॥ 1-4-1-8-114 ॥

चशब्दादव्यक्तादिशब्दं ब्रह्मेवेति समुच्चीयते। महद्वत् महच्छब्दं ब्रह्म यथा तथेत्यर्थः। महच्छब्दो महत्तत्त्वे प्रयोगप्राचुर्यवत्त्वेन ब्रह्मणि तद्धीनोऽपि 'महान्तं विभुमात्मानम्' इत्यादौ यथा महत्त्वरूपतत्प्रवृत्तिनिमित्तसत्त्वान्मुख्यः तथाऽव्यक्तादिशब्दोऽन्यत्र प्रसिद्या ब्रह्मणि तदभावेऽपि निमित्तातिशयान्मुख्य इति बावः।

महच्छब्देऽपि विप्रतिपन्नं प्रति दृष्टान्तान्तरमाह —

ॐ चमसवदविशेषात् ॐ ॥ 1-4-1-9-115 ॥

अव्यक्तादि ब्रह्मैवेत्यस्ति। चमसशब्दो यज्ञपात्रे प्रसिद्धोऽपि यथा शिरसि मुख्यस्तथाऽव्यक्तादिरपि ब्रह्मैव तत्र मुख्य इत्यर्थः। ननु 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न' इत्यनुशासनसत्त्वात्तस्य तथात्वेऽप्यत्य कुत इत्यत उक्तम् — अविशेषात्। 'नामानि सर्वाणि' इति श्रुतेः 'इदं तच्छिरः' इति श्रुत्या अविशषात् तत्साम्यात्। अस्या अप्यनुशासनरूपत्वादिति यावत्। समन्वयस्य गुणपूर्त्यर्थत्वेऽप्यत्र दोषवाचिनां तदुक्तिः 'प्राण ऋच इत्येव विद्यात्' इत्यादौ सर्वशब्दवाच्यत्वस्यापि मुमुक्षुज्ञेयत्वोक्तेरिति बोध्यम्। स्पष्टमेतदग्रे कल्पनेत्यत्र॥ 1 ॥

ज्योतिरुपक्रमाधिकरणम्॥ 1-4-2॥

ॐ ज्योतिरुपक्रमात् तु तथा ह्यधीयत एके ॐ॥ 1-4-2-10-116 ॥

अत्र सर्वे शब्दा वर्णपदादिरूपेण समन्वीयन्ते। तत्त्वित्यस्ति। तुरेव। ल्यब्लोपनिमित्ता पञ्चमी। हिर्हेतौ। 'ज्योतिषा यजेत' इत्युक्तज्योतिरादिः तत्तु परममुख्यवृत्त्या ब्रह्मैव। न तु कर्मादिः। कुतः? हि यस्मादेके शाखिनः, तदित्यावर्तते, तद्ब्रह्म तथा सर्वशब्दवाच्यत्वेन 'ता वा एतास्सर्वा ऋचः' इत्यादिनाऽधीयते पठन्ति तस्मादित्यर्थः। कया वृत्त्येत्यत उक्तम् — उपक्रमात्त्विति। उपक्रमं विधायैव। 'एष इमं लोकमभ्यार्चत्' इत्युपक्रम्यैव 'ता वा एता' इति अधीयत इति उपलक्षणत्वेन कांश्चिदृष्यादिशब्दान् ब्रह्मणि योगिकत्वाद्युक्त्योपक्रम्य सर्वशब्दानां तन्निष्ठतोक्तेर्महायोगरूढिवृत्त्या तद्वाचित्वमिति भावः। श्रुतौ वसन्तादेरादित्वेऽपि प्रधानकर्मवाचित्वेन प्राधान्यादन्योपलक्षणत्वेन ज्योतिरुक्तिः। महायोगविद्वद्रूढ्योः प्रदर्शनायोपक्रमात्त्वित्युक्तिः।

ननु कथं ज्योतिरादिसर्वशब्दवाच्यं ब्रह्म? कर्मक्रमादिविरोधात् व्युत्पत्त्यसम्भवाच्चेत्यत आह —

ॐ कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॐ ॥ 1-4-2-11-117 ॥

च एव समुच्चये वा। कल्पनेति तन्त्रम्। कल्पनां क्लृप्तिम्। लोकसिद्धरूढ्यादिवृत्तिक्लृप्तिमुपेत्यैव कल्पनया व्युत्पादनेन लोकक्लृप्तमहायोगवृत्तेर्व्युत्पादनेन सर्वशब्दवाच्यत्वेन 'ता वा' इत्यादिनोपदेशात्। कल्पनायाः सर्वशब्दवाच्यत्वेनोपासनायाः 'प्राण ऋच इत्येव विद्यात्' इत्यादावुपदेशादविरोधश्च। न केवलं साधकमस्ति, कर्माद्यननुष्ठानविरोधश्च नेत्यर्थः। मध्वादिवत्। यथा 'असावादित्यो देवमधु' इति मधुशब्दस्यादित्यस्थविष्णौ उपासनार्थमुक्तावपि न क्षौद्रकादौ व्यवहारविरोधस्तद्वदित्यर्थः। एवार्थचशब्दस्य उपेत्यैवेत्याद्याहृतेनान्वयः। योग्यतया कल्पनापदेन वा उपदेशादेवेति वाऽन्वय इत्येके। तथा चान्यत्रापि वृत्त्यङ्गीकाराद् व्युत्पत्त्यादि युज्यत इति भावः। पूर्वोत्तरनयशेषत्वेप्यस्य योगस्यात्र निवेशो व्युत्पत्त्युक्त्यर्थः ॥2॥

न शङ्ख्योपसङ्ग्रहादिकरणम्(पञ्चजनाधिकरणम्) ॥1-4-3॥

ॐ न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॐ ॥1-4-3-12-118 ॥

अत्र बहुत्ववाचिशब्दाः समन्वीयन्ते। अपिर्विभागेन विरोधपदाकर्षणार्थः। आधाराधेयभावसमुच्चयार्थो वा। पञ्चजना इति योग्यतयाऽन्वेति। तत्त्वित्यस्ति। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इत्युक्तपञ्चपञ्चेति विशेषणयुक्ता जनाः तत्तु ब्रह्मैव परममुख्यवृत्त्या। न प्राणः चक्षुश्रोत्रमनांसि। कुतः? तदधीनत्वज्ञेयत्वावचनादिविशेषाद्युक्तहेतुभ्यः। अग्रेतनहेतोश्चेति भावः। एवं तर्हि पञ्चेत्युक्तबहुत्वसङ्ख्यादिविरोध इत्यतः सूत्रम् — सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि। पञ्चेति बहुत्वसङ्ख्योपसङ्ग्रहात् यस्मिन्ब्रह्मणीत्युक्ताधाराधेयभावादपि न विरोधः। कुतः? नानाभावात्। नानाशब्दो भिन्नवाची। नानारूपाणां भावात् सत्त्वादतिरेकाच्च भेदाच्च जना इत्युक्तरूपापेक्षया यस्मिन्नित्युक्तशरीरस्थरूपस्यातिरिक्तत्वाच्चेति द्वयोः क्रमेण निरासः। प्रागुक्तहेतुभिरेवेहापि ब्रह्मत्वसिद्धेः बाधकमात्रमुद्धृतम्। एवमग्रेऽपि। अत्र भेदो विशेषो बोध्यः। अत्राविरोधपक्षमनुवर्त्य नेत्यवक्तुं शक्यत्वेऽपि तदुक्तिः सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादिषष्ठीनिर्दिष्टप्राणादयो न पञ्चजना नानाभावात् तेषां प्रतिशरीरं नानात्वेन पञ्चत्वायोगात्। न ह्येकस्मिन् देहे एक एव प्राणादिरित्यादिवृत्त्यन्तरं चन्द्रिकोक्तदिशा ज्ञापयितुं सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि यो विरोधः स नेत्वन्वयलाभायचेति॥

के ते पञ्चत्वाश्रयरूपविशेषाः, कुतश्च हेतुविशेषात्ते ब्रह्मेत्यत आह —

ॐ प्राणादयो वाक्यशेषात् ॐ ॥ 1-4-13-119 ॥

पञ्चजना इत्यस्ति। 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः' इत्यादि द्वितीयान्तनिर्दिष्टप्राणचक्षुः श्रोत्रान्नमनःशब्दिताः पञ्चजनाः 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादिवाक्यशेषादित्यर्थः। अत्र प्राणप्राणदत्वादिलिङ्गात् पञ्चजना ब्रह्मरूपविशेषा इत्युक्तं भवति। तेन पञ्चजनस्वरूपोक्तिः व्यर्थेति न शङ्क्यम्। उत्तरार्थत्वाच्च। न ह्येतदनुक्तौ ज्योतिषेत्याद्युक्तिर्युक्ता॥

वाजसनेये वाक्यशेषे पञ्चजना न श्रूयन्त इत्यत आह —

ॐ ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॐ ॥ 1-4-14-120 ॥

एकेषां काण्वानां शाखायामन्ने अन्नाख्यरूपे असत्यपि ज्योतिषां ज्योतिरिति प्रागुक्तज्योतिषा पञ्चत्वं बोध्यमित्यर्थः। ज्योतिषेत्येकवचनोक्त्या न षष्ठ्यन्तज्योतिरादेः पञ्चजनत्वमिति सूचितम्। द्वयोरेकार्थत्वं वा अधिकारिभेदात् पञ्चकद्वयं वेति भावः॥3॥

आकाशाधिकरणम्॥1-4-4॥

ॐ कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॐ॥ 1-4-4-121 ॥

अत्रावान्तरकारणत्वलिङ्गं वा तादृशाकाशादिनाम वा समन्वीयते। आकाशादिसमुच्चयाकश्चः। कार्यत्वसमुच्चायको वा। आकाशादिष्वित्यावृत्तिः। तत्त्वित्यस्ति। न विरोध इति च। 'आत्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादौ कारणत्वेन कार्यत्वेन चोक्ताकाशादिश्च परममुख्यवृत्त्या ब्रह्मैव न केवलं मूलकारणात्मेत्यर्थः। न तु भूतादिः। कुतः? प्रागुक्तहेतुभ्य इत्यर्थः। न च कार्यकारणभावस्य द्युभ्वादिनयरीत्या व्यङ्ग्यव्यञ्जकरूपत्वेऽप्येकस्य विरोध इति शङ्क्यम्। आकाशादिषु स्थितत्वादिति शेषः। न विरोध इत्यर्थः। आकाशाद्युत्पत्तौ तदन्तस्थत्वेन तस्याप्यभिव्यक्त्या कार्यत्वं, वाय्वादिस्थरूपव्यक्तिहेतुत्वेन कारणत्वं च युक्तमिति भावः। आकाशादिषु स्थितत्वमेव कुत इत्यत उक्तम् — यथेति। यथा येन प्रकारेणाविदितत्वादिना 'स योऽतोश्रुत' इत्यादौ व्यपदिष्टस्तस्योक्तेराकाशादिषु 'य आकाशे तिष्ठन् यो वायौ तिष्ठन्' इत्यादावित्यर्थः। उक्तेरित्येव वाच्ये यथा व्यपदिष्टेत्युक्तिः 'आकाशे तिष्ठन्' इत्यादावपि आकाशादौ स्थितं ब्रह्मेति कुत इति न शङ्क्यम्, श्रुत्यन्तरोक्ताविदितत्वप्रकारस्य 'यमाकाशो न वेद' इत्यादिश्रवणादित्यन्तर्यामिनयोक्तन्यायस्मरणार्था॥4॥

समाकर्षाधिकरणम्॥1-4-5॥

ॐ समाकर्षात् ॐ ॥ 1-4-5-122 ॥

अत्र नये ज्योतिर्नय इव सर्वशब्दा न्यायभेदेन समन्वीयन्ते। तत्त्विति प्रकृतं ब्रह्म तत इत्यन्वेति। न विरोध इत्यस्ति। वक्ष्यमाणं जगत्पदमाकृष्यते। सर्वशब्दानामिति शेषः। पूर्वोक्तहेतुभिः ब्रह्मवाचित्वेऽन्यत्र रूढ्यादिना व्यवहारे च सिद्धे बाधकनिरासार्थमिदं सूत्रम्। सर्वशब्दानां ततो ब्रह्मणः सकाशाज्जगति सम्यगाकर्षान्न वृत्तिसाम्यापत्त्या तत्त्वित्यवधारणविरोध इत्यर्थः। समाकर्षोक्त्या विष्णौ परममुख्यवृत्तिरन्यत्र मुख्यवृत्तिरिति मुख्यतारतम्यसूचनात् तत्त्वित्यवधारणोपपत्तिरिति भावः। समित्युक्तिरन्यत्र मुख्यत्वमेव न लक्षणादिरिति सूचनाय। साक्षादित्यत्र विष्णुवाचिनां जगति प्रयोगे हानादिव्यवहारः फलमिति, शरीरेत्यत्र तत्तच्छब्दवाच्यब्रह्मसम्बन्धस्तत्र निमित्तमिति, कल्पनेत्यत्र रूढ्यादिरस्तीति, अत्र तु मुख्यवृत्तितारतम्यमस्तीत्युक्तमिति ध्येयम्।

विष्णावुत्कृष्टवृत्तौ कथं जगति प्रसिद्धिरित्यत आह —

ॐ जगद्वाचित्वात् ॐ ॥ 1-4-5-123 ॥

शब्दानामित्यस्ति। जगद्वाचित्वादित्यावर्तते। द्वितीयं ज्ञानपरम्। शब्दानां जगद्वाचित्वाल्लोकानां जगति व्यवहाराद्धेतोर्जगद्वाचित्वात् जगद्वाचित्वज्ञानात्तत्र प्रसिद्धिरिति शेषः। लोकानां जगत्येव शब्दव्यवहारेण तत्रैव व्युत्पत्तिबलात्तत्र प्रसिद्धिर्ब्रह्मणि मुख्यत्वाज्ञानमूलेति भावः।

उक्तमाक्षिप्याह—

ॐ जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिति चेत् तद्व्याख्यातम् ॐ ॥ 1-4-5-124 ॥

तदधीनत्वादर्थवदिति नेति च मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तते। शब्दजातं सर्वस्य तदधीनत्वात्तत्रार्थवदिति न युक्तम्। 'अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति' इति जीवे क्वचित्, 'वायुनैव हि लोका नेनीयन्ते' इति वायौ सर्वत्र तदधीनत्वरूपलिङ्गं श्रूयते। तस्माल्लिङ्गात्तयोरपि शब्दजातमर्थवत्। मुख्यतस्तयोरपि वाचकमिति चेन्न। यतस्तल्लिङ्गं व्याख्यातं तदन्तर्यामिसम्बन्धितयेत्यर्थः।

ननु न वैदिकशब्दानां मुमुक्षुं प्रति कर्मदेवतादौ समाकर्षेण फलं तस्य फलान्तरानिच्छुत्वात् मोक्षस्य ब्रह्मज्ञानादेव सिद्धेरत आह —

ॐ अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॐ ॥ 1-4-5-125 ॥

जगद्वाचित्वमित्यस्ति। शब्दानामिति च। अन्येति प्रकृतजीवाद्यन्यब्रह्मवाची सन् तज्ज्ञानपरः। तुरेव। शब्दानां जगद्वाचित्वं वैदिकशब्दानां मुमुक्षुं प्रति कर्मदेवतादिजगद्वाचित्वं अन्यार्थं तु

ब्रह्मज्ञानार्थमेव। कुतः? 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इति शौनकप्रश्नात्। 'तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये' इत्यङ्गिरसो व्याख्यानात्ताभ्यां हेतुभ्यामित्यर्थः। तथा 'कथं नु भगवस्स आदेशः' इति, 'यथा सौम्यैकेन' इति श्वेतकेतूद्दालकप्रश्नव्याख्यानाभ्यामित्यर्थः। कस्मिन् ज्ञाते सर्वज्ञानं सफलं भवतीति प्रश्ने परविद्याविषयब्रह्मज्ञानेन भवतीति व्याख्यानतात्पर्यादिति भावः। अपि च न केवलमर्थादेतत्सिध्यति। किन्तु स्पष्टं चैवमेके शाकिनो 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' इति पठन्तीत्यर्थः।

वैदिकशब्दानां जगद्वाचित्वमन्यार्थमिति न युक्तम्। प्रतिपदं ब्रह्मपरत्वोक्त्याऽपि ब्रह्मज्ञानसिद्धेरत आह —

ॐ वाक्यान्वयात् ॐ ॥ 1-4-5-126 ॥

निमित्तपञ्चमीयम्। वैदिकशब्दनामन्यार्थं जगद्वाचित्वमित्यस्ति। कुतः? वाक्यान्वयान्निमित्तादित्यर्थः। कर्मदेवतादिवाचितया स्थितवाक्यानामन्ततो ब्रह्मपरत्वमित्येवंरूपवाक्यान्वयाभावे मन्दानां प्रतिपादान्वययोग्यतया तत्र वैमुख्यमित्यादिदोषः स्यादिति भावः॥

अन्यार्थं जग्वाचित्वमित्युक्तम्। तत्कथमित्यत आह —

ॐ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॐ ॥ 1-4-5-127 ॥

जगद्वाचित्वमन्यार्थमित्यस्ति। प्रतिज्ञासिद्धेः 'नान्यः पन्था अयनाय' इति ज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति प्रतिज्ञातार्थनिश्चयस्य लिङ्गं शब्दानां जगद्वाचित्वं लिङ्गं जनकं सत् अन्यार्थं भवतीत्याश्मरथ्यो मन्यत इत्यर्थः। सविस्तरं कर्मादिस्वरूपे प्रतिपादिते सति कर्माणां क्षुद्रफलकत्वज्ञानात् तज्ज्ञानेनाक्षुद्रफलकं ज्ञानमेवोपादेयमिति वैराग्यजननद्वारा ब्रह्मज्ञानार्थं भवतीति भावः॥

जगद्वाचित्वमन्यार्थमित्येतत् प्रकारान्तरेणाप्याह —

ॐ उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॐ ॥ 1-4-5-128 ॥

शब्दानां जगद्वाचित्वमन्यार्थं ब्रह्मज्ञानार्थम्। कथम्? उत्क्रमिष्यतः बन्धात् ज्ञानेनोत्क्रमणमिच्छतः पुंसः मुमुक्षोरेवं ज्ञानहेतुतया कर्मादेर्भावादवश्यम्भावात्। आवश्यकत्वादिति यावत्। इत्यौडुलोमिर्मन्यत इत्यर्थः। 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादेर्मनश्शुद्ध्यर्थतयोपादेयत्वात् कर्मणस्तद्वाचित्वम्। मनश्शुद्धिद्वारा ज्ञानार्थमिति बावः॥

अन्यार्थं जगद्वाचित्वमित्येतदन्यथाप्याह —

ॐ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॐ ॥ 1-4-5-129 ॥

ब्रह्मणीति प्रकृतं ब्रह्मान्वेति। कर्मदेवतादिजगतो ब्रह्मण्यवस्थितेः, अन्यार्थम् 'एष सेतुर्विधारणः' इत्यादिना सर्वाधारत्वप्रकारक ब्रह्मज्ञानोत्पत्त्यर्थम् आधेयरूपकर्मादिजगद्वाचित्वमिति काशकृत्स्नो मन्यत इत्यर्थः। शिष्यप्रसिद्ध्यर्थं जैमिन्याद्युक्तिः॥5॥

प्रकृत्यधिकरणम्॥1-4-6॥

ॐ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॐ ॥ 1-4-6-130 ॥

अत्र स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः समन्वीयन्ते। श्रीवाचितया प्राधान्यात् प्रकृतिपदस्यान्योपलक्षणत्वात्। तत्त्वित्यस्ति। 'सैषा प्रकृतिः' इत्याद्युक्तप्रकृत्यादि मुख्यतो ब्रह्मैव। न तु श्रीतत्वादि। कुतः? 'हन्तैतमेव पुरुषं सर्वाणि नामान्यभिवदन्ति' इति प्रतिज्ञा, 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रमभिविशन्ति एवमेवैतानि नामानि' इति दृष्टान्तः। तयोरनुपरोधात्तदनुसारादित्यर्थः। अन्यथा तदुपरोधः स्यादिति भावः। सर्वस्त्रीशब्दसमुच्चायकः च इति तत्त्वप्रदीपे। न केवलं पुमान् किन्त्वव्यवहितसूतिहेतुत्वरूपस्त्रीत्वात् प्रकृत्यादिसर्वशब्दवाच्यो विष्णुरिति समुच्चिनोति। तेन स्त्रीत्वं चेत् पुंस्त्वं न स्यादिति न शङ्क्यमिति टीकाचन्द्रिकयोरुक्तम्। प्रागुक्तहेतुभिरेव पूर्वत्रैव प्रकृत्यादि ब्रह्मेति सिद्धावपि 'नामानि सर्वाणि' इत्यत्र सर्वशब्दे सङ्कोचशङ्कानिरासाय पुनः साधकोक्तिः॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ अभिध्योपदेशाच्च ॐ ॥ 1-4-6-131 ॥

प्रकृतिरित्यनुवर्तमानमावर्तते। द्वितीयं भावप्रधानम्। योग्यतयाऽभिध्येत्यनेनान्वेति। अभिध्येत्यप्यावर्तते। द्वितीयं भावप्रधानम्। प्रकृतिर्ब्रह्मैव। कुतः? प्रकृतित्वेन प्रकृतिशब्दवाच्यत्वेनाभिध्यायाः इच्छाया उपदेशात्। 'प्रकृतिर्वासनेत्येवं तवेच्छाऽनन्त' इति स्मृतौ तथा ब्रह्मणोऽभिध्यात्वोपदेशादिच्छारूपत्वोपदेशात्। 'सोऽभिध्या स जूतिः' इति श्रुतावित्यर्थः। प्रकृतिशब्दवाच्येच्छात्मकत्वाच्च प्रकृतिशब्दं ब्रह्मेति भावः॥

आद्योक्तं सामान्यरूपं द्वितीयोक्तं पारम्पर्यरूपं च मानं विना विशिष्यमानाभावात् कथं प्रकृत्यादिशब्दं ब्रह्मेत्यत आह —

ॐ साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॐ ॥ 1-4-6-132 ॥

च एव। प्रकृत्यादिर्ब्रह्मैव। साक्षादेव सामान्यपारम्पर्ये विनोभयस्य प्रकृत्यादिशब्दत्वस्य पुरुषत्वस्य चाम्नानात्। 'एष स्त्री एष पुरुषः' इति श्रुतावित्यर्थः॥

निमित्ताभावान्न प्रकृतिशब्दं ब्रह्मेत्यत आह —

ॐ आत्मकृतेः परिणामात् ॐ ॥ 1-4-6-133 ॥

योग्यतया प्रकृतेरित्यन्वेति। परिणामादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। प्रकृतेः परिणामं विधाय तत्प्रेरणायाऽऽत्मनः प्रकृतेर्बहुधा करणात् प्रकृतिर्ब्रह्मेत्यर्थः। प्रकृष्टा कृतिर्यस्येति योगसम्भवात्। तदधीनत्वे सत्यपि तदनादरेण गुणपूत्यर्थं निमित्तान्तरोक्तिः। परिणामादित्युक्तिरात्मप्रकृतेस्तत्प्रेरणरूपफलोक्त्यर्था॥

कथं प्रकृत्यादिस्त्रीलिङ्गशब्दवाच्यत्वं विष्णोः, स्त्रीत्वरूपनिमित्ताभावादत आह —

ॐ योनिश्च हि गीयते ॐ ॥ 1-4-6-134 ॥

हि यस्माद्योनिश्च स्वदेहादुत्पादकं ब्रह्म गीयते 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति' इति श्रुतौ अतः प्रकृत्यादिशब्दं ब्रह्मेत्यर्थः। 'सूतिरव्यवधानेन' इति स्मृतेरव्यवधानेन स्वदेहादेवोत्पादकत्वरूपयोनिशब्दतः स्त्रीत्वसम्भवादिति भावः। प्रकृतिशब्दनिमित्तेन सह तदुपलक्षितस्त्रीशब्दमात्रनिमित्तसमुच्चये चः॥6॥

सर्वव्याख्यानाधिकरणम्॥1-4-7॥

ॐ एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॐ ॥ 1-4-7-135 ॥

अत्र नये निषेधार्थाः शब्दाः समन्वीयन्ते। एतेन तदधीनत्वादिप्रागुक्तहेतुजातेन सर्वे शून्यासदादिशब्दास्तत्तु मुख्यवृत्त्या ब्रह्मैवेति व्याख्याताः प्रतिपादिता इत्यर्थः। प्रागुक्तसर्वप्रमेयावधारणार्था द्विरुक्तिः। 'अवधारणार्थं सर्वस्य' इत्यादेः॥7॥

अत्राद्यनये तत्तन्निष्ठेशसम्बन्धादन्यत्र व्यवहारः स्वातन्त्र्यस्य शब्दप्रवृत्तौ निमित्तत्वं मुख्यत्वं च। ज्योतिर्नये शब्दानां पदवर्णरूपेणेशे वृत्तिरन्यत्र रूढिश्च। नसङ्ख्येति नये ईशस्य रूपभेदेनाधाराधेयभावः। कारणत्वेनेति नये ईशस्य रूपभेदन व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वरूपकार्यकारणत्वम्। समाकर्षनये वृत्तितारतम्यम्। प्रकृतिनये एकस्मिन्नपि रूपे स्त्रीत्वपुंस्त्वसमावेशः। अन्त्यनये तुच्छनियन्तृत्वमिति ध्येयम्॥

शब्दा द्विधा गुणावद्यवाचित्वेन व्यवस्थिताः।

अन्त्याः स्वातन्त्र्यतोऽन्ये तु तद्गतत्वाच्च विष्णुगाः॥

अद्यायपादसङ्गत्यादि गुरुपादकृतन्यायसङ्ग्रहे बोध्यम्॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

द्वितीयाध्यायः॥2॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥2-1॥

स्मृत्यधिकरणम्॥2-1-1॥

पूर्वेणोक्तसमन्वयेऽनेनाध्यायेन विरोधो निरस्यते। युक्ति-समय-श्रुति-युक्त्युपेतश्रुतिविरोधाः पादेषु क्रमेण निरस्यन्ते। आद्यपादे प्रबलत्वाद्युक्तिविरोधः, स्मृतिविरोधश्चतूरूपत्वादाद्यनये निरस्यते॥

ॐ स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॐ

॥ 2-1-1-136 ॥

अत्र स्मार्तास्तावद्वेदप्रामाण्यवादिनस्तदवादिन इति द्वेधा। आद्येऽपि तदपौरुषेयत्ववादिनस्तदवादिन इति द्वेधा। तत्सर्वस्मृत्यविरोधोऽत्रोच्यते। स्मृतीनां शैवसाङ्ख्यकाणादादिस्मृतीनां अन्यपरत्वाभावरूपानवकाशेन विष्णुकर्तृत्वादिबोधकश्रुतेरप्रामाण्यदोषप्रसङ्ग इति तदनुरोधेन श्रुतिर्नेयेति चेन्न। अन्यासां पञ्चरात्रस्मृतीनां विष्णुकर्तृत्वादर्थान्तरपरत्वाभावरूपानवकाशेन तद्विरुधत्वादितरस्मृतीनामेवाप्रामाण्यदोषप्रसङ्गात्। एवञ्च शैवादिस्मृतिषु श्रौतस्मृतिभिः प्रतिरुद्धास्वप्रतिबद्धश्रुतिभिरेव विष्णुकर्तृत्वादिसिद्धिरिति भावः। यद्वा अन्यासां श्रौतस्मृतीनां श्रुतिसंवादेन बलवत्त्वादनवकाशेन शैवादिस्मृतीनामप्रामाण्याख्यदोषस्य प्रकर्षेण सङ्गात् सम्बन्धादत्यन्ताप्रामाण्यादित्यर्थः। तत्त्वित्यत्रोपक्रमाद्यैरेव वेदार्थो निर्णेय इति सिद्धावपीहोपक्रमादयोऽपि स्मृत्यनुरोधेन नेया इति शङ्केति ध्येयम्। व्यत्त्यन्तरं तु बौद्धार्हतादिस्मृतीनामन्यपरत्वाभावरूपानवकाशेन तासामेवाप्तोक्तानामप्रामाण्यदोषप्रसङ्ग इति तद्विरुद्धश्रुतिर्न मानमिति चेन्न। अन्यस्मृतीनां श्रौतस्मृतीनामनवकाशेन श्रौतस्मृतीनामेवाप्रामाण्यदोषप्रसङ्गादिति। तात्पर्यं तु पूर्ववत्।

श्रौतस्मृतिविरोधेऽप्याप्तोक्तानामवैदिकस्मृतीनां कथमप्रामाण्यमित्यत आह —

ॐ इतरेषां चानुपलब्धेः ॐ ॥ 2-1-1-137 ॥

नास्त्युपलब्धिर्यस्य तदनुपलब्धिः उपलब्ध्ययोग्यं फलं तस्मादितरेषां उपलब्धियोग्यानां फलानां, तृतीयादिष्विति पुंवद्भावः, अनुपलब्देरनुपलम्भादित्यावृत्त्या योज्यम्। यद्वा पूर्वसूत्रे यस्मिन् प्रत्यक्षायोग्ये विश्वकर्तृत्वादौ स्मृतिविरोधः शङ्कितः तदितरेषां प्रत्यक्ष योग्यानां फलानामनुपलब्धेरित्यर्थः। प्रत्यक्षफलविसंवादादाप्तोक्तत्वमेव नेत्यवैदिकस्मृतीनामप्रामाण्यमिति भावः। चशब्दः किञ्चित् फलोपलब्ध्यङ्गीकारार्थः॥

नन्ववैदिकस्मृतीनां मध्ये योगस्मृत्युक्तफले विसंवादाभावान्नाप्रामाण्यमित्यधिकाशङ्कायामाह —

ॐ एतेन योगः प्रत्युक्तः ॐ ॥ 2-1-1-138 ॥

एतेन प्रागुक्तफलानुपलम्भेन योगशास्त्रमपि प्रत्युक्तं निरस्तमित्यर्थः। प्रथमं स्वेदनं द्वितीयं गात्रभञ्जनमित्याद्युक्ताभ्यासावस्थोत्कर्षकाल एव स्वेदनादीनामदृष्टेरित्यर्थः॥1॥

न विलक्षणत्वाधिकरणम्॥2-1-2॥

ॐ न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॐ ॥ 2-1-2-139 ॥

अत्र युक्त्यविरोध उच्यते। अस्य श्रुतिस्मृतिरूपस्य शास्त्रस्य तथात्वं शैवादिस्मृतिवदप्रामाण्यं नास्ति। श्रुतेरपुरुषेयत्वेन श्रौतस्मृतेस्तदनुसारित्वेन विलक्षणत्वात्, स्वतः प्रामाण्यरूपवैलक्षण्याच्च। तथात्वं चापौरुषेयत्वं तदनुसारित्वरूपं वैलक्षण्यं संवादानपेक्षत्वरूपं स्वतः प्रमाण्यरूपं च यथाक्रमं 'वाचा विरूप नित्यया' इति, 'भारतं पञ्चरात्रं च वेदा' इति, 'न चक्षुर्न श्रोत्रं न तर्को न स्मृतिर्वेदा ह्येवैनं वेदयन्ति' इति शब्दात् सिद्धमित्यर्थः। तथात्वमित्यस्योभयत्रान्वयः। एवं च शैवादिस्मृतिवैलक्षण्यान्न फलविसंवादरूपयुक्त्या श्रुत्यादेस्तद्वदप्रामाण्यमिति भावः॥

ननु श्रुत्यादेः स्वतः प्रामाण्येऽपि विसंवादरूपापवादेनाप्रामाण्यं स्यादित्यत आह —

ॐ दृश्यते तु ॐ ॥ 2-1-2-140 ॥

तुशब्दोऽधिकारिविशेषद्योतकः। इतरेषामित्यत्र प्रसक्तं फलं अधिकारिणां दृश्यते। क्वचिद्विसंवादः कर्तृवैगुण्यनिमित्तक इति भावः॥2॥

अभिमान्यधिकरणम्॥2-1-3॥

ॐ अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॐ ॥ 2-1-3-141 ॥

अत्र दृढयुक्त्यविरोध उच्यते। तुरेव। योग्यतयाऽभिमानिपदेनान्वेति। 'मृदब्रवीत्', 'ता आप ऐक्षन्त' इत्यादिश्रुतावभिमानिनश्चेतनस्यैव व्यपदेशः न तु जडस्य। येन मृन्न वक्री

जडत्वादित्यादियुक्तिविरोधः स्यादिति भावः। नन्वभिमानिनः प्रादेशिकत्वविदेहत्वयोर्वैय्यर्थ्यं वक्तृत्वाद्ययोगो व्याप्तत्वसदेहत्वयोरनुपलम्बाध इत्यत उक्तम् – विशेषेति। विशिष्यत इति विशेषः शक्तिः। अनुगतिर्व्याप्तिः, ताभ्याम्। व्याप्तत्वसदेहत्वयोरङ्गीकारेऽप्यन्तर्धानशक्त्या अदर्शनोपपत्तेरिति भावः। अत्राकाङ्क्षाक्रमोल्लङ्घनेऽल्पाक्षरत्वं प्रयोजकम्। यद्वा कथमभिमानिनः पृथिव्यादिवस्त्वन्तरमधिष्ठाय वचनादिकम्। कथं च परिच्छिन्नस्यानेकाभिमन्यमानाधिष्ठातृत्वमित्यत उक्तं विशेषेति। तस्य तथा सामर्थ्यादभिमन्यमाने सर्वत्रांशतो व्याप्तत्वाच्चेत्यर्थः। अत्र चेतनेति वाच्येऽभिमानीत्युक्तिरभिमन्यमानगतमृत्त्वादिमृच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्याभिमान्यधीनत्वादिति न्यायो मृदादिशब्दानां मृदादिभ्योऽप्यभिमानिनि तुशब्द सूचितमुख्यत्वोपपादनायानुसन्धेय इति सूचनाय। तेन कथं युक्तिविरोधमात्रेण श्रुतेः प्रतीतार्थप्रच्यावनमिति निरस्तम्। चेतनग्रहणे मुख्यार्थलाभेन श्रुत्यर्थाबाधनादिति हेतोः। मुख्यत्वसूचकत्वं चान्यनिरासार्थकत्वादिति ध्येयम्। सर्वथाऽन्यनिरासायोगात्। शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेरिति न्यायाद्वाक्यशेषे त्रिवृत्करणाद्युक्तेश्च। शक्तीति वाच्ये विशेषेत्युक्त्याऽस्मदादिभ्यो विशिष्टाऽतिशयिता सेति सूचयति। सुधायां त्वभिमानितद्विग्रहतदन्तर्धानशक्त्यादेः मृत्त्वादियुक्तिमृदादिवक्तृत्वश्रुत्युभयान्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्त्यैव सिद्धेर्विशेषानुगतिपदेन तत्प्रतिपादकं पृथिव्याद्यभिमानिन्य इत्यादिवचनं गृह्यते। तथा च न केवलं अभिमान्यादिकमर्थापत्त्यैव सिद्धमागमसिद्धं चेत्युक्तम्॥

विशेषेत्यादेराद्येऽर्थे अदर्शनमुपेत्य पूर्वं शक्त्या समाहितम् इदानीं तदेव नेति वा नास्त्येवाभिमानी अदर्शनादित्यतो वाह -

ॐ दृश्यते च ॐ ॥ 2-1-3-142 ॥

योगिभिरुपलभ्यते च। अभिमानीति बुद्धिविभागेनानुवर्तते। एतच्च ‘दृश्यन्ते मुनिभिश्च ताः’ इत्यादिनाऽवसेयमिति भावः। सूत्रयोरेकवचनं समुदायाभिप्रायम्॥ 3॥

असदधिकरणम्॥ 2-1-4॥

ॐ असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॐ ॥ 2-1-4-143 ॥

अत्र श्रुत्युपसर्जनकप्रागभावकर्तृत्वसाधकयुक्त्यविरोध उच्यते। श्रुतेर्ब्रह्मपरत्वोक्तावप्यन्यत्रापि वृत्तेस्सत्त्वात्। अत्रासच्छब्दः प्रागभावपरः अभावप्रतियोगिपरश्च। अस्तेर्भावे कर्तरि च शतृप्रत्यये श्नसोरल्लोपे नञ्-समासे असद्भवनमिति नास्तीत्यसदिति च रूपसम्भवात्। यद्यपि शतृ कर्तर्येव। तथापि छान्दसो भावसाधनः। कर्तृसाधनत्वं तु युक्तिसूचनार्थम्। अत एवाभाव इति वाच्ये

असदित्युक्तिः, श्रुत्यनुगमसूचनार्था च। अपीतावीतीहाप्यन्वेति। अपीतौ असत् लयवृत्तिर्विश्वप्रागभावः जगत्कारणमित्यस्ति। अनन्यथासिद्धपुर्वक्षणवृत्तित्वात्। सामान्यव्याप्त्या घटप्रागभाववत्। 'असदेवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतेश्चेत्येका वृत्तिः। अन्या तु भावजातं अपीतौ लये असत् अविद्यमानं, भावत्वात् कार्यवदिति। एवं लये भावमात्रसिद्धौ कार्यस्य सकर्तृकत्वनियमात् परिशेषादभावस्यैव कर्तृत्वं सिद्ध्यति। 'असदेव तन्मनोऽकुरुत'। इति श्रुतेरिति चेन्न। प्रागभावः कर्तेति न। प्रतिषेधमात्रत्वादभावधर्मतां विना स्वरूपत एव निषेधरूपत्वात्। घटप्रागभाववदित्यर्थः। भावेषु कुलालादिषु अन्योन्याभावधर्मात्मना प्रतिषेधरूपत्वमस्तीति व्यभिचारनिरासाय मात्रपदम्। कर्तृत्वाभावे विश्वकर्तृत्वं दूरेऽपास्तमिति भावः। यद्यपि निषेधमात्रेत्युक्त्या निषेधैकस्वरूपत्वं लभ्यते। तच्च पक्षे असिद्धं दृष्टान्ताद् व्यावृत्तं च। सर्वस्य धर्मात्मना द्विरूपत्वात्। तथापि प्रतिशेधमात्रपदेनान्नमात्रं भुक्तमितिवत् प्रतिषेधसामान्यं गम्यते। धर्मधर्मिणोश्च धर्मी प्रधान इति धर्मात्मतां विना धर्मित एव निषेधत्वादिति गम्यत इति बोध्यम्।

ननु श्रुतिबलादन्यत्रादृष्टमपि कर्तृत्वं विश्वप्रागभावस्य स्यादित्यत आह —

ॐ अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॐ ॥2-1-4-144 ॥

तच्छब्दः प्राक् प्रवृत्तासत्परः सावधारणः। वदिति मतुप्रत्ययो न तु वतिः। भावप्रधानोऽयम्। अपीतौ प्रलये तद्वत्प्रसङ्गात् अभावमात्रत्वप्रसङ्गाद् असमञ्जसम् अभावकर्तृत्वमतमित्यर्थः। कार्यनाशे उपादानमात्रावशेषनियमादिति भावः। कर्तृपादानयोस्तवैकत्वात्। अपीतावित्यनेन प्रलये भावमात्रसत्त्वे कालोऽपि न स्यादिति सूचयति॥

नेदमनिष्टमित्यत आह —

ॐ न तु दृष्टान्तभावात् ॐ ॥ 2-1-4-145 ॥

तुरेव। अत्र दृष्टान्तपदेन तत्रावधारितव्याप्तिमूलकमनुमानमुच्यते। तन्मात्रस्यासाधकत्वात्। व्याप्तिसत्त्वसूचनायैवमुक्तिः। प्रलये सर्वासत्त्वमिष्टमिति न युज्यते। तदा पदार्थसत्त्वसाधने दृष्टान्तभावादनुमानसत्त्वादित्यर्थः। विमतोत्पत्तिर्भावाधीना उत्पत्तित्वाद् घटोत्पत्तिवत्। विमतो विनाशः सशेषो विनाशत्वाद् घटविनाशवत्। विमतः कालो भाववान् कालत्वादन्यकालवदित्यादि युक्तिविरुद्धत्वाद् अनिष्टापादनमेवेति भावः।

लये सर्वसत्त्वाङ्गीकारोऽप्रामाणिकत्वाच्च नेष्ट इत्याह —

ॐ स्वपक्षदोषाच्च ॐ ॥ 2-1-4-146 ॥

स्वपक्षे सर्वासत्त्वपक्षे दृष्टान्ताभावरूपदोषाच्चेत्यर्थः। प्रत्यक्षागमौ न स्तः । अदर्शनात्। भावत्वं तु दुष्टम्। श्रुती चान्यपरे इति भावः॥

तर्केण सदसतोः कारणत्वसाधनबाधने आक्षिप्य समाधत्ते —

ॐ तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॐ ॥ 2-1-4-147 ॥

अन्यथा पूर्वसूत्रद्वयोक्ताद् अभावाकारणत्वभावकारणत्वरूपात् प्रमेयाद्वैपरीत्येनाभावकारणत्वभावाकारणत्वरूपेणाऽप्यनुमातुं शक्यम्। तर्कस्याप्रतिष्ठानाद् अप्रतिष्ठितत्वाद् अव्यवस्थितत्वेनाप्रामाण्यात्। न हि प्रतितर्कः एतावानेवैतादृशं तर्कं प्रति विरोधितया प्रवर्तते नैतादृशमिति नियामकमस्ति। अतस्सर्वानुमानेषु प्रतितर्कस्यावारणीयत्वेन तेषामप्रामाण्यात्, अतोऽनुमानेन तद्-द्वयसाधनं पूर्वसूत्रद्वये न युक्तमिति चेन्न। एवमप्येवं सति तर्कस्याप्रामाण्ये सति, यद्वा एवमपि 'यावदेव प्रमाणेन' इत्यादिस्मृतौ प्रमाणमूलतर्कस्य प्रतिष्ठा अन्यस्य तु नेत्युक्तावपि तर्कमात्राप्रामाण्येऽनिर्मोक्षप्रसङ्गो मोक्षाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः। त्वयापि शास्त्रफलत्वेनाङ्गीकृतमोक्षस्य विप्रतिपन्नं चार्वाकं प्रति तर्केणैव साधनीयत्वात्। विप्रतिपन्ने चार्थे स्वस्यापि केवलागमेन अनध्यवसायेन स्वमते मोक्षाबावप्रसङ्गात्। अतो यावत्प्रमितं तावन्मात्रसाधकतर्कः प्रतिष्ठितोऽन्यस्तु नेति भावः। सुधायां तु तर्कमात्राप्रामाण्ये स्वव्याघातदोषादनिर्मोक्षप्रसङ्गः इत्यर्थ उक्तः। तर्काप्रतिष्ठानादन्यथा तर्क्यमिति वाच्ये अनुमेयमित्युक्तिः न तर्कोऽनुमानाद् भिद्यत इति सूचयितुम्॥

नन्वभावस्य निषेधमात्रत्वेनाकर्तृत्वेऽपि जीवस्य तदभावात् तत्कारणकमस्तु, निष्कारणकं वाऽस्तु कूलपतनवदिदं जगदिति विशेषशङ्कयामाह —

भोक्त्रधिकरणम्॥2-1-5॥

ॐ एतेन शिष्टाऽपरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॐ ॥ 2-1-5-148 ॥

एतेन सत्कारणत्वे दृष्टान्तभावेन जीवादिकारणत्वे दृष्टान्ताभावेन च शिष्टाः प्राङ् निरस्तादभावकर्तृत्वादवशिष्टाः, यद्वा शिष्टा अवशिष्टतया प्रतीताः न तु पूर्वेणैवानिरस्ता इत्यर्थः, अपरिग्रहा वेदपरिग्रहशून्याः तद्विरुद्धाश्च जीवप्रधानशून्यकालस्वभावादिवादा निरस्ता इत्यर्थः। अत्र शिष्टा इत्येवोक्ते ब्रह्मवादोऽपि प्राप्नोतीत्यपरिग्रहा इत्युक्तम्। तन्मात्रे तूक्ते अभावकर्तृत्ववादोऽपि

गृह्येत। अतः शिष्टा इत्युक्तम्। उक्तरीत्या विशेषशङ्कासूचनाय वेति। प्रत्युक्ता इति वाच्ये व्याख्याता इति वचनं 'जीवाद्भवन्ति भूतानि', 'अकस्मादिदमाविरासीत्' इत्यादिपूर्ववाद्यनुकूलश्रुतीनां प्रागुक्तब्रह्मपरत्वस्मरणाय॥5॥

ॐ भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॐ ॥ 2-1-6-149 ॥

अत्र बहुश्रुतिसिद्धतया प्रबलयुक्त्यविरोध उच्यते। भोक्तुर्जीवस्य मोक्षे ब्रह्मत्वापत्तेः 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' इत्यादिषु श्रवणात् तयोरविभागो भेदाभावः। ततश्चासर्वकर्तृजीवाभिन्नत्वान्न ब्रह्मणः सर्वकर्तृतेति चेत् नेति शेषः। ब्रह्मणो जीवाभेद एव नास्ति। श्रौतस्त्वेकीभावप्रयोगः स्याल्लोकवत्। यथा लोके उदके उदकस्यैकीभावव्यवहारो, यथा व प्राग्विभिन्ना ब्राह्मणः साम्प्रतमेकीभूता इति व्यपदेशस्तथा प्राग्भिन्नस्थाना भिन्नमतयो जीवाः मुक्तौ ब्रह्मणैकस्थाना एकमतय इति स्थानैक्यादिनिमित्तक इत्यर्थः। कुतं एवं लक्षितलक्षणाश्रयणं श्रुतेरित्यतोऽपि स्याल्लोकवत्। लोकेऽप्यन्यद्वस्तु वस्त्वन्तरेणाभेदमापन्नं न दृष्टम्। अतः प्राग्भिन्नतया प्रतीतस्य जीवस्य मुक्तावभेदायोगाद् बाधकादेवमाश्रयणं युक्तम्। न च प्राग्भेदप्रतीतिर्भ्रमः। बाधकाभावादिति भावः॥5॥

आरम्भणाधिकरणम्॥ ॥2-1-6॥

ॐ तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॐ ॥ 2-1-6-150 ॥

अत्र बहुयुक्तिविरोधो निरस्यते। अवरस्येत्यग्रे अभिधानात् स्वतन्त्रसाधनस्येति शेषः। स्वतन्त्रसाधनस्य तदनन्यत्वं ब्रह्मानन्यत्वं, न ततोऽन्यत्वम्। स्वरूपसामर्थ्यादेव तस्य सर्वकर्तृत्वमिति यावत्। न त्वन्यत् स्वतन्त्रसाधनमपेक्ष्येति भावः। कुतः? आरभ्यते येन तदारम्भणमुपपादानम्। आरम्भणपदेनाधिष्ठानादिसाधनजातं लक्षयित्वा तदाक्षेपो लक्षणीयः। तथा च 'किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्' इति स्वतन्त्राधिष्ठानाद्याक्षेपकशब्दात् अपर तन्त्रत्वात् स्वतन्त्रत्वात् साधनसत्ताप्रदत्वादिति आदिपदोक्तव्यतिरेकि हेतुभ्यश्चेत्यर्थः। अत्र स्वतन्त्रसाधनाभाव इत्युक्ते ब्रह्मणोऽपि स्वातन्त्र्यं नेति स्यात्। तदनन्यत्वं स्वतन्त्रसाधनस्येत्युक्ते तदेव स्वतन्त्र साधनं नान्यदिति लभ्यत इत्येवमुक्तम्। श्रुतवधिष्ठानस्यादित्वेऽपि आरम्भणशब्दस्य साधकतमरूपकारणवाचितया अर्थप्राधान्यात्तस्योक्तिः। श्रुतावधिष्ठानादिमात्राक्षेपश्रवणेऽपि साधनसत्त्वावेदक 'अद्भ्यः सम्भूतः' इत्यादिश्रुत्यन्तरबलात् स्वातन्त्र्येणाधिष्ठानाद्याक्षेपपरत्वं लभ्यते। अग्रे परिहारानुक्तेः किंशब्दो न प्रश्नार्थक इति ध्येयम्। विद्यारण्येनाप्याक्षेपार्थत्वस्यैवोक्तेः।

विपक्षे बाधकाच्चैवमित्याह —

ॐ भावे चोपलब्धेः ॐ ॥ 2-1-6-151 ॥

स्वतन्त्रसाधनस्येत्यस्ति। प्रसङ्ग इति शेषः। उक्तवैपरीत्ये बाधकोक्तित्वात् तदन्येति लभ्यते। तदन्यस्वतन्त्रसाधनस्य भावे उपलब्धेः प्रसङ्गः। प्रमाणैरुपलभ्येतेति यावत्। नोपलभ्यते। अतश्च तदनन्यत्वमित्यर्थः। प्रत्यक्षश्रुत्योरभावाद् युक्तेश्चान्ते निरासादिति भावः।

ननु 'अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च' इत्यादावबाद्युपलक्षितभूतादियुक्ततया हिरण्यगर्भस्य हरेः सकाशादुत्पत्त्युक्त्या कथं साधनान्तरानुपलम्भ इत्यत आह —

ॐ सत्वाच्चावरस्य ॐ ॥ 2-1-6-152 ॥

चोऽवधारणे। साधनस्येत्यस्ति। अवरस्य तदधीनस्य साधनस्य सत्त्वादेव 'अद्भ्य' इत्यादिवचनं, न स्वतन्त्रस्य सत्त्वादित्यर्थः॥ साधनान्तरसत्त्वमुपेत्य तस्येशाधीनत्वमुक्तं, तन्नेत्याक्षिप्याह—

ॐ असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॐ ॥ 2-1-6-153॥

भावनिर्देशोऽयम्। साधनस्येत्यस्ति। 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योम' इति श्रुतौ साधनस्याऽसत्त्वव्यपदेशान्नोक्तं युक्तमिति चेन्न। स्वतन्त्रत्वाव्यक्तत्वाविकृतत्वादिधर्मान्तरेणैवासत्त्वव्यपदेशो न स्वरूपेणेत्यर्थः। कुतो मुख्यार्थत्यागः। वाक्यशेषात्। तम आसीदिति प्रकृत्यादिसत्त्वपरवाक्यशेषान्यथाऽनुपपत्त्येत्यर्थः। यद्वा 'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' इति स्वातन्त्र्यनिषेधवाक्यशेषादित्यर्थः। अन्यथा पर इति व्यर्थमिति बावः। अत्रेशमुपेत्यान्यस्यासत्त्वशङ्कनात् न असदिति चेदित्यनेन पौनरुक्त्यम्॥

ननु तस्यैव स्वतन्त्रत्वे साधनान्तरोपादानमयुक्तमित्यत आह—

ॐ युक्तेः शब्दान्तराच्च ॐ ॥ 2-1-6-154 ॥

स्वेच्छया लीलय स्वाधीनसाधनान्तरोपादानेन सृष्टेर्युक्तत्वात् लीलया दण्डमालम्ब्य गच्छतोऽपङ्गुत्ववत्, ईशत्वाविरोधित्वादिति यावत्। लीलयेति कुतो ज्ञायते? शब्दान्तराच्च। शब्दविशेषः शब्दान्तरम्। विवक्षितार्थप्रतिपादकः शब्द इति यावत्। तस्मात् 'शक्तोऽपि भगवान्विष्णुरकर्तुं कर्तुमन्यथा। स्वभिन्नं कारणाभिन्नं भिन्नं विश्वं करोत्यजः' इति शब्दान्तरादित्यर्थः। यद्वा साधनान्तरमेव सृष्टौ मास्त्वित्यत उक्तं शब्देति। 'अद्भ्यः सम्भूतो

हिरण्यगर्भ' इति तत्सत्त्वबोधकशब्दान्तराच्च। न केवलं प्रागुक्त 'अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च', 'तम आसीत्' इत्यादिशब्दात् किन्तु शब्दान्तरादपि साधनसत्त्वमुपेयमित्यर्थः। पूर्वश्रुतिसङ्ग्रहायैव शब्दान्तरादित्युक्तम्। आद्यश्रुतेरनीश्वरकर्तृकावान्तरसृष्टिविषयत्वेन अन्त्यश्रुतेः तमःप्रभृतेर्लये सत्त्वोक्तावपीशसृष्टौ कारणत्वं नेत्येवमन्यथानयनसम्भवात् शब्दान्तरोक्तिः। अत्राजस्येशादेव सृष्टतया तत्राबादेर्हेतुत्वोक्तेः॥

साधनसत्वेऽनुमानं चाह —

ॐ पटवच्च ॐ ॥ 2-1-6-155 ॥

विमता सृष्टिः कर्तृभिन्नसाधनसाध्या। सृष्टित्वात्पटसृष्टिवदित्यर्थः॥

नन्वेवं कर्तृभिन्नस्वतन्त्रसाधनसाध्येत्यपि सुसाध्यमित्यत आह —

ॐ यथा प्राणादिः ॐ ॥ 2-1-6-156 ॥

यथा प्राणादेहादिकं 'प्राणे तिष्ठन्' इत्यादिनेशानुप्रविष्टत्वान्नस्वतन्त्रम्। अन्यथा प्रवेशवैयर्थ्यात् तथा 'प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्य' इत्युक्त्या साधनमपीशानुप्रविष्टत्वात् न स्वतन्त्रमिति तत्साधनं बाधितमित्यर्थः॥6

इतरव्यपदेशाधिकरणम्॥2-1-7॥

ॐ इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॐ ॥ 2-1-7-157 ॥

अत्र श्रुत्यनुभवसंवादियुक्तिविरोधो निरस्यते। असद्व्यपदेशादित्यश्चेदित्यस्ति। स च यद्यर्थे। यदितर्ह्योश्च नित्यान्वयः। इतरस्य प्रस्तुतब्रह्मकर्तृत्वादितरस्य जीवकर्तृत्वस्य 'जीवाद्भवन्ति भूतानि' इति श्रुतौ व्यपदेशात्, यदि जीवः स्वतन्त्रकर्तेति शेषः। तर्हि हिताकरणस्यादिपदोक्ताहितकरणस्य च दोषस्य प्रसक्तिः। तौ दोषौ प्रसज्येयातामिति यावत्। ते न स्याताम्। न हि स्वतन्त्रस्य तद्वयं युज्यत इति यावत्। श्रुतिस्तु ब्रह्मपरेत्याकूतम्। तत्त्वप्रदीपे तु इतरस्य जीवस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वव्यपदेशादित्युक्तम्। व्यपदेशादित्युक्तिश्चेतनत्वयुक्तेः श्रुतिसंवादोक्त्यर्था। एतेन शिष्टेत्यस्य प्रपञ्चत्वान्न पौनरुक्त्यम्॥

यदि बाधकाज्जीवस्य स्वतन्त्रकर्तुत्वत्यागस्तर्हीशस्यापि कर्तृत्वे श्रमचिन्तादिदोषापत्तिबाधकसाम्येन तन्न स्यादित्यत आह —

ॐ अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॐ ॥ 2-1-7-158 ॥

तुः साम्यव्यावर्तकः। भेदशब्दोऽतिशायाख्यविशेषवाची। तदनन्यत्वमित्यतस्तदित्यस्ति। तद्ब्रह्म त्वधिकशक्त्यादिमत्त्वेनोत्कृष्टम्। 'श्रोता मन्ता' इत्यादिना सर्वेभ्योऽखिलश्रोतृत्वान्तर्यामित्वादि विशेषस्य निर्देशादित्यर्थः। एवंविधस्य ते दोषा न शङ्क्या इति भावः।

यद्येवं तर्हि चेतनत्वादीशवज्जीवोऽपि स्वतन्त्रकर्ता स्यादित्यत आह —

ॐ अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॐ ॥ 2-1-7-159 ॥

चोऽप्यर्थः। चेतनत्वेऽपि जीवस्याश्मादेरिवास्वतन्त्र्यत्वात् स्वतः कर्तृत्वानुपपत्तिः। आदिपदेन स्तम्भाद्यनेकदृष्टान्तोक्तिरस्वातन्त्र्यहेतोरव्यभिचारदर्शनाय। एवमग्रेऽपि तत एव योग्यहेतुलाभोऽपि। अस्वातन्त्र्यं च। हिताक्रियादिना मृतिसुप्त्यादौ सार्वजनीनानुभवेन सिद्धमिति भावः। चेतनत्वयुक्तिश्चाप्रयोजिकेत्याशयः।

उक्तमनुभवविरोधेनाक्षिप्य तस्य गतिमाह —

ॐ उपसंहारदर्शनान्नेति चेत् क्षीरवद्धि ॐ ॥ 2-1-7-160 ॥

तदनुपपत्तिरित्यस्ति। नञ् आवर्तते। जीव उपसंहारस्यारब्धकार्यसमापनस्यानुभवान्न स्वतन्त्रकर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेन्न। क्षीरवत्। यथा गोषु दृश्यमानं क्षीरं गोभिन्नकर्त्रधीनं तथा जीवे दृश्यमानमपि कार्यावसानं जीवभिन्नेशाख्यकर्त्रधीनम्। 'य आत्मानम्' इति श्रुतेरित्यर्थः। 'अन्नं रसादिरूपेण प्राणः परिणयत्यसौ' इति वचनात् क्षीरस्यान्याधीनत्वप्रसिद्धिं हिशब्देनाह। अनुभवादिसिद्धास्वातन्त्र्यस्य जीवस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वानुपपत्तेरेव बाधकादनुभवो भ्रम इति भावः। दर्शनादित्युक्तिर्युक्तेः प्रत्यक्षसंवादोक्त्यर्था॥

नन्वीश एवानुपलम्भान्नास्ति। कुतस्तदधीनतेत्यत आह —

ॐ देवादिवदपि लोके ॐ ॥ 2-1-7-161 ॥

देवादीनामिव सतोऽपीशस्यानुपलम्भो युक्तः। तेषां प्रागुक्तदीशा अदृश्यत्वशक्तिमत्त्वे ईशस्यापि तथात्वात्। तथात्वं कुत इत्यत उक्तम् – अपि लोक इति। लोके पिशाचादीनामनीशानामपितादृशशक्तिरस्ति किम्वीश्वरस्येत्यर्थः। अदृश्यस्यापि श्रुत्यादिना सद्भावे देवादिदृष्टान्तः। अदृश्यत्वशक्तिमत्त्वोपपादनायापि लोक इत्युक्तिरिति विवेकः। यद्वा देवादौ विप्रतिपन्नं प्रत्यपि लोक इत्येकार्थ एव दृष्टान्तद्वयम्। उक्तं चैवमेव सुधायामभिमानिनये॥

हिताक्रियादिना जीवस्य स्वतः कर्तृत्वं नेत्युक्तम्। युक्त्यन्तरेणापि नेत्याह —

ॐ कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॐ ॥ 2-1-7-162 ॥

यदि जीवः स्वतन्त्रकर्ता तर्हीत्यस्ति। जीवः सर्वकार्येषु सर्वसामर्थ्येन प्रवर्ततेऽशेन वा नाद्यः। तृणादानादावपि कृत्स्नसामर्थ्यप्रसक्तिः। सा चानुभवविरुद्धा। नान्त्यः। अंशाभावात्। तदङ्गीकारे च 'अथ यः स जीवः स नित्यो निरवयव' इति निरवयवत्व श्रुतिव्याकोपः स्यादित्यर्थः। वा शब्दः पक्षभेदेनापादनसूचनार्थः। अतो न जीवः स्वतन्त्रकर्ता। किन्त्वीशाधीनकर्ता। यद्धि युक्त्या विरुद्ध्येत तदीशकृतमेव हीत्युक्तेरिति भावः। व्यतिरेको गन्धवदिति जीवस्यानेकरूपतोक्त्या सांशत्वसिद्धवपीह निरवयवत्वशब्दकोपापादनं भिन्नांशशून्यत्वाद् युक्तमित्यादि सुधोक्तं बोध्यम्॥7॥

शब्धमूलत्वाधिकरणम्॥2-1-8॥

ॐ श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात् ॐ ॥ 2-1-8-163 ॥

अत्रानन्तांशस्यापीशस्यैकदेशेन व्यापारे अणीयस्त्वादियुक्तस्य महीयस्त्वादौ व्याघातपर्यवसायिप्रबलयुक्त्यविरोध उच्यते। तुरेव। जीवाद्विशेषे वा। नेश्वरकर्तृत्वे कृत्स्नप्रसक्त्यादियुक्तिविरोध इति प्रकृतं लभ्यते। 'योऽसौ विरुद्धोऽविरुद्धो मनुरमनुः' इत्यादिना लोकविरुद्धधर्माणामीशेऽविरुद्धत्वश्रवणादेव। ननु श्रौतमपि युक्तिविरुद्धं कथमुपेयमिति चेत्। शब्दमूलत्वात्। शब्दो मूलं प्रमाणं यस्य तत्त्वात् शब्दैकगम्यत्वादित्यर्थः। केवलयुक्त्ययोग्यत्वान्न तत्र युक्तिविरोध इति भावः।

इतश्च नेश्वरे युक्तिविरोध इत्याह —

ॐ आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॐ ॥ 2-1-8-164 ॥

आद्यश्चोऽवधारणे। अन्त्यः समुच्चये। आत्मनि च ईश्वर एव एवंविधा युक्तिविरोधनिरासकाः विचित्राः अघटितघटकाः शक्तयस्सन्ति। न जीवे। 'विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो न चान्येषां शक्तयस्तादृशास्युः' इत्यादि हिशब्दसूचितश्रुतिसिद्धा इत्यर्थः। अतश्च न युक्तिविरोध इति योज्यम्। अधिकन्त्वित्यत्र श्रमादिदोषनिरासायाखिलश्रोतृत्वाद्यतिशये मानोक्तिः। इह तु कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषनिरासकविचित्रशक्तिसत्त्व इति भेदः।

ननु जीवेऽपीशवच्चेतनत्वादिना कृत्स्नप्रसक्त्यादि युक्तिविरोधो अविरोधतां मीयातामित्यत आह—

ॐ स्वपक्षदोषाच्च ॐ ॥ 2-1-8-165 ॥

चोऽवधारणे। जीवपक्षे कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषादेव युक्तिविरोधो नाविरोधतां नेतव्यः। ईशवच्छ्रौतत्वशब्दैकगम्यत्वविचित्रशक्तिमत्त्वानां अविरोधताकल्पकानामभावादिति भावः।

नन्वीशेऽपि विचित्रशक्तिर्यदाऽविषया भवति यदा च नश्यति तदा विरोध एवेत्यत आह —

ॐ सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॐ ॥ 2-1-8-166 ॥

चशब्दः समुच्चये। देवतेति श्रुतिबलाल्लभ्यते। सर्वशब्दो लक्षणया सर्वविषयकसार्वकालिकशक्तिपरः। तथा च सर्वाभिस्तादृशशक्तिभिरुपेता चात्माख्यदेवता न केवलं सामान्यतः शक्तिमतीति चार्थः। तद्दर्शनात् तादृशशक्तिमत्त्वावेदकात् 'सर्वैर्युक्ता शक्तिभिर्देवता सा परेति यां प्राहुरजस्रशक्तिम्' इति श्रुतिवाक्यादित्यर्थः। आत्मनीत्युपक्रमात् उपेत इति वाच्ये 'उपेता' इत्युक्तिः श्रुतिविशेषसूचनाय।

ईशकर्तृत्वमाक्षिप्याह —

ॐ विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् ॐ ॥ 2-1-8-167 ॥

नेत्यावर्तते। 'अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्' इत्यादि श्रुत्याऽक्ष्यादिकरणशून्यत्वान्नेशस्य कर्तृत्वमिति चेन्न। तत्करणराहित्यं प्राकृतपाण्यादिविषयमिति 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यत' इति तत्रैवोक्तम्। यतोऽत इति योज्यम्। विचित्राश्च हीत्यनेन अशेषविरोधनिरासेऽपि चिदानन्दात्मकविग्रहवत्त्वादिविशेषयुक्तिबुभुत्सया पुनः शङ्केति ध्येयम्॥8॥

न प्रयोजनाधिकरणम्॥2-1-9॥

ॐ न प्रयोजनवत्त्वात् ॐ ॥ 2-1-9-168 ॥

अत्र फलमुखदृढयुक्त्यविरोध उच्यते। हेतुविशेषोक्त्या स्वप्रयोजनार्थमिति लभ्यते। प्रकृतमीशस्य कर्तृत्वं न स्वप्रयोजनार्थम्। कुतः? नप्रयोजनवत्त्वात्। नसमासोऽयम्। व्याख्यानादौ हस्तचालनादाविव प्रयोजनाभावादित्यर्थः।

फलाभावे कथमीशस्य प्रेक्षावतः प्रवृत्तिरित्यत आह —

ॐ लोकवत्तुलीलाकैवल्यम् ॐ ॥ 2-1-9-169 ॥

तुरेव। मत्तादेर्नृत्तगानादिका क्रिया यथा तथेशस्यापि सृष्टिक्रिया लीलायाः कैवल्यं केवलं प्रयोजनवत्तां विना लीलैवेत्यर्थः। फलाभावेऽपि सुखोद्रेकात् स्वभावादेव विश्वसृष्टिरिति भावः॥9॥

वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम्॥2-1-10॥

ॐ वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ॐ॥ 2-1-10-170॥

अत्र कर्मादिसापेक्षत्वेऽनपेक्षत्वे च दोष इति बहुमुखदृढयुक्त्यविरोध उच्यते। युक्तमीशकर्तृत्वमिति प्रकृतम्। तत्तत्कर्मानपेक्ष्य निर्निमित्तं प्राणिनां विभागेन सुखदुःखादिदानेनेशस्य प्राप्ते ये वैषम्यनैर्घृण्ये ते न स्तः। सापेक्षत्वात्। उत्तरसूत्रानुसारात्कर्मेति लभ्यते। सुखदुःखादिफलदाने कर्मसापेक्षत्वात्। निर्निमित्तत्वाभावादित्यर्थः। तथा हि दर्शयति – हि यतस्तथा प्रस्तुतार्थं दर्शयति पुनः शब्दः। 'प्रस्तुतार्थे तथाशब्द उदीर्यते' इत्युक्तेः। 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्' इति श्रुतिः॥

कर्मापेक्ष्य फलदातृत्वमाक्षिप्याह —

ॐ न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॐ ॥ 2-1-10-171 ॥

पूर्वसूत्रांशोऽनुवर्तते। ईशस्य कर्मसापेक्षत्वाद्वैषम्यनैर्घृण्ये नेति न युक्तम्। यदपेक्ष्य फलं दद्यात् तदपेक्षणीयं कर्म नास्ति। कुतः? अविभागात् अस्वातन्त्र्यात्। तस्यापीशकृतत्वादिति यावत्। स्वकृतापेक्षया फलदाने वैषम्याद्यनिस्तारादिति चेन्न। अनादित्वात्कर्मणाम्। प्रवाहतोऽनादित्वादित्यर्थः। पूर्वपूर्वकर्मापेक्ष्य कृतमुत्तरोत्तरं कर्मापेक्ष्य फलं ददातीत्युक्तौ दोषाभावादित्यर्थः। तदनन्यत्वादिनयसिद्धा स्वातन्त्र्यजगदविभागादस्वातन्त्र्यमिति सूचनायाविभागादित्युक्तिः। प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य इतिवदित्येके॥

तर्हि कर्मादिसापेक्षस्य स्वातन्त्र्यं न स्यादित्यत आह —

ॐ उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॐ॥ 2-1-10-172 ॥

चोऽवधारणे। स्वातन्त्र्यमिति शेषः। कर्मापेक्षणेऽपि स्वातन्त्र्यमुपपद्यत एव। तस्य स्वाधीनत्वात्। एवं तर्हि तदपेक्षा नामानपेक्षैव। तथा च पुनर्वैषम्याद्यापत्तिरित्यत उक्तम्। उपलभ्यते चेति। वैषम्य नैर्घृण्ये इत्यस्ति। उपलभ्यते हीदृशं कर्मसापेक्षत्वकृतं वैषम्यं नैर्घृण्यं च। 'स कारयेत्पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवान्' इत्यादाविति प्रत्येकमन्वयः। अतो नेदमनिष्टम्। वेदाप्रामाण्याहेतुत्वादिति भावः। तत्त्वप्रदीपे तु उपपद्यते स्वातन्त्र्यम्। उपलभ्यते च कर्मादेस्तदधीनत्वमित्येकमर्थमुक्त्वा उपपद्यते च तादृशं वैषम्यादि उपलभ्यमानत्वात् प्रमाणैरित्याद्यावृत्त्याऽनेकधा योजितम्॥ 10॥

सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरणम्॥2-1-11॥

ॐ सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-1-11-173 ॥

अत्र सर्वगुणपूर्तौ सर्वदोषराहित्ये च युक्त्यविरोध उच्यते। सर्वेषां धर्माणां ज्ञानानन्दादिसद्गुणानां दुःखद्वेषादिदोषाभावानां चेश उपपत्तेः। ब्रह्म सदा प्राप्तसद्गुणं, तत्प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात्,

सामान्यव्याप्त्या सम्मतवत्। ब्रह्म सदा त्यक्तसर्वदोषं, तज्जिहासुत्वे सति तत्र शक्तत्वात्, सम्मतवत् इत्युपपत्तिसिद्धत्वात्। चशब्दात् 'गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे' इति श्रुतेश्च इत्यर्थः॥

प्रथमपादसारसङ्ग्रहः

स्मृतिनयेऽश्रौतस्मृत्यप्रामाण्यम्। नविलक्षणत्वादिनये श्रुतिश्रौतस्मृत्योः प्रामाण्यं तत्स्वतस्त्वं च। अभिमानिनये अभिमानितद्विग्रहतदन्तर्धानशक्त्यादि। असदिति नये लये भावसत्त्वम्। भोक्त्रिति नये मुक्तौ जीवपरैक्यनिरासः। तदनन्यत्वनये सृष्टिसाधनानामीशायत्तत्वम्। इतरेति नये जीवस्य कर्तृत्वेऽप्यस्वातन्त्र्यम्, ईशस्यानुपलम्भेऽपि सत्त्वम्। श्रुतेरिति नये अघटितघटकनित्यशक्तिमत्त्वम्। नेति नये स्वभावतः सृष्टिः। वैषम्यनये कर्मापेक्षत्वेऽपि स्वातन्त्र्यम्। अन्त्यनये सर्वगुणपूर्णत्वं सर्वदोषशून्यत्वं चेत्यादि सिद्धम्। एवमग्रेऽपि विवेक्तव्यम्। भीषयत्यस्मांस्तु विस्तरः॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः॥2-1॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥2-2॥

॥ॐ॥ इतरेषां चानुपलब्धेरित्युक्तहेतुविस्तररूपत्वात्तदनन्तरं समयाविरोधोऽत्र पादेऽभिधीयते। हैतुकपाषण्डभेदेन समया द्विविधाः पूर्वोत्तराधिकरणषट्कद्वयेन निरस्यन्ते। वेदवादस्य युक्तिपाद एव निरासात्।

रचनानुपपत्त्यधिकरणम्॥2-2-1॥

ॐ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॐ ॥ 2-2-1-174 ॥

अत्र नये निरीश्वरसाङ्ख्यमतं निरस्यते। प्रस्तावात् कर्त्रिति लभ्यते। अनुमीयत इत्यनुमानम्। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्। महदादिकार्यं सकारणं कार्यत्वादिति साङ्ख्यानुमान कल्पितं प्रधानं न कर्तृ। कुतः? रचनानुपपत्तेर्जडस्य रचयितृत्वानुपपत्तेः। चशब्देन साधकमानाभावाच्चेति समुच्चीयते। ननु प्रधानस्य कर्तृत्वे अनुमानं मानमित्यतोऽप्याह। रचनेति। मानमिति शेषः। करणे ल्युट्। अनुमानं न मानम्। कुतः? अनुमानरचनाया अनुपपत्तेर्दृष्टत्वादित्यर्थः। महदादिकं सकारणकं सजातीयकारणकं सोपादानकारणकं स्वतन्त्रकारणकं चेति रचनायां सिद्धसाधनादिति भावः। एतदर्थमेव रचनेत्यनुमानमिति चोक्तिः। अन्यथा अनुपपत्तेश्च न प्रधानमित्यवक्ष्यत्। कर्तृत्वमिह स्वतः प्रवृत्तिमत्त्वं बोध्यम्॥

इतश्च जडं न कर्त्रित्याह —

ॐ प्रवृत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-1-175 ॥

चेतनस्येति पूर्वत्रार्थात् प्रकृतमन्वेति। नानुमानमित्यस्ति। दर्शनादिति शेषः। पटादिसृष्टौ चेतनप्रवृत्तिदर्शनाच्च नानुमानं प्रधानं कर्त्रित्यर्थः। पटसृष्टिदृष्टान्तेन महदादिसृष्टावपि चेतनाधीनत्वानुमानं सुशकमिति भावः। तत्त्वप्रदीपे तु चेतनस्यापि निर्विकारस्य न प्रवृत्तिरित्यत आह — प्रवृत्तेश्च। योऽहमनुभविता स एष कार्यमारभ इति चेतनस्य प्रवृत्तेरनुभवादित्युक्तम्।

जडत्वान्न कर्तृ प्रधानमित्युक्तमाक्षिप्याह —

ॐ पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ॐ ॥ 2-2-1-176 ॥

अपीत्यनेन चेतनप्रवृत्तेर्दर्शनादित्याकृष्यते। अनुमानं न कर्त्रित्यस्ति। यथा पयः क्षीरं स्वतो दध्यात्मना परिणमते। यथा वा जलं स्वतो गच्छति तथाऽनुमानं कर्त्रिति चेन्न। तत्रापि पयोम्ब्वादावपीशाख्यचेतनप्रवृत्तेर्दर्शनात् 'एतेन ह वाव पयो मण्डं भवति। एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो नद्यःस्यन्दन्त' त्यादावित्यर्थः। ततश्च जडत्वं न व्यभिचारीति भावः। स्वतः परिणामि पयः, अम्पु तु प्रवृत्तिमात्रे दृष्टान्त इति द्वयोक्तिः॥

अस्तु श्रुतिबलात्पयोम्ब्वादावेवम्। अयस्कान्तादिरन्यस्तु दृष्टान्तः स्यादित्यत आह —

ॐ व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॐ ॥ 2-2-1-177 ॥

प्रकृतेशोऽन्वेति। 'न ऋते त्वत्क्रियते' इति श्रुत्येशव्यतिरेकेण कस्यापि कर्मणोऽनवस्थानाच्च न कोऽपि दृष्टान्त इत्यनपेक्षत्वात् सद्भिरनादरणीयत्वादनुमानकर्तृत्वस्येत्यर्थः। यद्वाऽयस्कान्तादेरपि पूर्वेणैव निराससम्भवात् कैमुत्येनोक्तार्थं साधयति — व्यतिरेकेति। चेतनप्रवृत्तेरित्यस्ति। ईशव्यतिरेकेण चेतनप्रवृत्तेरप्यनवस्थानान्नानुमानं स्वतः प्रवृत्तिमदिति किमु वाच्यमित्यर्थः। अप्रमाणकं प्रमाणविरुद्धं च तन्मतं नोपादेयमिति भावः॥ 1॥

अन्यत्राभावाधिकरणम्॥ 2-2-2॥

ॐ अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॐ॥ 2-2-2-178 ॥

अत्र ' न ऋत' इति श्रुतेर्गुणभूतेशपरत्वसम्भवान्न मे प्रागुक्तदोष इति पूर्वाक्षेपेण प्रवृत्तमीशगुणकप्रधानकर्तृमतं निरस्यते। ईशः प्रकृतस्तत्सृज्यं जगच्च। चोऽनुक्तसमुच्चये। अन्यत्र ईशादन्याधारत्वेन जगतोऽभावात् तत्प्रेरणां विना कस्यापि कार्यस्य सत्त्वाभावादिति यावत्। चब्दात् प्रकृत्यादिकारणसत्तादेरपीशायत्तत्वाच्च। तृणादीनां पर्जन्य इव नेशोऽनुग्राहकमात्रं किन्तु सर्वस्वतन्त्र

एवेत्यर्थः। न हि यदधीनं यत्सत्तादि तत्तस्यानुग्राहकमात्रमिति भावः। भाष्योक्तश्रुत्यादिना हेतुः सिद्ध इति ध्येयम्। अन्यानधीनत्वेशाधीनत्वयोर्लभायैवं विन्यासः॥2॥

अभ्युपगमाधिकरणम्॥2-2-3॥

ॐ अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॐ ॥ 2-2-3-179 ॥

अत्र श्रुत्यप्रामाण्यान्न मे प्रागुक्तदोष इति प्राप्तं चार्वाकमतं निरस्यते। नेत्यस्ति। अर्थशब्दो विषयप्रयोजनपरः। त्वदीयशास्त्रस्य सिद्धान्तत्वमुपगम्यते न वा। अन्तेऽस्मदिष्टम्। आद्ये विषयप्रयोजनवत्त्वं नोपेयते उतोपेयते। नाद्यः। अभ्युपगमेऽपि सिद्धान्तत्वाऽभ्युपगमेऽपि तद्व्यापकयोरर्थयोरभावाऽभ्युपगमाद् व्याहत्यापातात्। नान्त्यः, दृष्टादृष्टयोर्विषयप्रयोजनयोभावान्न युक्तं तन्मतमित्यर्थः॥3॥

पुरुषाश्माधिकरणम्॥2-2-4॥

ॐ पुरुषाश्मवदिति चेत् तथाऽपि ॐ ॥ 2-2-4-180 ॥

अत्र न प्रागुक्तदोषोऽत्रास्तीति प्राप्तं जीवगुणकप्रधानकर्तृवादं निराचष्टे। नेत्यस्ति। यथा पुरुषस्य चेतनस्य सम्बन्धेन शरीरमश्मानयनादिकर्तृ तद्वत्प्रधानं जीवसम्बन्धात् महदादिकार्यकर्त्रस्त्विति चेत्, तथापि एवमधिकाशङ्कासद्भावेऽपि नोक्तदोषनिस्तारः। ‘न ऋते’ इत्यादिश्रुत्या शरीरप्रवृत्तेरपीशायत्तत्वेन तव दृष्टान्तः साध्यहीन इति भावः॥

इतश्च साध्यहीन इत्याह —

ॐ अङ्गित्वानुपपत्तेः ॐ ॥ 2-2-4-181 ॥

जीवस्य गुणत्वे त्वयोच्यमाने सार्वजनीनस्य शरीरम् प्रत्यङ्गित्त्वस्यानुपपत्तेर्न पुरुषाश्मदृष्टान्तो युक्त इत्यर्थः। प्रागुक्तश्रुतावस्य हैतुकत्वेनानादरादत्र चशब्दाप्रयोगः॥4॥

अन्यथानुमित्यधिकरणम्॥2-2-5॥

ॐ अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॐ ॥ 2-2-5-182 ॥

अत्र प्रागुक्ताङ्गित्वानुपपत्त्युद्धारेण प्राप्तं जीवप्रधानकर्तृवादं प्रत्याचष्टे। चशब्देनाङ्गित्वानुपपत्तेराकर्षः। अन्यथा प्रागुक्तादन्यथा जीवस्य प्राधान्येन प्रकृतेर्गुणत्वेन पुरुषाश्मदृष्टान्तेनैवानुमितौ चाङ्गित्वानुपपत्तिः। कुतः? ज्ञशक्तिवियोगात्। जानातीति ज्ञः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। ज्ञस्य पुरुषस्य शरीरसम्बन्धे शक्त्यभावात्तदुपसर्जनकपुरुषकर्तृत्वपक्षे तेन विना तत्सम्बन्धे सामर्थ्याभावाद्

दृष्टान्ताभावादिति भावः। इतरेत्यत्र श्रुत्यादिप्राप्तं जीवकर्तृत्वम् अत्र तु समयप्राप्तं निरस्यत इति भेदः॥

सामान्यदोषेणापि प्राक्तनसर्वपक्षान्निराह—

ॐ विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॐ ॥ 2-2-5-183 ॥

सर्वश्रुतिस्मृतियुक्तिविरुद्धत्वाच्चानीश्वरमतमसमञ्जसमित्यर्थः॥5॥

वैशेषिकाधिकरणम्॥2-2-6॥

ॐ महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॐ ॥ 2-2-6-184 ॥

अत्र प्रागुक्तनिरीशमतोक्तदोषोऽत्र नास्तीति प्राप्तं वैशेषिकमतं निरस्यते। पञ्चम्यन्ताद्वतिः। प्रतियोगिनस्तथा निर्देशात्। तत्र तस्येवेत्यस्य प्रायिकत्वात्। षष्ठ्यन्ताद्वतित्वे तु सकाशादिति योज्यम्। भावप्रधानोऽयम्। यथा महत्वाद्दीर्घत्वाच्च परिमाणाच्चतुरणुकादि कार्यगतं परिमाणं जायते तथा ह्रस्वत्वात्परिमाण्डल्याच्च परिमाणात् तत्तत्कार्ये परिमाणमुत्पद्येतेत्यर्थः। अन्यथा महत्त्वदीर्घत्वाभ्यामपि नोत्पद्येत। अविशेषादिति वा शब्दार्थः। परिमाणावान्तरजातौमानाभावेनाणुत्वमहत्वादेः सावधिकतया द्व्यणुकादिपरिमाणस्यापि स्वापकृष्टपरिमाणान्महत्त्वेन सारूप्याद्वैजात्येऽपि सङ्ख्येव द्व्यणुकादिपरिमाणेन तत्कार्ये परिमाणोत्पत्तिसम्भवादिति भावः। एवं द्रव्यसमवायिकारणमपि निरसनीयम्। अत्र महत्त्वदीर्घत्वेत्यादिवाच्ये महदित्यादिनिर्देशस्तु 'प्रचयविशेषाच्च महत्' इति काणादसूत्रानुसारादिति ध्येयम्। दार्ष्टान्तिकस्य द्वित्वाद्वा विषयव्याप्त्यर्थं वा परोपेतपरिमाणचतुष्कमप्रामाणिकमिति सूचयितुं वा दृष्टान्तद्वयोक्तिः॥

असमवायिकारणं निरस्य निमित्तं निरस्यति—

ॐ उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॐ ॥ 2-2-6-185 ॥

उभयथाऽपिईश्वरेच्छाया नित्यानित्यत्वरूपप्रकारद्वयेऽपि न कर्म परमाणुषु क्रिया न सम्भवति। अतः परमाणुषु क्रियाभावात् तदभावः परिमाणसन्निधापितद्व्यणुकादिकार्याभाव इत्यर्थः। नित्यत्वे लये तस्यां सत्यामणुषु कर्मानुत्पादेन व्यभिचाराद्धेतुत्वं नास्ति। अनित्यत्वे अनवस्ताद्यापातेनोत्पादकाभावादीशेच्छाया हेतुत्वं न युक्तमिति भावः। सिद्धान्तेत्वीशस्य वैदिकत्वान्न दोष इति हृदयम्। उभयथापि तदभावादित्येवोक्तौ कर्माद्यभावेनान्यथासिद्धिं शङ्केत। अतो न

कर्मेत्युक्तिः। तस्य इच्छैकहेतुकत्वाददृष्टविलम्बेन कार्यविलम्बाभावात्। उभयथाऽपि न कर्मेत्येव पूर्तौ शेषोक्तिरनिष्टसूचनार्था। उभयथाऽपि कर्माभावादिति वाच्ये न कर्मात इति भेदेनोक्तिर्लये सत्यामपीशेच्छायां न कर्मातो व्यभिचारः। तदन्यदापि न कर्म अतः कार्याभाव इति सूचयितुम्॥

समवायिकारणं च निराह –

ॐ समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॐ ॥ 2-2-6-186 ॥

चः समुच्चये। अवयवावयव्यादीनां भिन्नत्वमुपेत्य तेषां समवायायुपगमाच्च तन्मतमसत्। कुतः? समवायस्यापि समवायिभ्यां भिन्नत्वसाम्यात्। मृद्घटसमवाय इत्यादिविशिष्टबुद्ध्युपपत्तये समवायान्तरापेक्षायां तत्राप्येवं तत्राप्येवमित्यनवस्थानादित्यर्थः। समवायासम्भवान्न परमाण्वादीनां द्रव्यादिकारणत्वं युक्तमिति भावः॥

एवं कारणत्रयनिरासेन सृष्टिं निरस्य प्रलयं निराचष्टे—

ॐ नित्यमेव च भावात् ॐ ॥ 2-2-6-187 ॥

किञ्चेति चार्थः। ईशेच्छापरमाण्वादिकारणस्य नित्यं भावान्नित्यमेव च कार्यं स्यान्न तु कदाचित्प्रलय इत्येवार्थः। यद्वा समवायस्वेत्यस्ति। सत्तासमवायो जनिरिति परैरङ्गीकृतत्वात् समवायस्य च नित्यमेव भावात् सर्वं नित्यं जनिमत्स्यादित्यर्थः। तथाच सृष्टि प्रलयानुपपत्तिरिति भावः॥

अभ्युपेत्य परमाणुनित्यत्वं तदारम्भवादो दूषितः। इदानीं तु तन्नित्यत्वमेव नेत्याह —

ॐ रूपादिमत्त्वाच्चविपर्ययो दर्शनात् ॐ ॥ 2-2-6-188 ॥

किञ्च पार्थिवादिपरमाणूनां रूपसादिमत्त्वात् प्रकृतनित्यत्वविपर्ययः अनित्यत्वं भवति। यद्रूपादिमत् तदनित्यमिति घटादौ दर्शनादित्यर्थः। भौतिकत्वेन रूपादेर्विशेषणात् नेशादौ व्यभिचारः॥

अस्तु रूपादिमत्त्वेऽपि नित्यत्वम्। अस्तु वा अनित्यत्वम्। किं बाधकमत आह —

ॐ उभयथा च दोषात् ॐ ॥ 2-2-6-189 ॥

उक्तपक्षद्वयेऽपि दोषसत्त्वादित्यर्थः। आद्ये घटादेरपि नित्यतापत्तिः। तत्साम्यस्य अणुष्वप्यनेन हेतुना सुसाधत्वात्। अन्त्येऽणूनामभावेन द्व्यणुकादिकार्याभाव इति भावः।

इतश्च तन्मतं निराचष्टे—

ॐ अपरिग्रहाच्च अत्यन्तमनपेक्षा ॐ ॥ 2-2-6-190॥

परमाण्वारम्भवादस्य श्रुत्यादिपरिग्रहशून्यत्वात् तद्विरुद्धत्वाच्चानपेक्षा अनादरणं युक्तमित्यर्थः॥6॥

समुदायाधिकरणम्॥2-2-7॥

ॐ समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॐ ॥ 2-2-7-191 ॥

एवं हैतुकान्निरस्य पाषण्डिषु परमाणुपञ्जवादिनोर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतमत्र नये निरस्यते। उभयेत्यनेकोपलक्षणम्। अपिः एकहेतुकत्वपक्षनिरासमूचकः। कालकर्मादिनिमित्तेन क्षणिकोऽणुहेतुकः समुदायो भवति। न त्ववयवी कश्चिदस्तीति मते समुदायः किमेकाणुहेतुक उतानेकाणुहेतुकः। एकस्मात् समुदाय इत्यस्य व्याहत्यादेराद्योऽयुक्तः। अन्त्येऽपि उभयहेतुके मिलितानेकहेतुके समुदायेऽङ्गीकृते सति तदप्राप्तिस्तस्य समुदायस्याप्राप्तिरनुपपत्तिरित्यर्थः। अणूनां मेलने सति समुदायस्तस्मिन् सति मेलनमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः। विरलानेकहेतुकत्वे तु तादृशाणूनां सदा सत्त्वात् समुदायोऽपि सदा स्यादिति लयायोगादिति भावः। समुदाये अनेकहेतुकेऽपीति वाच्ये उभयेत्युक्तिः उभाववयवावस्य मेलनस्य तदुभयमिति समुदितानेकत्वरूपमिलितत्वरूपपक्षलाभाय। सङ्ख्याया अवयवे तयप्। द्वित्रिभ्यां तयस्ययज्वा। उभादुदात्तो नित्यमिति स्मृतेः। यद्वोभशब्दपर्यायः अत्रोभयशब्दः। सर्वादिसूत्रकैय्यटे उभादुदात्तो नित्यमिति नित्यग्रहणस्य समासादावुभशब्दस्योभयेत्येव रूपमित्येतदर्थज्ञापकत्वोक्तेः। एवञ्चोभयहेतुकः समुदाय इत्यत्रापिमिलितोभयहेतुकः समुदायश्चेदन्योन्याश्रयात्तदप्राप्तिः। विरलोभयहेतुकश्चेत् समुदायः सदा स्यादित्यर्थः। केचित्तु मिलिता विरलाश्चेत्युभये येऽणवस्तदुभयहेतुकेऽपिसमुदाये तदप्राप्तिः। तदिति सन्निहितसमुदायो बुद्धिस्थलयश्चोच्यत इति पक्षद्वयस्यापि सूत्र एव निरास इत्यप्याहुः॥

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वात् ॐ॥2-2-7-192॥

इतरसहितमितरदितरेतरत्। तस्य प्रत्ययोऽपेक्षाबुद्धिर्यस्य व्यवहारादेस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। यदुक्तं प्राक् लयायोगोऽन्योन्याश्रय इति च। तन्न। अणुगतानेकत्वसङ्ख्यारूपस्य मदभिमतसमुदायस्य सदा सत्त्वेऽपि तत्प्रतीतिव्यवहारयोरपेक्षाबुद्ध्यधीनत्वात् सामीप्यहेतुकापेक्षाबुद्ध्यभावेन समुदायप्रतीत्यादेरभावाल्लयाद्युपपत्तिरिति चेन्न। विरलाणूनां मिलिताणुरूपसमुदायोत्पत्तिमात्रे निमित्तत्वादपेक्षाबुद्ध्यादौ निमित्तत्वाभावादित्यर्थः। क्षणिकवादे एकैककार्योत्पादनेनैवाणूनां नाशादादौ दर्शनं ततोऽपेक्षबुद्धिस्ततस्तत्समुदायविषयप्रतीतिव्यवहारावेकत्र सर्वं न युक्तमिति कदापि

समुदायप्रतीतिव्यवहारौ न स्याताममिति भावः। इतरेत्याद्युक्तिरपेक्षाबुद्धिस्वरूपोपदर्शनाय। तदप्यन्योन्यसाहित्यरूपसामीप्यहेतुका सेति सूचयितुम्। अभ्युपेत्य चेदमुदितम्।

वस्तुतो विरलाणुभ्यो मिलिताणुरूपासदृशकार्यजननमेवायुक्तमित्याह—

ॐ उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॐ ॥ 2-2-7-193 ॥

नेत्यस्ति। चः समुच्चये। विसदृशकार्यजनिश्च न युक्तेत्यन्वेति। अवधारणेऽपि वा। उत्तरस्य स्वसदृशकार्यस्योत्पाद एव पूर्वस्य कारणस्य निरोधान्नाशादित्यर्थः। क्षणिकवादे कारणस्य सदृशकार्यजनन एव सामर्थ्यात् तत्कार्यमुत्पाद्य पश्चाद्वैसादृश्यं जनयतीत्येतदप्ययुक्तमिति भावः। सुधायां तूत्पत्तिमात्र एव सदृशकार्योत्पाद एव निमित्तत्वाद्विसदृशकार्ये निमित्तत्वाभावादिति पूर्वसूत्रांशस्यार्थान्तरमुक्त्वोत्तरोत्पादे चेत्यस्य कार्योत्पाद एव पूर्वनाशान्न कार्ये संस्काराधायकत्वम्। तेनात्मादिक्षणिकत्ववादे व्याप्त्याद्यनुसन्धातुरेकस्याभावेऽपि पूर्वपूर्वात्मसंस्कारयोगिनामुत्तरात्मनामुत्पत्त्या तर्कादिव्यवहारो युक्त इति न युक्तमित्यर्थान्तरमुक्तम्॥

प्रतिक्षणोत्पत्तिरेव नेत्याह —

ॐ असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॐ ॥ 2-2-7-194 ॥

नेत्यस्ति। उत्तरोत्पाद इति पूर्वेति च प्रतिक्षणमिति योग्यतयाऽन्वेति। न प्रतिक्षणं कार्योत्पत्तिर्युक्ता। कुतः? किं कारणे नष्टे कार्यमुत्पद्यते विद्यमाने वा। आद्ये असति पूर्वस्मिन्कारणेऽसति कार्योत्पत्तिरित्युक्ते तत्तस्य कार्यमिति प्रतिज्ञाया उपरोधो हानिरित्यर्थः। अतिप्रसङ्गादिति भावः। अन्यथा सति पूर्वस्मिन् उत्तरोत्पाद इत्यन्त्यपक्षे यौगपद्यमविच्छिन्नोत्पत्तिः। कार्याणामिति प्रकृतमन्वेति। स्यादिति शेषः। कारणस्य कार्यक्षणेऽप्यवस्थाने कारणस्य विनाशकाभावेन पुनस्तस्मात् कार्योत्पत्तयः स्युः तेभ्यस्तथेति सर्वकार्यजनिरविच्छिन्ना स्यादिति भावः। यद्वा यस्मिन् क्षणे कारणं तस्मिन्नेव कार्यावस्थानं तत्कार्याणां चैवमिति सर्वकार्याणां सहावस्थानरूपयौगपद्यं स्यादित्यर्थः। पराभिमतत्वादसत्पक्षस्य पूर्वनिर्देशः।

एवं क्षणिकवादे कार्योत्पत्तिं निरस्य विनाशं च निरस्यति —

ॐ प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॐ॥ 2-2-7-195॥

प्रतिसङ्ख्या बुद्धिः। तदभावोऽप्रतिसङ्ख्या। बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वविनाशौप्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधौ। तावेव ससन्तानविनाशप्रतिक्षणविनाशावुच्येते। तयोरप्राप्तिरनुपपत्तिः। कुतः? अविच्छेदात्।

कार्यजनीनामिति वा कार्याणामिति वा प्रकृतमन्वेति। कारणे सति कार्यं भवत्येवेति नियमाभ्युपगमात् प्रतिक्षणं कार्यमुत्पाद्य नश्यतीति वाच्ये उत्पत्तिक्षणस्यैव कार्यवियोगक्षणत्वात्कार्यवियोगकाले कारणं सदेवेति कार्यमुत्पादयेत्। तदुत्पत्त्यनन्तरं चैवमिति कथं त्वदङ्गीकृतप्रतिक्षणविनाशःस्यात्। तथा सतो हि घटस्यान्तिको नाशः। अतोऽसौ सत्त्वात्कार्यमुत्पादयेदेव। तत्कार्यं चैवमिति कथं त्वदङ्गीकृतसन्तानोच्छेदः स्यादिति भावः।

अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वान्यथानुपपत्त्या क्षणिकत्वं भावानामुपेयमित्यत आह —

ॐ उभयथा च दोषात् ॐ ॥ 2-2-7-196 ॥

कारणे सति कार्यं भवत्येवेति नियमेऽनियमे चोभयथापि दोषादित्यर्थः। आद्ये कारणस्यापि यावत्कार्यभावित्वात् सव्येतरगोश्रृङ्गवत् न कार्यकारणभावः। अन्त्ये तत्कालेऽर्थक्रियाभावेनाऽसत्त्वापत्त्या न कदापि ततः कार्यजनिरिति भावः। जलाहरणादियोग्यतयैव सत्त्वोपपत्तिरिति हृदयम्।

ननु यत्सत् तत्क्षणिकं यथा दीपादीत्यनुमानात् क्षणिकत्वं भावानामस्त्वित्यत आह—

ॐ आकाशे चाविशेषात् ॐ ॥ 2-2-7-197 ॥

दीप इवाकाशे च परिमाणविशेषाभावादित्यर्थः। आकाशे परिमाणविशेषादर्शनेन तस्याक्षणिकत्वं सिद्धमिति तद्दृष्टान्तेन सत्त्वहेतुनैव सर्वस्य क्षणिकत्वं ससाधनमिति प्रकरणसमं त्वदनुमानमिति भावः।

बाधितत्वेनाप्यनुमानं निराह —

ॐ अनुस्मृतेश्च ॐ ॥ 2-2-7-198 ॥

तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानाच्च नानुमानात् क्षणिकत्वं सिद्धमिति भावः॥7॥

असदधिकरणम्॥2-2-8॥

ॐ नासतोऽदृष्टत्वात् ॐ ॥ 2-2-8-199 ॥

अत्र नये परमाणुपुञ्जवादोक्तदोषोऽत्र नेति प्राप्तं शून्यमतं निरस्यते। विश्वकारणत्वमिति प्रकरणाल्लभ्यते। असतः शून्यस्य जगत्कारणत्वं न युक्तम्। कुतः? मानाभावादिति भावः। कुतो न मानमित्यतः अदृष्टत्वात् शून्यकारणत्वस्याप्रत्यक्षत्वात्। क्वापि तत्कारणत्वस्यादर्शनाद् दृष्टान्ताभावेन नानुमानिकत्वादिति यावत्। तथा अदृष्टत्वात्, आगमस्येति शेषः, शून्यकारणत्वबोधकागमस्यादर्शनादिति परम्परया अदृष्टत्वादिति हेतुर्योज्यः। तेन

मानाभावोमेयाभावहेतुर्न तु प्रत्यक्षाभावमात्रमिति न शङ्क्यम्। सुधायां तु असतः शून्याज्जगतो जन्म नेति पञ्चम्यन्ततया व्याख्यातम्। यद्यपि शून्यं नासदित्यभ्युपेतं माध्यमिकैः। तथापि सर्वधर्मशून्यत्वे असत्त्वमापाद्य असत इत्युक्तम्। वृत्त्यन्तरं तु ना पुरुषः सतः आदिकालीनकार्यस्य कर्ताऽनुमातव्यः। कुतः? दृष्टत्वात् अद्यतनकार्ये पुंस्कृतत्वस्य दृष्टत्वादिति ध्येयम्॥

अदृष्टमप्यसतो जगत्कारणत्वमस्त्वित्यत आह —

ॐ उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॐ ॥ 2-2-8-200 ॥

एवमसतः कारणत्वे सत्युदासीनानां हेयोपादेयधीविषयत्वादुदासीनानां खपुष्पादीनामपि सकाशात् सौरभ्यादिकार्यसिद्धिः स्यादित्यर्थः। तेभ्यो न चेच्छून्यादपि कार्यं न स्यादसत्वाविशेषादिति सूचयितुं चशब्दः। खपुष्पादीनामति वाच्ये उदासीनेत्युक्तिहेतुगर्भतया नेष्टापत्तिरिति सूचयितुम्। वृत्यन्तराणि तु— एवं शून्यादेव सर्वोत्पत्तौ तन्त्वाद्युपादानादुदासीनानामपिउपादानहीनानां, चिकीर्षादिरहितानामिति यावत्, पुंसां घटादिकार्यसिद्धिः स्यादिति। तथा देशकालाद्यपेक्षानियमादुदासीनानां तदपेक्षारहितानामपि कार्याणां किंशुकपुष्पादीनां सिद्धिः स्यादिति सुधोक्तानि ध्येयानि। कर्तृपादाननिमित्तापेक्षापि न स्यादिति फलितार्थः।

माऽस्तु शून्यपरिणामः प्रपञ्चस्तद्विवर्तस्तु स्यात्तत्रोक्तदोषाभावादत आह —

ॐ नाभाव उपलब्धेः ॐ ॥ 2-2-8-201 ॥

भवतीति भावः सन्। अभावोऽसन्। भवतेश्चेति णः। जगत् अबावो न शून्यव्यतिरेकेण तत्त्वं नास्तीति न। उपलब्धेः सदित्युपलभ्यमानत्वादित्यर्थः। सुधायां तु तवासतो जनिरिव मम सतो जनिर्न दृष्टा। जगतः सत्त्वासम्मतेरित्यतो जगतोऽसत्त्वं नेत्याहेत्यवतार्य व्याख्यातम्॥

ननु सदित्युपलम्भेऽपि स्वप्नादिवदसज्जगत् किं न स्यादत आह—

ॐ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॐ ॥ 29-202 ॥

अभाव इति वर्तते। स्वप्नजाग्रत्वादिवद्रज्जुभुजङ्गादिवच्च जगदभवोऽसन्न। कुतः? वैधर्म्याच्च स्वप्न एवायं न जाग्रत्, रज्जुरियं न सर्प इति बाधविषयत्ववैलक्षण्यादित्यर्थः। चशब्दोऽत्र च बाधाभावादित्यर्थसूचनार्थः। सुधायां दृश्यत्वादिमिथ्यात्वहेत्वपाकरणार्थमप्येतदवतार्य स्वप्नादिवज्जगद् दृश्यत्वादिना न मिथ्या। अर्थक्रियाकारित्वादिवैधर्म्यात् सत्यत्वसिद्धेः, चशब्दोक्तसत्यत्वानुभवबाधात्, ततएव मिथ्यात्वे कस्यापि मानस्याभावाच्चेति

सत्प्रतिपक्षबाधमिथ्यात्वमानाभावोक्तिपरमप्युक्तम्। तेन बाधाभावो नासिद्ध इति ध्येयम्। तत्त्वप्रदीपे तु स्वप्नादिवज्जगन्न दृश्यत्वादिना मिथ्या। स्वप्न एवायं न जागरित इति प्रतीत्या जाग्रत्त्वाद्येकदेशस्यैव मिथ्यात्वेन सर्वस्य तदभावेन साध्यवैकल्यात्। जाग्रत्त्वस्य दृष्टान्तत्वे बाधकभावाभावाभ्यां वैधर्म्यादिति योजितम्। एतेनैवाद्वैतमतं च प्रत्युक्तं बोध्यम्।

अनुपलब्ध्यधिकरणम्॥2-2-9॥

ॐ न भावोऽनुपलब्धेः ॐ ॥ 2-2-9-203 ॥

अत्र नये नासतोऽदृष्टत्वादित्युक्तदोषो नात्रेति प्राप्तं विज्ञानमतं निराह। जगदिति प्रकृतम्। भवतीति भावः सद्रूपज्ञानम्। जगत् भावो ज्ञानात्मकं न। ज्ञानमेव जगदाकारेण परिणमत इति नेत्यर्थः। कुतः? अनुपलब्धेरननुभवात्। प्रमाणाभावादित्यर्थः। उपलब्धिविरोधादित्यर्थः। ज्ञानज्ञेययोर्भेदस्य साक्षिसिद्धत्वादिति भावः। ज्ञानमिति वाच्ये भाव इत्युक्तिर्नाऽसत इत्युक्तदोषो नेति दर्शयितुम्। केचित्तु प्राप्तौ भुवू शुद्धिचिन्तयोरिति कविकल्पद्रुमोक्तेश्चिन्तारूपज्ञानार्थस्य भुवो रूपमिति भावः। युष्माकं भाः साकारत्वेनाभिमतं ज्ञानमिति वाऽभिप्रेत्य भाव इत्युक्तिरित्याहुः॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ क्षणिकत्वाच्च ॐ ॥ 2-2-9-204 ॥

न भाव इति वर्तते। भाव इति आवर्तते च। भावस्य क्षणिकत्वाच्च आशुतरविनाशित्वाच्च न भावो जगदित्यर्थः। जगतः स्थायित्वं प्रागुक्तमिति भावः॥

एवं पृथङ् निरस्तानि बौद्धमतानि सामान्यदोषेण निराह—

ॐ सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-9-205 ॥

नेत्यस्ति। सर्वथा प्रत्यर्थं क्षणिकत्वकल्पने शून्याद्वैतकल्पने विज्ञानाद्वैतकल्पने प्रकटने प्रच्छादने वा वेदद्वेषपक्षा न ग्राह्याः। कुतः? अनुपपत्तेः उपपत्त्युपलक्षितमानाभावात् तद्विरुद्धत्वाच्चेत्यर्थः॥9॥

नैकस्मिन्नधिकरणम्॥2-2-10॥

ॐ नैकस्मिन्नसम्भवात् ॐ ॥ 2-2-10-206 ॥

अत्र सर्वप्रकारोपगमान्नैकपक्षोक्तदोषोऽत्रेति प्राप्तं क्षपणकमतं निराक्रियते। सत्त्वम्, असत्त्वं, सदसत्त्वं, सदसद्विलक्षणत्वं, सत्त्वे सति सद्विलक्षणत्वमसत्त्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं, सदसदात्मकत्वे सति

सदसद्विलक्षणत्वमित्यनियतसप्तप्रकारा एकस्मिन् वस्तुनि न युक्ताः। कुतः? असम्भवात्। अप्रामाणिकत्वेनासम्भावितत्वादित्यर्थः।

यद्यपि देहपरिमाणत्वं जीवस्योपेतं तत्किं सर्वदेहगतचेष्टोपपत्त्यर्थमुपेयते। अथ देहावच्छेदकं विनात्मनः परिमाणाभावाद्वा आद्य आह—

ॐ एवंचात्माऽकात्स्न्र्यम् ॐ ॥ 2-2-10-207 ॥

जैनमतप्रसङ्गसन्निधापितमात्मनो देहपरिमाणत्वमेवमिति परामृश्यते। एवं च देहपरिमाणत्वे सत्यात्मनो मशकादिदेहस्थात्मनो गजादिदेहप्राप्तावकात्स्न्र्यमपूर्णत्वं सर्वदेहाव्यापित्वं स्यादित्यर्थः। ततश्च न सर्वदेहचेष्टेति भावः। यद्वाऽऽत्मनो गजादिदेहस्थस्य मशकादिदेहप्राप्तावात्मनोऽकात्स्न्र्यं देह एव कात्स्न्र्यं न स्यादतिरेकः स्यादित्यर्थः। ततश्च कायपरिमाणत्वभङ्ग इति भावः। चशब्देनैवैषोऽप्यर्थः सङ्ग्राह्यो न वृत्त्यन्तरेणेत्येके॥

यदा यद्देहमाप्नोति तदा तद्देहपरिमाण इत्यत आह —

ॐ न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ 2-2-10-208 ॥

पर्यायादपि क्रमादपि, क्रमात् तत्तद्देहपरिमाणत्वाङ्गीकारादपि अविरोधो न च भवति। कुतः? विकारादिभ्यः विकारित्वापत्तेः। ततश्चानित्यत्वानिर्मोक्षत्वशास्त्रवैय्यर्थ्यानि तेभ्य इत्यर्थः। स्वमते जीवस्य सुखादिभोगकृतोच्चत्वनीचत्वरूपविकारोऽस्ति। तस्य स्वरूप विकाससङ्कोचरूपत्वात्। तथापिचैतन्यादियावद्द्रव्यभाविधर्मनिवृत्तावेवानित्यत्वोपगमान्नानित्य-त्वमुक्तं सुधायाम्। उक्तं च नयचन्द्रिकायाम् – सङ्कोचविकासादन्यथाभावान्नाशो नेति॥

प्रागुक्तं प्रत्यक्षं प्रत्याह —

ॐ अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषात् ॐ ॥ 2-2-10-209 ॥

अन्त्यस्यमुक्तिगतात्मपरिमाणस्यावस्थितेस्तदवच्छेदकतया नित्यदेहावश्यम्भावेनोभयस्य मुक्तावात्मतद्देहयोर्नित्यत्वादद्यतनदेहानामपि नित्यत्वं स्यादविशेषाद्देहत्वाविशेषादित्यर्थः। वृत्त्यन्तरं तु, अन्त्या याऽवस्थितिः सततोर्ध्वगतिरूपा मुक्त्याख्या तस्याश्च विकारात्तद्रूपादपि विकारात् आत्मनोऽनित्यत्वं स्यादिति पूर्वस्मादनुषङ्गः। न केवलं परिमाणादिति चार्थः। एवमपि तस्य नित्यत्वे उभयनित्यत्वादात्मप्रपञ्चयोर्द्वयोरपि नित्यत्वापाताद्विकारित्वमात्रस्य त्वयाऽप्रयोजकीकृतत्वाद्विकारविशेषस्य नाशव्याप्तत्वेन त्वयाऽनङ्गीकारादिति भावः। यद्वा स्थास्नूनां

परिमाणभेदेनात्मनो विकारापत्त्या वा देहेन्द्रियापत्तिबाधकेन वा निरात्मकत्वमुपेतम्। तच्च न। आद्ये गजादिदेहस्याविशेषात्। अन्त्ये स्थाणूनां मानुषाद्यविशेषात् गीतादिश्रवणेन स्थाणूनामपिविकासदृष्ट्या देहेन्द्रियाद्यनुमानादिति सुधोक्तं ध्येयम्। अत्रप्रपञ्चस्यापि नित्यत्वादितिवाच्ये उभयेत्युक्तिर्न्यायसाम्यसूचनाय॥10॥

पत्युरधिकरणम्॥2-2-11॥

ॐ पत्युरसामञ्जस्यात् ॐ ॥ 2-2-11-210 ॥

अत्र नये नैकस्मिन्नित्युक्तदोषोऽत्र नेति प्राप्तं सौरादिमतोप लक्षणत्वेन शैवमतं निरस्यते। नेति कारणत्वमिति च वर्तते। पत्युः पशुपतेः न जगत्कारणत्वं युक्तम्। कुतः? पत्युरसामञ्जस्यात् पारतन्त्र्यजनिमृत्यादिदोषित्वादित्यर्थः। तच्च श्रुत्यादिसिद्धमिति बावः। पत्युरित्युभयत्रान्वेति॥

इतश्च न युक्तमित्याह—

ॐ सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-11-211 ॥

पत्युरित्यस्ति। पत्युरशरीरत्वाज्जगता कार्यकर्तृभावरूप सम्बन्धानुपपत्तेश्च न पत्युः कर्तृत्वमित्यर्थः॥

इतश्चैवमित्याह—

ॐ अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॐ ॥ 2-2-11-212 ॥

पृथिव्याद्यधिष्ठानानुपपत्तेश्च न पत्युः कारणत्वमित्यर्थः। भूतानां प्रलीनत्वेन सृष्ट्यादिकालेऽभावादिति भावः। अभावादिति वाच्येऽनुपपत्तेरित्युक्तिः कारकत्वात् तस्यैवाधिष्ठानत्वे चेतनान्तरवद्भोगप्राप्त्या तदनुपपत्तेरित्यग्रेतनदोषसूचनाय॥

योगद्वयोक्तमाक्षिप्याह —

ॐ करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॐ ॥ 2-2-11-213 ॥

करणमिति देह उच्यते। जीवस्य तत्तत्कार्यजनने तस्य सहकारित्वात्। एतच्चोपलक्षणम्। अस्मदादिशरीरवदिदं कारकजातं साक्षात् प्रयत्नाधिष्ठेयतया पत्युःशरीररूपमधिष्ठानरूपं चेति न सम्बन्धानुपपत्त्यादीति चेन्न। भोगादिभ्यः सुखदुःखानुभवरूपभोगोत्पत्तिमरणाख्यदोषेभ्य इत्यर्थः। कारकजातस्य शरीरत्वे तद्धर्मप्राप्तेरनिवारणादिति भावः॥

करणवच्चेदित्युक्तं देहवत्त्वपक्षं सम्बन्धेत्युक्तं तदभाव पक्षं च दोषान्तरेण निरस्यति —

ॐ अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॐ ॥ 2-2-11-214 ॥

पत्युरित्यस्ति। शिवो देहवान् न वा। आद्ये पत्युरन्तवत्त्वं परिच्छिन्नत्वं स्यात्। अन्त्ये सर्वज्ञता न स्यात्। अशरीरिणो ज्ञानस्यैवाभावादिति भावः। वाशब्दो विकल्पार्थः। न हि तादृशस्य चैत्रादिवत् कर्तृत्वं युक्तमिति भावः। एतेन लीलाविग्रहोपादानमस्तीति प्रत्युक्तम्। तस्यापि देहत्वेन मृतिरूपान्तवत्त्वानिस्तारात्। स्वमते चैते दोषा आत्मनि चैवमित्यादिसूत्रैरेव श्रुतिबलानिरस्ता इत्याकूतम्॥11॥

उत्पत्त्यधिकरणम्॥2-2-12॥

ॐ उत्पत्त्यसम्भवात् ॐ ॥ 2-2-12-215 ॥

अत्र पूर्वन्यायेन निरस्तमपि शक्तिमतं विशेषदोषविवक्षया पुनर्निरस्यते। न शक्तिर्जगत्कारणमित्यन्वेति। कुतः? उत्पत्त्यसम्भवात्। ततोऽपत्योत्पत्त्यसम्भवादित्यर्थः। पुरुषाननुगृहीतस्त्रीमात्रादपत्योत्पत्तेरदर्शनादिति भावः॥

शिवानुगृहीता शक्तिः कारणमिति मध्यमवाममतं निराह—

ॐ न च कर्तुः करणम् ॐ ॥ 2-2-12-216 ॥

कर्तुश्चानुग्राहकस्य शिवस्य ज्ञानादिसाधनं नास्तीत्यर्थः। शिवस्य कारणोत्पादने केवलशक्तेरशक्तेरिति भावः॥

ज्ञानदेहादिकारणवान् अनुग्राहकः शिव इत्यणुवाममतं निराह —

ॐ विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॐ ॥ 2-2-12-217 ॥

कर्तुरित्यस्ति। विज्ञानादिभावेऽङ्गीकृते सति तस्य प्रकृतशैवमतस्याप्रतिषेधः प्रतिषेधो न कुतः स्यात्, अनुमतिः स्यादित्यर्थः। तादृशशिवेनैव सर्वकार्योत्पत्तौ व्यर्थं शक्तिकर्तृत्वाङ्गीकरणम्। शिवकर्तृत्वं च प्राङ् निरस्तमिति भावः॥

एवं शाक्तेयमतत्रयं पृथङ् निरस्य सामान्येनापि निराह —

ॐ विप्रतिषेधाच्च ॐ ॥ 2-2-12-218 ॥

सकलश्रुत्यादिविरुद्धत्वाच्चासमञ्जसं शक्तिमतमिति योज्यम्

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥2-3॥

विप्रतिषेधादित्युक्तदोषो वैदिकमतेऽपि स्यादित्याशङ्कां व्युदासयितुमत्र पादे श्रुतिविरोधो निराक्रियते॥

वियदधिकरणम्॥2-3-1॥

ॐ न वियदश्रुतेः ॐ ॥ 2-3-1-219 ॥

अत्र नये वियदुत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योरविरोध उच्यते। उत्पत्त्यसम्भवे वृत्तेरनुत्पत्तीत्यन्वेति। वियदनुत्पत्तिमन्न उत्पत्तिमदेव। कुतः? अश्रुतेः तदनुत्पत्तिश्रुत्यभावादित्यर्थः। अत्र श्रुतौ सूत्रे च वियत्पदेन भूताकाशौ तदभिमानिनौ चेति चतुष्टयमुच्यते। वियदिति च प्रकृतिजीवचैतन्यकालवेदमहदहङ्कारमनोबुद्ध्यादीनां तदभिमानिनां चोपलक्षकमिति सुधायाम्। विशेषव्याप्तिमत्त्वात्तत्सर्वमुच्यत इति तत्त्वप्रदीपे। उत्पत्तिश्चात्र पराधीनविशेषावाप्तिरूपा। सा च नित्ये यथायोग्यम्। श्रियः सिसृक्षुत्वं, प्रकृतेः परिणामः, आकाशस्य मूर्तसम्बन्ध इत्यादि। अन्यत्र भूत्वा भवनरूपा। उत्पत्तिश्रुतिरपि तत्तत्परा। एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

उत्पत्तौ मानाभावादेवानुत्पत्तिमत्त्वं सिद्ध्यतीत्यत आह—

ॐ अस्तितु ॐ ॥ 2-3-1-220 ॥

तुरेव। अस्त्येव वियदुत्पत्तिश्रुतिः 'आकाशः सम्भूतः' इत्यादिकेत्यर्थः।

'अनादिर्वा अयमाकाशः' इति श्रुतिविरुद्धेयं श्रुतिः। अश्रुतेरिति चासिद्धमित्यत आह—

ॐ गौण्यसम्भवात् ॐ ॥ 2-3-1-221 ॥

अनादित्वश्रुतिर्गौणी गौणानादित्वपरा। असम्भवात् अस्तीत्युक्तोत्पत्तिश्रुतीनामयोगादित्यर्थः। भूतस्य स्वरूपतः, तदभिमानिनो देहतः अवकाशतदभिमानिनोः पराधीनविशेषावाप्तित उत्पत्तिसम्भवेन चतुष्टयविषयत्वात् बहुत्वाच्चोत्पत्तिश्रुतिर्युक्ता। 'अनादिर्वा' इति श्रुतिर्भूते सर्वथाऽयुक्तेत्यसर्वविषयत्वाद्भूते छत्रिवल्लाक्षणिकी वा चिरन्तनत्वमात्रेण गौणी वा भूतेतरत्रितयाकाशपरा वा नेयेति भावः।

इतश्च गौणीत्याह —

ॐ शब्दाच्च ॐ ॥ 2-3-1-222 ॥

'अथ ह वा व नित्यानि' इति भाष्योक्तश्रुतेश्चानादिश्रुतिर्गौणी। अन्या मुख्यार्थेत्यर्थः। न केवलमसम्भवयुक्तिसिद्धेति चार्थः। अस्यां श्रुतौ भागशो द्युत्पद्यन्त इति भूतादिचतुर्भिर्भागैराकाशपदार्थस्योत्पत्त्युक्तेरवकाशादिस्वरूपकतिप-यभागेनानुत्पत्त्युक्तेरिति भावः॥

ननु 'न जायते म्रियते' इति विष्णावनुत्पत्तिवाचिशब्दस्य मुख्यार्थत्वदर्शनादस्याप्यनेकार्थत्व निरासायाकाशेऽप्यनुत्पत्तिश्रुतिर्मुख्यैव वाच्येत्यत आह —

ॐ स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॐ ॥ 2-3-1-223 ॥

च एव। तस्योभयत्रान्वयः। एकस्यैवानुत्पत्तिवाचिशब्दस्य विष्णौ मुख्यत्वेऽप्याकाशेऽमुख्यत्वं स्यादेव। ब्रह्मशब्दवत्। ब्रह्मशब्दस्य परब्रह्मणि मुख्यत्वेऽपि विरिञ्चादिषु गौणत्वं तद्वदित्यर्थः॥

अस्तु ब्रह्मशब्दो बाधादन्यत्रामुख्यः। इह तु कुत इत्यत आह—

ॐ प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् शब्देभ्यः ॐ ॥ 2-3-1-224 ॥

आकाशेऽप्यनुत्पत्तिवाचिशब्दस्य मुख्यत्वे 'स इदं सर्वमसृजत' इति प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। न चात्र आकाशो न श्रुत इति शङ्क्यम्। अव्यतिरेकादाकाशस्य सर्वमध्यपतितत्वादित्यर्थः। स्पष्टमत्राकाशस्योत्पत्तिर्न भातीत्यतः शब्देभ्य इति। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्रे', 'असदेवेदमग्रे', 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चन' इत्याद्युत्पत्तिश्रुतिभ्यः स्पष्टं सादित्वमित्यर्थः। बहुवचनेन बहुश्रुतिविरोधादेकस्यानुत्पत्तिशब्दस्यामुख्यत्वं न्याय्यमिति सूचयति। असम्भवादित्युक्तविवृत्तित्वादस्य न पौनरुक्त्यम्॥

आकाशादावनुत्पत्तिशब्दस्य गौणत्वाय तस्य शब्दतः सादित्वमुक्त्वाऽनुमानतोऽपि तदाह —

ॐ यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॐ ॥ 2-3-1-225 ॥

विकार इति कर्मणि घञ्। 'यावदवधारण' इत्यव्ययीभावः। विभागपदेन कर्मार्थघञन्तेनाल्पशक्तिमानुच्यते। तस्याप्ययमिहशक्तो नेति विभज्यमानत्वात्। यावद्विकारं विक्रियमाण एवार्थो विभागो विभक्तः, अल्पशक्तिमानित्यर्थः। यो विभक्तः स विक्रियमाण इति व्याप्तिरुक्ता भवति। यावदनित्यं कृतकमितिवत्। लोकवद्घटादिवदित्यर्थः। एतेन वियदुत्पत्तिमत् विभक्तत्वाद्घटादिवदित्यनुमानं सूचितम्। तुर्यस्मादित्यर्थे। यस्मादेवं तस्माद्विकार इत्येके। अनुमानेनापीति टीकोक्तेः। अल्पशक्तित्वाच्चेति तत्त्वप्रदीपोक्तेः तुश्चार्थः सन् अनुमानस्य

प्राक्तनशब्दसमुच्चयार्थ इत्यन्ये। यदुत्पत्तिमत् न तदविभक्तं व्यतिरेकेण यथा ब्रह्मेतितोरर्थ इत्यप्याहुः॥1॥

मातरिश्वाधिकरणम्॥2-3-2॥

ॐ एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॐ ॥ 2-3-2-226 ॥

'आकाशाद्वायुः', 'वायुर्वा व नित्यः' इति वायुत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्यविरोध उच्यते। मातरिश्वापदेन तदमुख्यमुख्याभिमानिरूपत्रितयपरेण तदुत्पत्त्यनुत्पत्तिपरशब्दो गृह्यते।एतेनाश्रुतेरित्यादि प्रागुक्तहेतुजातेन मातरिस्वानुत्पत्त्यादिपरशब्दो व्याख्यातः गौणमुख्यत्वेन व्याख्यात इत्यर्थः। विशेषशङ्कायां मुख्यवायोर्ज्ञाननित्यत्वरूपविशेषं वक्तुमयं योगः॥2।

असम्भवाधिकरणम्॥2-3-3॥

ॐ असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॐ ॥ 2-3-3-227 ॥

अत्र ब्रह्मोत्पत्तिश्रुत्यविरोध उच्यते। तुरेव। सतो ब्रह्मणोऽसम्भव एवानुत्पत्तिरेव। कुतः? अनुपपत्तेः। असतस्सकाशात् सज्जन्मनोऽनुपपत्तेरित्यर्थः। क्वाप्यदर्शनादिति भावः। उत्पत्त्यसम्भव इत्यनुवृत्तावपि तस्य न वियदिति नञाऽन्वितत्वात् पुनरसम्भव इत्युक्तिः। तुरिति भागोत्पत्तिं पराधीनविशेषवाप्तिं च निराह। सत इत्युक्तिरसतः सदजायतेति श्रुतिसूचनेन ब्रह्मणोऽप्यसद्रूपकारणमस्तीति पूर्वपक्षयुक्तिं स्वातन्त्र्यरूपसिद्धान्तयुक्तिं च सूचयितुम्। सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टमिति भारतोक्तेः। द्युभ्वादिनये आविर्भावरूपोत्पत्तिसिद्धावप्यत्र प्रकरणेऽभिप्रेतपराधीनविशेषावाप्तिरूपोत्पत्तिनिरासोऽत्रेति ध्येयम्॥3॥

तेजोधिकरणम्॥2-3-4॥

ॐ तेजोऽतस्तथा ह्याह ॐ ॥ 2-3-4-228 ॥

अत्र तेजोजनकश्रुत्यविरोध उच्यते। अत इति सत इत्युक्तं ब्रह्मोच्यते। तोरनुवृत्तिः। उत्पत्तिमदिति मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तते। तथेति समुच्चये। अतस्तु ब्रह्मण एव न तु वायोः। तेजस्तथा तेजोऽप्युत्पत्तिमत्। न केवलं वियत् मातरिश्वा चेत्यर्थः। कुतः? हि यस्मादाह — 'तत्तेजोऽसृजत' इति श्रुतिरित्यर्थः। कारणत्वेनेत्यत्र सतस्तेजः कारणत्वेनोक्तावपीह पुनरुक्तिः तद्वत्स्वातन्त्र्येण वायोरपि हेतुत्वनिवृत्त्यर्थां। वियत्यविवादात्तेजसो दूरश्रुतेशजत्वोक्त्यैव वायोरपि तत्सिद्धेस्तेजोऽत

इत्येवोक्तिः। तदनन्यत्वमित्यादौ युक्तिप्राप्तं कारणान्तरस्वातन्त्र्यं निरस्तम् इह तु श्रुतिप्राप्तमिति भेदः। अत्र तेज आदिपदेन जडं तद्देवता चोच्यते॥4॥

अबधिकरणम्॥2-3-5॥

ॐ आपः ॐ ॥ 2-3-5-229 ॥

अत्राब्जनकश्रुत्यविरोध उच्यते। अतस्तथाऽह्याहेत्यस्ति उत्पत्तिमदिति च। आपोऽप्यत एवोत्पत्तिमत्यः। न त्वग्नेः। यस्मात् ब्रह्मैवेदमग्र 'आसीत्तदपोऽसृजत' इत्याह श्रुतिरित्यर्थः। आप इति श्रौतपृथिव्यादेरुपलक्षणम्। धर्मात् स्वेदादिदृष्टेरग्नेरब्जन्म प्रत्यक्षमिति विशेषशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं विभागः॥5॥

पृथिव्यधिकरणम्॥2-3-6॥

ॐ पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरादिभ्यः ॐ ॥ 2-3-6-230 ॥

अत्र 'ता अन्नमसृजन्त','अद्भ्यः पृथिवी' इति द्वारश्रुत्यविरोध उच्यते। अन्नमित्यन्वेति। अन्नं पृथिवी न प्रसिद्धान्नम्। येन श्रुत्योर्विरोधः स्यात्। कुतः? अधिकारात् 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादिभूतप्रकरणात्। यत्कृष्णं तदन्नस्येति कार्ष्ण्यरूपात्, पृथिवी वा अन्नमिति शब्दान्तरात्। आदिपदाद्वेदो नाप्रमाणमपौरुषेयत्वादित्यादि युक्तेश्चेत्यर्थः। नाधिकारमात्रादन्नश्रुतिबाधः शक्य इत्यतो रूपेति लिङ्गोक्तिः। न ताभ्यामप्यतीव श्रुतेर्बाधः। किन्तु तद्वाचित्वज्ञापनमिति भावेन शब्दान्तरोक्तिः। शब्देत्येव वाच्ये अन्तरेत्युक्तिः शाखान्तरस्थत्वसूचनायेति केचित्। 'आपोऽन्नमसृजन्त पृथिवी वा अन्नम्' इत्येवं रूपशब्दविशेषद्योतनायेत्यन्ये। श्रुत्योरप्रामाण्यं किं नेत्यतो युक्तिः॥6॥

तदभिध्यानाधिकरणम्॥2-3-7॥

ॐ तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॐ ॥ 2-3-7-231 ॥

अत्रैवमधिभूताधिदैवजन्मश्रुत्यविरोधमुक्त्वा 'यत्प्रयन्ति', 'रुद्रो माविशान्तक' इति तत्संहारकश्रुत्यविरोध उच्यते। अभिध्यानमिच्छा। तुस्तद्गतसञ्जिहीर्षात्वरूपविशेषवाची। एवेति कैमुत्यसूचकः। तल्लिङ्गेति तच्छब्देन बुद्धिस्थं विश्वसंहर्तृत्वमुच्यते। स इति प्रकृतो विष्णुः। संहर्तेति योग्यतयाऽन्वेति। स विष्णुः संहर्ता, न रुद्रः। कुतः? तदभिध्यानात्तस्य विष्णोरभिध्यानात्तस्याभिध्यानादिति श्रुत्युक्तादनादिबन्धसञ्जिहीर्षारूपादेव तल्लिङ्गात्तस्य सादिजगत्संहर्तृत्वस्य साधकाल्लिङ्गादित्यर्थः। अनादेरपि बन्धस्य लयकर्ता किल विष्णुः, किमु

सादेर्जगत इत्येवकारतात्पर्यम्। स इति 'स नो हरिर्घृतम्' इति श्रुतिसूचकम्। अयं च चन्द्रिकोक्तः। टीकायां तु तस्य बन्धलयस्य तदभिध्यानात्तस्येति श्रुतौ तदभिध्यानहेतुकत्वश्रवणात्। तथा च तल्लिङ्गात्तदिच्छाधीनत्वालिङ्गाद्बन्धलयकर्ता विष्णुरित्यनुमीयते। अनादिबन्धसंहर्तृत्वात् स विष्णुः सादिजगत्संहर्ताऽनुमीयत इति पञ्चम्योर्वैय्यधिकरण्यमुपेत्य परम्परया हेतुत्वोक्तिर्भाष्यस्यैव व्याख्या। एके तु तुरेव, स एवेत्यन्वेतीत्याहुः। तत्त्वप्रदीपादौ विशेषवाचीत्युक्तम्॥7॥

विपर्ययाधिकरणम्॥2-3-8॥

ॐ विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॐ ॥ 2-3-8-232 ॥

अन्नादिभूतसंहारक्रमश्रुत्यविरोध उच्यते। अत इत्यावर्तते। क्रमस्त्विति तुरन्वेति। क्रमस्तु 'क्रमादुत्पद्यते क्रमाद्विलीयत' इति श्रुत्युक्तक्रमस्तु अतः प्रकृतात् सृष्टिक्रमाद्विपर्ययेण भवति। कुतः? अतः अस्मादेव शब्दात्। यस्यां भाल्लवेयश्रुतौ क्रमादुत्पद्यत इत्यादिना क्रमाल्लयः श्रुतस्तस्यामेव श्रुतौ क्रमाद्व्युत्क्रमाच्चेति व्युत्क्रमाल्लयश्रवणादित्यर्थः। व्युत्क्रमाल्लयाङ्गीकारे लोकविरोध इत्यत उक्तम् उपपद्यते चेति। विपर्यय इति वर्तते। पूर्वोत्पन्नानां सामार्थ्याधिक्यादिति भावः। तुस्तु क्रमाल्लीयन्ते इति श्रुतिगतिसूचकः। विपरीतक्रमस्यापि क्रमत्वादिति भावः। तुरेव स्थाने अत इत्यत्र चान्वेतीत्येके॥8॥

अन्तराधिकरणम्॥2-3-9॥

ॐ अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॐ ॥ 2-3-9-233 ॥

अत्र प्रागुक्तव्युत्क्रमलयस्य विज्ञानादावपवादशङ्कानिरासेन लयक्रमश्रुत्यविरोध उच्यते। विज्ञानमनसी विज्ञानमनस्तत्त्वे अन्तरा विना क्रमेण प्रागुक्तक्रमेणान्येषां तत्वानां लय इति शेषः। कुतः? तल्लिङ्गात् । तत्रोक्तेऽर्थे 'मनसश्च विज्ञानम्', 'यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान' इति श्रुत्युक्तात् क्रमादुत्पन्नयोः क्रमाल्लयाख्यलिङ्गादिति चेन्न। अविशेषात् विज्ञानमनसोर्यथोत्पत्तिलय इति तद्विशेषप्रमाणाभावादित्यर्थः। विज्ञानमनसोः क्रमेणेति वाच्येऽन्तरेत्येवंरूपोक्तिः तद् द्वयादन्येषां व्युत्क्रमेण लय इत्यर्थानुमतिसूचनाय।

उक्तलिङ्गमेव तत्र मानमित्याह —

ॐ चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॐ ॥ 2-3-9-234 ॥

चरेति चञ्चलत्वान्मनोरूपमिन्द्रियं तद्वृत्तिरूपविज्ञानं चोच्यते। अचरेत्यचञ्चलत्वान्मनस्तत्वं विज्ञानतत्त्वं च। स्यादिति सम्भावनायाम्। स चासौ व्यपदेशश्च तद्व्यपदेशः। तद्व्यपदेशस्तु मनसश्च विज्ञानमिति मनोविज्ञानशब्दरूपो व्यपदेशस्तु चराचरव्यपाश्रयः स्यात्।इन्द्रितद्वृत्तितत्वविषयः सम्भावितः। तथापि स एकदेशविषयः। इन्द्रियमनस्तत्त्वरूपमनःशब्दार्थे तद्वृत्तिविज्ञानतत्त्वरूपविज्ञानशब्दार्थे चैकदेशेन्द्रियतद्वृत्तिरूपमनोविज्ञानविषय एव न तु तत्त्वविषय इत्यर्थः। तद्भावभावित्वात्। चराचरव्यपाश्रयेति प्रातिपदिकमात्रं तद्भावविशेषणत्वेनावर्तते। चराचरेति स्थावरजङ्गमावुच्येते। तदिति मनः। चराचरव्यपाश्रयेण जङ्गमादिसर्ववस्तुविषयकत्वेन तद्भावेन मनोभावेन आलोचनेनेति यावत्। भावित्वात् वृत्तिरूपज्ञानस्योत्पद्यमानत्वादित्यर्थः। तुशब्दः श्रुतेर्गतिसूचकः। मन इत्याद्यनुक्त्वा चराचरेत्युक्तिः तद्भावविशेषणत्वार्था। तदिति तन्त्रम्। तत्र चराचरेषु विषये तस्य मनसो भावित्वाद्विज्ञानस्येत्यर्थ इत्येके। मनः शब्देन मनोरूपेन्द्रियं मनस्तत्त्वं च विज्ञानशब्देनापि वृत्तिर्विज्ञानतत्त्वं च। तथाच मनसो विज्ञानमित्युक्तिर्वस्तुनि मनोभावेन वृत्तेर्जायमानत्वात् मनोरूपेन्द्रियतज्जन्यवृत्तिविषया न तत्त्वविषया इति न तल्लिङ्गमिति भावः। भागवाचिभक्तशब्दात् तस्येदमिति सम्बन्धमात्रेऽणि कृते भाक्तो भागविषय इति सिद्ध्यतीति ध्येयम्॥9॥

आत्माधिकरणम्॥2-3-10॥

ॐ नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॐ ॥ 2-3-10-235 ॥

अत्र ब्रह्मलयालयश्रुत्यविरोध उच्यते। प्रकरणाल्लयवानिति लभ्यते। आत्मा परमात्मा देहनाशाख्यलयवान्न भवति। अश्रुतेः ब्रह्मलयस्याश्रवणात्। 'सर्वं विलाप्यान्तस्तमसि निलीनः' इति श्रुतिस्त्वपिहितत्वपरेति भावः। कुत एवमन्यार्थकल्पनेत्यतः श्रुतेरिति विच्छिद्य योज्यम्। 'तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्' इति श्रुतेरित्यर्थः। अस्यां 'नासदासीत्' इति सर्वस्य लयमुक्त्वा 'तम आसीत्' इति प्रकृतेः स्थितिमुक्त्वा ब्रह्मणस्तदपिहितत्वस्य पुनः प्रादुर्भावस्य चोक्तेः। तस्मात्तत्समाख्यानादिति भावः। कुत एवम्? लय एव किं नस्यात्' समाख्यातोनिलीनश्रुतेः प्राबल्यात्। अत उक्तं नित्यत्वाच्च ताभ्य इति। ताभ्यो नित्यत्वाच्च आत्मनो निलीनश्रुतिरन्यार्थेत्यर्थः।

प्राबल्याय बाहुल्योक्तिः। असम्भव इत्यत्राजन्मोक्तावपि लीलादेहग्रहणत्यागावपि नेति वक्तुमयं योगः। 'नित्यो नित्यानाम्' इति देहनित्यत्वस्याप्युक्तेः॥10॥

ज्ञाधिकरणम्॥2-3-11॥

ॐ ज्ञोऽत एव ॐ ॥ 2-3-11-236 ॥

एवमधिभूताधिदैवब्रह्मविषयश्रुत्यविरोधमुक्त्वा इतः परमापादसमाप्ति जीवश्रुत्यविरोध उच्यते। अत्र 'नित्यो नित्यानाम्', 'आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति जीवजन्माजन्मश्रुत्यविरोध उच्यते। उत्पद्यत इति शेषः। अत एवेति तन्त्रावृत्योरन्यतरः। जानातीति ज्ञः जीवः, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, अत एव प्रकृतात्मन एवोत्पद्यते। अत एवाविनष्टा एवोत्पद्यन्त इति श्रुतत्वेन प्रकृतश्रुतेरेवेत्यर्थः। 'नित्यो नित्यानाम्' इति जीवनित्यत्वश्रुतिः स्वरूपपरेति भावः।

अनादिनित्यस्य जीवस्य जनिरयुक्तेत्यत आह —

ॐ युक्तेश्च ॐ ॥ 2-3-11-237 ॥

तादृशस्यापि जनेर्युक्तत्वाच्चेत्यर्थः। पराधीनदेहरूपविशेषावाप्तिलक्षणोत्पत्तेरुपपन्नत्वादिति भावः। देहोत्पत्तिनिमित्तविरोधस्तु यावदात्मेत्यत्र निरसिष्यते। एवंरूपजननेर्जीवे वियन्नयेन सिद्धावप्युत्पत्ति श्रुतिः पराधीनविशेषावाप्तिरूपोत्पत्तिपरा चेदनुत्पत्तिश्रुतिरपीश इव जीववियदादावपि तदभावपरेति पूर्वाक्षेपे तादृशजनिश्रुतिरीशे नास्ति। जीवादौ तु 'प्रकृतिः पुरुषः कालो वेदाश्चेति चतुष्टयम्। नित्यं स्वरूपतो विष्णोर्विशेषावाप्तिमात्रतः। उत्पत्तिमत्' इत्यादिकाऽस्तीति समाधानार्थमिदमिति बोध्यम्॥11॥

उत्क्रान्त्यधिकरणम्॥2-3-12॥

ॐ उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॐ ॥ 2-3-12-238 ॥

अत्र 'व्याप्ता ह्यात्मानः', 'अणुर्ह्येष आत्मा' इति जीवपरिमाणश्रुत्यविरोध उच्यते। ज्ञ इत्यस्ति। अणुरिति वक्ष्यमाणं हेतुबलाद्वा अन्वेति। जीवोऽणुरुत्क्रान्तिगत्यागतीनां हेतूनां सकाशादिति शेषः। उत्क्रान्त्यादिमत्त्वादिति यावत्। 'सोऽस्माच्छरीरादुत्क्रम्यामुं लोकं गच्छत्यमुष्मादिमं लोकमागच्छति' इति श्रुतौ तासां श्रुतत्वात्। व्याप्तस्य तद्योगात् मध्यमपरिमाणत्वेऽप्यनित्यत्वापत्तेरुक्तत्वादणुरेव। व्याप्तस्यापीशस्य भूमज्योतिर्नययोरुत्क्रान्त्याद्युक्तिः अक्षरनयन्यायेनाणुत्वस्यापि सत्त्वादिति भावः॥

प्रसङ्गादुत्क्रान्त्यादेः परायत्ततामाह —

ॐ स्वात्मना चोत्तरयोः ॐ ॥ 2-3-12-239 ॥

सकाशादित्यस्ति। च एव। परमात्मनैव ज्ञस्योत्क्रान्त्यादयो न स्वत इति विपरिणामेनानुवृत्तिः। उत्तरयोरुत्तरवाक्ययोः सखाशादित्यर्थः। 'सोऽस्माच्छरीरात्' इति वाक्ये उत्क्रान्त्यादौ स्वातन्त्र्यप्रतीतावपि 'स्वात्मना परेणेमं गर्भमनुप्रविशति' इति, 'एष ह्येनं जीवमभिजीवयति' इति चोत्तरवाक्यद्वये परायत्तत्वोक्तेरिति भावः। स्वेनेति वा आत्मनेति वा वाच्ये स्वात्मनेत्युक्तिः श्रुत्यनुसारात्। तेन शुभमादत्त इत्यर्थकेन स्वात्मशब्देन ईशस्योत्क्रान्त्यादिना जीववन्न दुःखमिति दर्शितम्॥

प्रागुक्तमाक्षिप्याह —

ॐ नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॐ ॥ 2-3-12-240 ॥

ज्ञोऽणुर्न। अतच्छ्रुतेः। 'व्याप्ता ह्यात्मान' इत्यनणुत्वश्रुतेः। उत्क्रान्त्यादिकं तु मनोगतमात्मन्युपचर्यत इति चेन्न। श्रुतेर्ब्रह्मपरत्वादिति योज्यम्। कुत एवमित्यत इतराधिकारात्। इतरस्य प्रकृत जीवभिन्नस्य ब्रह्मणोऽधिकारात्। 'आत्मेदं सृजति' इति प्रकरणात् आत्मान इति बहुवचनबाधनेन ब्रह्मपरत्वमित्यर्थः॥

अधिकारमात्रेण न बहुवचनश्रुतिबाधो युक्त इत्यत आह —

ॐ स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॐ ॥ 2-3-12-241 ॥

स्वेति शब्द इति वा, स्वस्य ब्रह्मणः शब्द इति वा स्वशब्द आत्मशब्दः। स्वशब्दादित्यनेन सममेतत्। उन्मानमपरिमितम्। भावप्रधानम्। आत्मशब्दापरिमितत्वलिङ्गाभ्यां च ईशपरत्वं श्रुतेः। न केवलमधिकारादिति चार्थः। एषो ह्यात्माद्युद्गतो मानशक्तेः' इति वाक्यशेषे तयोः श्रवणादिति भावः।

अणोर्देहे व्याप्त्ययोगेन तत्र तत्र परिज्ञानायोग इत्यत आह—

ॐ अविरोधश्चन्दनवत् ॐ ॥ 2-3-12-242 ॥

ज्ञस्याणुत्वेऽपीत्यन्वेति। अविरोधो देहव्याप्त्यविरोधः चन्दनवत् चन्दनबिन्दुवत्। एकदेशपतितहरिचन्दनबिन्दोः स्वांशैः शरीरव्याप्तिः। तद्वज्ज्ञस्यापि स्वांशैर्देहव्याप्तिर्युज्यत इति भावः। चन्दनेत्युक्त्या 'अणुमात्रोऽप्ययं जीवः' इति स्मृतिः सूचिता॥

उक्तमाक्षिप्याह

ॐ अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॐ॥2-3-12-243 ॥

चन्दनस्येत्यस्ति। चन्दनबिन्दोर्देहे क्वचित् सम्यगन्यत्रासम्यगित्यवस्थानवैशेष्याद् व्याप्त्ययोगेऽपि ज्ञस्य तदभवान्न युक्ता देह व्याप्तिरिति चेन्न। अभ्युपगमात् ज्ञस्याप्यवस्थितिवैशेष्यस्येत्यन्वेति। हृदि हीति श्रुतिप्रतीकोक्तिः। 'हृदि ह्येष आत्मा' इति श्रुत्येत्यर्थः। ज्ञस्यापि हृदि सम्यगन्यत्रासम्यगवस्थित्यभ्युपगमात् न वैषम्यमिति भावः।

सुराणामंशतस्थात्वेऽप्यन्येषां तदभावात् प्रकारान्तरेण देहव्याप्तिमाह —

ॐ गुणाद्वाऽऽलोकवत् ॐ ॥ 2-3-12-244 ॥

अणोरपि ज्ञस्य गुणाच्चिद्गुणाद्देहव्याप्तिरालोकवत्। आलोकस्य दीपादेः स्वरूपेण दीपिकादावप्येकत्रावस्थानेऽपि प्रकाशगुणेनावरकादिव्याप्तिः। तथा ज्ञस्य स्वरूपेण हृदि स्थितस्यापि चिद्गुणेन देहे व्याप्तिरिति ।गुणादित्युक्त्या 'चिद्गुणस्य स्वरूपत्वात्तद्व्याप्तिश्च' इति स्मृतिः सूचिता। अणुजीवाभिन्नस्य चिद्गुणस्य कथं व्याप्तिरित्यत आलोकवदित्युक्तम्॥ 12॥

व्यतिरेकाधिकरणम्॥2-3-13॥

ॐ व्यतिरेको गन्धवत् तथा च दर्शयति ॐ ॥ 2-3-13-245 ॥

अत्र ज्ञस्यैकरूपत्वानेकरूपत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। ज्ञस्येत्यस्ति। अंशैरिति शेषः। तथाशब्दोऽणोरपीत्यर्थकः। तथाऽणोरपि तदंशैर्व्यतिरेको भेदोऽस्ति। यद्वा व्यतिरेको विभागः। बहुरूपत्वमस्तीत्यर्थः। अत्यन्तभेदहीनस्य भेदोऽसम्भावित इत्यतो गन्धवदिति। यथा पुष्पगन्धस्य स्वांशैर्विभागस्तथेति। तथा च 'स पञ्चधा सप्तधा दशधा' इति श्रुत्युक्तं बहुरूपत्वं युक्तमिति भावः। कुतः? दर्शयति। 'अथैक एव सन् गन्धवद्व्यतिरिच्यते अथैकीभवत्यथ बह्वीभवति॥' इति श्रुतिः। चशब्दात् 'अचिन्त्ययेशशक्त्यैव' इति स्मृतिश्च। यतोऽत इति भिन्नांशशून्यत्वेऽपि ज्ञस्य योगाराधितेश्वरप्रसादयत्तयोगसम्पदांशविभागसम्भवेन बहुरूपत्वोपपत्तेः। स एकधा न सप्तधेत्येकरूपत्वश्रुतेः स्वरूपैक्यपरत्वादिति भावः। श्रुतिः स्मृतिश्च तथा दर्शयतीति वा तथेत्यस्यान्वयः॥ 13॥

पृथुगुपदेशाधिकरणम्॥2-3-14॥

ॐ पृथगुपदेशात् ॐ ॥ 2-3-14-246 ॥

अत्र जीवेशभेदाभेदश्रुत्यस्यविरोध उच्यते। ज्ञ इति स्वात्मनेति च वर्तते। स्वात्मना परमात्मना पृथक्भिन्नः न त्वभिन्नः। कुतः? उपदेशात्। 'भिन्नोऽचिन्त्यः परमो जीवसङ्घात्' इति श्रुतेरित्यर्थः। विरुद्धधर्माधिकरणत्वयुक्त्युपेतत्वेन भेदश्रुतेः प्राबल्यात् न तत्त्वमस्यादिश्रुतितः अभेदो ग्राह्य इति भावः॥

एवं तर्ह्यद्वैतश्रुतिर्निर्विषया स्यादित्यत आह —

ॐ तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॐ ॥ 2-3-14-247 ॥

ज्ञस्येत्यन्वेति। तदिति स्वात्मोच्यते। तद्गुणशब्दः तद्गुणसदृशगुणपरः। सारः स्वरूपम्। तद्व्यपदेशो ज्ञस्य पराभेदव्यपदेशः परमात्मगुणसदृशानन्दादिगुणस्वरूपत्वादेव। न त्वभेदात्। प्राज्ञवत् प्राज्ञस्य ब्रह्मणो यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति जगदभेदव्यपदेशो जगद्गुणसदृशगुणस्वरूपत्वात्तद्वदित्यर्थः। 'सर्वभूतगुणैर्युक्त देवं त्वं ज्ञातुमर्हसि' इति, 'गामाविश्य च भूतानि धारयामि' इति भूम्यादिगतधारकत्वादिगुणसदृशगुणात्मकत्वोक्तेर्जगद्गुणसारत्वं प्राज्ञस्य बोध्यम्। शास्त्रस्य सदधिकारिकतया मुक्त्ययोग्यानामनानन्दादिरूपत्वेऽपि तान् प्रति तत्त्वमसीत्यनुक्तेस्तद्गुणसारत्वाद्युक्तिर्युक्तेति ध्येयम्। सूर्यकादिवदित्यनेनागतत्वं तत्रैव व्यक्तम्॥ 14॥

यावदधिकरणम्॥2-3-15॥

ॐ यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॐ॥2-3-15-248॥

अत्र जीवस्वरूपानुत्पत्तितदुपाध्युत्पत्तिश्रुत्योरुपाध्युत्पत्तौ जीवानुत्पत्त्ययोगादिति प्राप्तविरोधो निरस्यते। चः समुच्चये। दर्शनाच्चेत्यन्वेति। उपाधेश्चेति वा। ज्ञस्येत्यस्ति। आत्मेति ब्रह्मोच्यते। ज्ञस्य जीवस्य तदुपाधेश्च यावदात्मभावित्वात् यावत्परमात्मभावित्वान्न दोषः। 'सोऽनादिना पुण्येन पापेनानुबद्धः' इत्यादिनाऽनादिपुण्यादिसम्बन्धबोधकश्रुत्यप्रामाण्यदोषे नेत्यर्थः। कुतः? तद्दर्शनात् स्मरणाच्च। 'नित्यः परो नित्यो जीव'इति श्रुतेः, 'आत्मा नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये' इति स्मृतेश्चेत्यर्थः। अविनष्टा एवोत्पद्यन्त' इति उपाद्युत्पत्तिवचनं तु बाह्योपाधिविषयमिति भावः। 'जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं बाह्य एव च' इति स्मृतेः। अनाद्यनन्ताज्ज्ञस्य न दोष इति वाच्ये यावदित्याद्युक्तिबिम्बोपाधितत्सन्निधीनां त्रयाणामप्यन्तवत्त्वं न। येन ज्ञस्य तथात्वं स्यादिति सूचयितुम्॥ 15॥

पुंस्त्वाधिकरणम्॥2-3-16॥

ॐ पुंस्त्वादिवत्त्वस्यसतोऽभिव्यक्तियोगात् ॐ ॥ 2-3-16-249 ॥

अत्र ज्ञस्य सुखादिरूपत्वतदभावश्रुत्यविरोध उच्यते। तुरेव। अस्येति तद्गुणसारत्वपरामर्शः। ज्ञस्येत्यस्ति। ज्ञस्य जीवस्य सतस्तु सत एव प्राग्विद्यमानस्यैवास्य ज्ञानानन्दस्वरूपत्वस्य पुंस्त्वादिवत् बाल्ये पुंस्त्वस्त्रीत्वादेरिवाभिव्यक्तियोगात् अभिव्यक्त्या अभितः सुष्टु व्यक्त्या निमित्तेन योगात् स दुःखाद्विमुक्त आनन्दीभवतीत्यादि व्यपदेशस्योपपत्तेरित्यर्थः। अपत्योत्पत्तिशक्तिरूपपूंस्त्वादेर्यौवनेऽभिव्यक्तेर्नायं प्राक् पुमान् इदानीं पुमानित्युक्तिर्यथा एवं ज्ञस्वरूपानन्दादेरावरणनिवृत्तिरूपव्यक्त्या 'दुःखाद्विमुक्त आनन्दीभवति' इत्याद्युपपत्तेरेतच्छ्रुतिविरोधेन 'विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः स आनन्दः' इत्यस्याप्रामाण्यानापत्तेर्ज्ञो ज्ञानानन्दादिरूप एवेति भावः। सत एवेत्यर्थकतुस्तु पूर्वपक्षद्योतनाय। अभीत्युक्तिः सुप्तावानन्दादेर्व्यक्तावपि मुक्ताविव न सम्यक्। तेन साऽपि न व्यपदेशहेतुरिति न शङ्क्यमिति सूचयितुम्। तुः सुष्ट्वर्थः सन्नभिव्यक्तेः विशेषणीभूय इममर्थमाहेत्येके॥

अस्तु 'नित्यानन्दो नित्यज्ञानः' इत्यादिश्रुत्या आनन्दादिरूपत्वं ज्ञस्य। तथाप्यावरणं नोपेयमित्यत आह —

ॐ नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॐ ॥2-3-16-250 ॥

अस्येत्यस्ति। त्रिविधजीवराशिपरो ज्ञशब्दश्च। अन्यतरेति प्रागुक्तद्वयं गृह्यते। स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरेत्यत्रेव वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः। अन्यथा आवरणानङ्गीकारे ज्ञानां मुक्तियोग्यानां तमोयोग्यानां च जीवानामस्यानन्दादिरूपत्वस्य यथाक्रमं नित्योपलब्ध्यनुपलब्ध्योः प्रसङ्गः सतां नियमानन्दानुभवः स्यादसतां नित्यमानन्दाद्यनुपलब्धिः स्यात्। आनन्दाद्यनुपलब्धिपदेन तद्विरुद्ध दुःखानुभव उच्यते। असुरा इत्यादाविव। नित्यं दुःखानुभवः स्यात् इत्यर्थः। मध्यमजीवानं त्वन्यतरनियमः स्यात्। सुखदुःखोभयानुभवः स्याद्विमिश्रत्वात्तेषामित्यर्थः। आवृतेरभावेऽनुभावाभावायोगादिति भावः। तद्गुणेति सतां प्रकृतत्वाद्भावत्वाच्चोपलब्धिः प्रागुक्ता। तदुभयेति वाच्येऽन्यतरेत्युक्तिः सुखदुःखयोरेकानुभवकाल एवान्यतरानुभवः साम्येन स्यादिति दर्शयितुम्। तदुभयेत्युक्तौ कालभेदेनेत्यपि प्रतीयेतेति केचित्। नित्येति मध्यमपरम्। अन्यतरेत्युत्तमाधमपरमित्येके॥16॥

कर्तृत्वाधिकरणम्॥2-3-17॥

ॐ कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॐ ॥ 2-3-17-251 ॥

अत्र 'यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते', 'नान्यः कर्ता' इति जीवकर्तृत्वाकर्तृत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। ज्ञ इत्यस्ति। ज्ञः कर्ता। शास्त्रार्थवत्त्वात् विधिनिषेधरूपशास्त्रस्यार्थवत्त्वात्। अन्यथा शास्त्रसार्थक्यं न स्यादित्यर्थः। जडेशमुक्तानां तदविषयत्वादिति भावः॥

ज्ञस्याकर्तृत्वेऽपि काल्पनिककर्तृत्वेन शास्त्रसार्थक्यमस्त्वित्यत आह—

ॐ विहारोपदेशात् ॐ ॥ 2-3-17-252 ॥

ज्ञः कर्तैव न कल्पितकर्तृत्ववान्। 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' इति मुक्तौ विहारकर्तृत्वोपदेशादित्यर्थः॥

अस्त्वेवं मुक्तौ। संसारे तु काल्पनिकमस्तु कर्तृत्वम्। तावता शास्त्रसार्थक्यादित्यत आह —

ॐ उपादानात् ॐ ॥ 2-3-17-253 ॥

मोक्षाद्युद्देशेन साधनाद्युपादानात् उपादानप्रतीतेर्ज्ञः कर्त्रैवेत्यर्थः। प्रत्यक्षसिद्धत्वात् कर्तृत्वं न काल्पनिकमिति भावः।

एवं शास्त्रसार्थक्यान्यथानुपपत्त्या प्रत्यक्षेण च कर्तृत्वं प्रसाध्य श्रुत्याऽप्याह —

ॐ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॐ॥ 2-3-17-254 ॥

'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इति उपासनादिक्रियायां कर्तृत्वेन व्यपदेशाच्च ज्ञः कर्ता। न चेत् जीवस्योपासीतेत्यत्र कर्तृत्वोपदेशो न चेत् परमात्मन एव कर्तृत्वापत्त्या आत्मानमिति निर्देशस्य विपर्ययो व्यत्यासः स्यात्। आत्मेति निर्देशः स्यादित्यर्थः।

एवमक्षयुक्तिश्रुतिभ्यो ज्ञः कर्ता चेत् कथं 'नान्यः कर्ता' इति श्रुतिः, 'इतर' इति सूत्रे प्राक् कर्तृत्वनिरासश्चेत्यतस्तदाशयमाह —

ॐ उपलब्धिवदनियमः ॐ ॥ 2-3-17-255 ॥

क्रियायामित्यस्ति। उपलब्धावनियमो यथा एवं क्रियायामनियम इत्यर्थः। इदं सुरूपं सुगन्धं सुखरूपं वा ज्ञास्यामि विपरीतं न पश्यामि न जिघ्रामि इति स्पृहयतोऽपि तज्ज्ञानलाभो यथा एवमिदं कुर्यामितीच्छतोऽपि न क्रियायां नियम इति नियतकर्तृत्वाभावपरं तद्वयमिति भावः॥

कुतो ज्ञस्यानियमः? क्रियादावस्वतन्त्रत्वादिति भावेनास्वातन्त्र्ये हेतुमाह —

ॐ शक्तिविपर्ययात् ॐ ॥ 2-3-17-256 ॥

ईशशक्त्यपेक्षया ज्ञस्य विपर्ययादल्पशक्तित्वादस्वातन्त्र्यमिति शेषः॥

इतश्चास्वातन्त्र्यमित्याह —

ॐ समाध्यभावाच्च ॐ ॥ 2-3-17-257॥

समाधिरलम्बुद्धिः। तदभावाच्चापूर्णकामत्वाच्चास्वातन्त्र्यं ज्ञायत इत्यर्थः। ततश्चानियम इति परम्परया इमौ हेतू बोध्यौ॥

ननु ज्ञस्यस्वतन्त्रकर्तृत्वे कथं कर्तेत्युक्तिः। स्वतन्त्रः खलु कर्तेत्यत आह—

ॐ यथा च तक्षोभयथा ॐ ॥ 2-3-17-258 ॥

यथा तक्षा उभयथा कारयितृनियतत्वेन कर्तृत्वेन चोच्यते तथा ज्ञोऽपीशनियतोऽपि कर्तोच्यत इत्यर्थः। चस्तु दार्ष्टान्तिकसमुच्चायकः॥

किं तक्षवदस्य कर्तृत्वशक्तिः स्वाधीना। नेत्याह —

ॐ परात् तु तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 2-3-17-259 ॥

तुरेव। शक्तिरिति विभज्य अस्ति। ज्ञस्य कर्तृत्वशक्तिः परादेव ईशाधीनैव। तच्छ्रुतेः। 'कर्तृत्वं कारणत्वं च' इतीशाधीनत्वश्रुतेरित्यर्थः॥

एवं तर्हीशस्यैव स्यात् कर्तृत्वम्। न ज्ञस्येति पुनः शास्त्रवैयर्थ्यमित्यत आह—

ॐ कृतप्रयत्नापेक्षस्तुविहितप्रतिषेधावैयर्थ्यादिभ्यः ॐ॥ 2-3-17-260 ॥

तुरेव। पर इत्यनुषज्यते। कृतमिति कर्मोच्यते। प्रयत्नेत्युपलक्षणम्। आदिपदाद्वैषम्यादि गृह्यते। जीवनादिकर्मप्रयत्नयोग्यतापेक्ष एव परः ज्ञं प्रेरयतीति शेषः। किमशक्त्या नेत्याह। विहितेति। विधिनिषेधशास्त्रावैयर्थ्याय। स्वस्य वैषम्यनैर्घृण्यनिरासायेति चार्थः। एतदर्थमेव कर्माद्यपेक्षेति भावः। प्रागुक्तावैषम्यादि अत्र आदिपदेन स्मारितमिति ध्येयम्॥ 17॥

अंशाधिकरणम्॥ 2-3-18॥

ॐ अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॐ ॥ 2-3-18-261 ॥

अत्र ज्ञस्येशांशत्वानंशत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। ज्ञ इत्यस्ति। परस्येत्यनुषङ्गः। अन्यथा चेति पूर्वत्रोत्तरत्र चान्वेति।'अपिरादित्वमपीत्यन्वेति। ज्ञो जीवः परस्यांशः तद्गर्भवासित्वेन तदन्तर्भूतत्वात्। अंश इवांशः पितापुत्रादिसम्बन्धैः केवलं तदुपजीवकत्वेन तच्छेषभूत इत्यर्थः। यद्वा ततो न्यूनत्वे सति किञ्चित्तत्सदृशरूपांश इत्यर्थः कुतः नानाव्यपदेशादन्यथा च व्यपदेशादित्यन्वयः। 'नाना ह्येनं व्यपदिशन्ति पितेति पुत्रेति भ्रातेति च' इति श्रुतौ पितापुत्रत्वादिनानाप्रकारेण सम्बन्धव्यपदेशात्। नासावस्य कुतश्चेनेति नैवांशो न सम्बन्ध इति चान्यथा च सम्बन्धाभावेन च व्यपदेशादित्यर्थः। तदुभयबलाज्जीवः केवलं परेणोपकार्य एव न कदाचित्तस्योपकर्तेति तदुपजीवकरूपांश इति ज्ञायते। उपकार्यत्वेन सम्बन्धव्यपदेशस्योपकर्तृत्वाभावेन सम्बन्धाभावस्य चोपपत्तेरिति भावः। अयं च हेतुराद्येऽर्थे । अन्त्ये त्वन्यथा च दाशकितवादित्वमधीयत इति एके शाखिनः। ज्ञस्य जीवस्य 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म कितवा ब्रह्मैवेमे दाशाः' इति ब्रह्माभेदमधीयते। अन्यथा च अन्यः परोऽन्यो जीव इति भेदं चाधीयत एके यतोऽत इति योज्यम्। ईशजीवयोर्भेदाभेदोक्त्यन्यथानुपपत्त्या भेदमुपेत्याभेदस्थाने तन्न्यूनत्वे सति किञ्चित् तत्सदृशरूपांशत्वं निवेश्यते। अभेदस्य बाधादिति भावः। टीकायामन्यथेति पदमुत्तरेण योजितम्। तत्त्वप्रदीपे तु पूर्वेण। पक्षद्वयेऽपि भाष्ये स्वारस्यदर्शनाच्चन्द्रिकायामुभयत्र योजितम्। यद्वा टीकारीत्या नानाव्यपदेशादित्येवाद्येऽर्थे हेतुः॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ मन्त्रवर्णात् ॐ ॥ 2-3-18-262 ॥

अपेराकार्षः। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतेश्च ज्ञः परस्यांश इत्यर्थः। पादोऽम्श इत्येकार्थत्वात्॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ॥ 2-3-18-263 ॥

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' इति ज्ञः परस्यांश इति स्मर्यते। अतोऽप्यंश इत्यर्थः। जीवलोके जीवदेहे जीवभूतो जीवाख्यश्चेतन इत्यर्थः॥

ज्ञस्य परांशत्वे मत्स्यादेर्ज्ञस्य च साम्यं स्यात् अनंशत्वश्रुतिविरोधश्चेत्यत आह—

ॐ प्रकाशादिवन्नैवं परः ॐ ॥ 2-3-18-264 ॥

परो मत्स्यादिरूपी परमात्मा एवं भिन्नांशो नेत्यर्थः। कथं प्रकाशादिवत्। प्रकाशाद्यभिमानिवत्। यथा प्रकाशः कालाग्न्याद्यभिमानी खद्योताभिमानिवन्न। कालाग्न्याद्यभिमानिनस्तेजोजलपृथिव्यभिमानिवह्न्यादेरभिन्नांशत्वात्, खद्योताभिमानिनां तु भिन्नांशत्वात्। तथा मत्स्यादेः परमात्मस्वरूपत्वाज्जीवस्य तु भिन्नांशत्वान्न तयोः साम्यमिति। एतेनानंशत्वश्रुतिः स्वरूपांशत्वनिषेधपरेत्युक्तं भवति।

मत्स्यादेर्जीवस्य चाभिन्नांशत्वं किं न स्यात्? दृष्टान्तमात्रस्यासाधकत्वादत आह—

ॐ स्मरन्ति च ॐ ॥ 2-3-18-265 ॥

जीवस्य भिन्नांशत्वं मत्स्यादेरभिनांशत्वम्। स्मृतिकर्तार इत्यर्थः। 'एते स्वांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति स्मृतौ। पूर्वं वराहादेर्जीवस्य च 'जगृहे पौरुषं रूपम्' इत्यादिना 'ऋषयो मनवो देवा' इत्यादिना च विष्ण्वंशत्वमुक्त्वा एते पुंसः पुरुषस्य स्वरूपांशविभागाः कृष्णस्तु कृष्ण एव मूलरूप्येव इति वराहादेरभिन्नांशत्वं, जीवानां तु 'अतः परं यदव्यक्तम्' इति स्मृतौ भिन्नांशत्वं, तथा 'स्वांशश्चाथो विभिन्नांश' इति स्मृतौ स्वरूपास्वरूपलक्षणयोरुक्तेः तयोश्च 'न त्वत्समोऽस्ति' इति स्मृत्या ईशे अनुभवेन जीवे सिद्धतया तयोर्भिन्नाभिन्नांशत्वं स्मरन्तीति भावः। बहुस्मृतिद्योतनाय बहुवचनम्। न केवलं दृष्टान्त इति चार्थ इत्येके। अन्यथा चापि दाशकितवेत्युक्तहेतूनां स्मृतीनां च समुच्चयार्थश्च इत्यन्ये। स्मर्यत इति ज्ञस्येशांशत्वे स्मृतिरुक्ता। अत्र तु भिन्नांशत्व इति भेदः।

इतश्चैवं पर इत्याह—

ॐ अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॐ ॥2-3-18-266॥

ज्ञस्येत्यस्ति। परादित्यन्वेति। अनुज्ञेति तत्पूर्वकप्रवृत्तिरुच्यते। परिहारो बन्धनिवृत्तिः। ज्ञस्य जीवस्य देहसम्बन्धाद्धेतोः परादनुज्ञापरिहारौ ईशानुज्ञाधीनप्रवृत्तिमोक्षौ स्तः। ज्योतिरादिवत्। यथा ज्योतिषो ह्यक्ष्यभिमानिनोऽपभ्रष्टस्य श्लेष्माभिमानिनश्च तत्तद्देह सम्बन्धात् सूर्यवरुणानुज्ञया तत्तत्प्रवृत्त्यादिस्तथेत्यर्थः। उपलक्षणमेतत्। परस्य च मत्स्यादेर्देहसम्बन्धाद्धेतोस्तौ न स्त इति नैवं पर इत्यपि ध्येयम्। कथम्? ज्योतिरादिवत्। ज्योतिषः प्रभाभिमानिनो अमृताब्ध्यभिमानिनश्च यथा सूर्याद्यनुज्ञाधीनप्रवृत्त्यादिर्नास्तीत्यक्ष्याद्यभिमानिना साम्यं नास्ति तथेति योज्यम्। पूर्वं स्वरूपांशत्वभिन्नांशत्वयोः प्रकाशादिरत्रांशयनुग्राह्यत्वाननुग्राह्यत्वयोर्ज्योतिरादि दृष्टान्त इति भेदः॥

इतश्च न साम्यं तयोरित्याह —

ॐ असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॐ ॥ 2-3-18-267 ॥

शक्त्येति शेषः। ज्ञस्यासन्ततेः शक्त्या असन्ततेरपूर्णत्वाच्चेत्यर्थः। मत्स्यादेश्च तद्भावादिति बोध्यम्। अव्यतिकरो नैवं पर इत्युक्तस्याव्यतिकरो व्यत्यासाभाव इत्यर्थः॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ आभास एव च ॐ ॥ 2-3-18-268 ॥

ज्ञ आभास एव ईशप्रतिबिम्ब एव। मत्स्यादिस्तु न तथा। अतश्चाव्यतिकर इति योज्यम्। योगविभागः प्रथमानिर्देशश्चोत्तरार्थः॥18॥

अदृष्टाधिकरणम्॥ 2-3-19॥

ॐ अदृष्टनियमात् ॐ ॥ 2-3-19-269 ॥

अत्र ज्ञस्येशाभासत्वानाभासत्वपरयोः 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति 'नैवांशो न सम्बन्ध' इति श्रुत्योरविरोध उच्यते। आभास एवेति ज्ञ इति चास्ति। अदृष्टेति विद्याद्युच्यते। ज्ञ आभास एव ईशप्रतिबिम्ब एव। अदृष्टानियमात् विद्याकर्मसंस्कारादिवैचित्र्यादित्यर्थः। बिम्बावैचित्र्येऽपि तत्तदीयानाद्यदृष्टवैचित्र्येण देवदानवमानवादिवैचित्र्यसम्भवेन प्रतिबिम्बत्वं युक्तमिति भावः। स्थानविशेषादित्यतो वैलक्षण्यं तत्रैव वक्ष्यते॥

रागादिवैचित्र्यादेव प्रतिबिम्बवैचित्र्यमस्त्वित्यत आह —

ॐ अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॐ ॥ 2-3-19-270 ॥

अभिसन्धिरिच्छा। रागद्वेषमोहादिदोषेष्वप्येयं वैचित्र्यम्। अदृष्टानियमात्। न केवलमाभास इत्यपेरर्थः। रागादिवैचित्र्यं कथमित्यपेक्षायां तस्यैवानुसर्तव्यत्वादिति भावः। पूर्वपूर्वरागादिवैचित्र्यादेव तदस्त्वित्यत उक्तं चेति। प्रतिक्षणं वैचित्र्यं चेति समुच्चीयते। रागाद्यवैचित्र्येऽप्येकस्मिन् पुंसि प्रतिक्षणं दृश्यमानं वैचित्र्यमदृष्टानियमादेव वाच्यमित्यर्थः॥

तर्हि भूम्यादिस्थानवैचित्र्येणैव सुरनरवैचित्र्यमस्त्वित्याशङ्क्याह —

ॐ प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॐ ॥ 2-3-19-271 ॥

एवमित्यस्ति।'स्वर्गादिप्रदेशावैचित्र्यादेवं वैचित्र्यमाभासस्यास्त्विति चेन्न। अन्तर्भावात्। तद्वैचित्र्यस्याप्यदृष्टवैचित्र्य एवान्तर्भावादित्यर्थः। निर्निमित्तं तद्वैचित्र्यायोगादिति भावः॥19॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृत तन्त्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥2-4॥

यावद्विकारन्त्वित्युक्तयुक्त्युपेतयाऽकाशादेरुत्पत्तिश्रुत्या अनुत्पत्ति श्रुतिर्गौणी चेत् तर्ह्युपादानाभावादियुक्त्युपेतया प्राणाद्यनुत्पत्तिश्रुत्या तदनित्यत्वश्रिर्गौणीति शङ्कां व्युदसितुमत्र पादे सयुक्तिकश्रुत्यविरोध उच्यते॥

प्राणाधिकरणम्॥2-4-1॥

ॐ तथा प्राणाः ॐ ॥ 2-4-1-272 ॥

अत्र नये 'एतस्माज्जायते प्राणः' इतीन्द्रियजन्मश्रुतेः 'प्राणा एवानादय' इति तदजन्मश्रुत्या 'नोपादानं हीन्द्रियाणाम्' इति युक्त्युपेतया अविरोध उच्यते। तथेति प्रागुक्तयुक्त्यनुकर्षणार्थम्। यथा वियदादयो जातास्तथा प्राणा इन्द्रियाणि ईशादेवोत्पत्तिमन्ति। अश्रुतेरित्याद्युक्तहेतुभ्य इत्यर्थः। अत्र प्राणा इतीन्द्रियाणि तदभिमानिनश्च। जनिरपि पराधीनविशेषरूपैव। सा च यथायोगमुपचयादिरूपा ध्येया। एवमग्रेऽपि॥

ननु 'प्राणा एव' इति श्रुतेरश्रुतेरिति कथमत आह —

ॐ गौण्यसम्भवात् ॐ ॥ 2-4-1-273 ॥

अनादित्वश्रुतिर्गौणी, अनादिसूक्ष्मेन्द्रियपरा। असम्भवात् मुख्यानादित्वासम्भवात्। तथा 'एतस्माज्जायते' इत्यादिश्रुत्या सम्भवादित्यर्थः। निरुपादानत्वादित्यधिकाशङ्कानिरासाय गौणीति पुनर्योगः। प्रागुक्तगौणत्वादन्यादृशगौणत्वोक्त्यर्थमयं योग इति केचित्॥

इतश्चैवमित्याह —

ॐ प्रतिज्ञानुपरोधाच्च ॐ ॥ 2-4-1-274 ॥

'इदं सर्वमसृजत' इति प्रतिज्ञानुसाराच्च प्राणा उत्पत्तिमन्त इत्यर्थः। 'स प्राणमसृजत', 'स प्राणान्', 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिविशेषश्रुतेः 'प्राणा एवानादय' इति सयुक्तिक विशेषश्रुतितः प्राबल्यार्थं प्रागुक्तसामान्यश्रुतिस्मारणायायं योगः॥1॥

मनोधिकरणम्॥2-4-2॥

ॐ तत्प्राक्श्रुतेश्च ॐ ॥ 2-4-2-275 ॥

अत्र 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च', 'नित्यं मनोऽनादित्वात्' इत्यनयोर्मनोजन्माजन्मश्रुत्योरविरोध उच्यते। तदिति प्रस्तुत प्राणोक्तिः। तत्प्रागित्युक्त्या मन इति लभ्यते। उत्पत्तिमदिति चास्ति। अनादीशादुत्पत्तिमत्। कुतः? तेभ्यः प्राणेभ्यः प्राक् पूर्वं श्रुतेः। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति तस्योत्पन्नत्वेन श्रवणादित्यर्थः। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चये। तदनुत्पत्ति वचनमल्पोपचयकारणादिति वचनाच्चेत्यर्थः। तेन 'नित्यं मनः' इत्यादिश्रुतिः सूक्ष्ममनः परा। जन्मश्रुतिरुपचयरूपोत्पत्तिपरेति भावः। 'वायोर्वाव रुद्र उदेति' इति वायोर्मनोजनिश्रुतिः द्वारपरेति न तद्विरोध इति ध्येयम्। तत्प्रागित्युक्तिः मनोरूपं विषयं पृथङ् मनसो विशिष्य जन्मोक्त्या जन्मश्रुतेरजन्मश्रुतितो निरवकाशत्वं पूर्वोत्पन्नत्वमल्पोपचयरूपोत्पत्तिभेदं च सूचयितुम्॥2॥

तत्पूर्वकत्वाधिकरणम्॥2-4-3॥

ॐ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॐ॥ 2-4-3-276 ॥

अत्र वाग्जन्माजन्मश्रुत्यविरोध उच्यते। वाचो वागिन्द्रियस्य तत् प्रकृतं मनः पूर्वं कारणं यस्यास्तस्या भावः। तस्मात् तत्पूर्वकत्वात् 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्' इति श्रुतात् मनःकारणत्वाद् वागुत्पत्तिमतीत्यर्थः। 'वाग्वाव नित्या न ह्येषोत्पद्यते' इति श्रुतिस्तु नित्यवेदोच्चारणयोग्यत्वाद् गौणीति भावः॥3॥

सप्तगत्यधिकरणम्॥2-4-4॥

ॐ सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॐ ॥ 2-4-4-277 ॥

अत्र प्राणसङ्ख्याश्रुत्यविरोध उच्यते। प्राणा इत्यस्ति। गतेर्ज्ञानस्य सम्बन्धिनः ज्ञानजनकाः प्राणाः सप्त। कुतः? विशेषितत्वात्। 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' इति श्रुतावुत्तरत्र 'गुहाशयां निर्मिताः सप्त' इति ज्ञानार्थत्वेन विशेषितत्वादित्यर्थः। गुहाशयां बुद्धौ, बुद्ध्यर्थात् इत्यर्थात्। चस्त्वनुक्तसमुच्चये। 'सप्त प्राणस्त्ववगतेः पञ्च प्राणाश्च कर्मणः। एवं प्राणद्वादशकं शरीरे नित्यसंस्थितम्।' इति वचनाच्चेत्यर्थः। तथा च 'द्वादश वा एते प्राणाः' इति श्रुत्या प्राणानां द्वादशत्वेऽपि 'सप्त प्राणाः' इति श्रुतेः श्रोत्रचक्षुस्त्वग्रसनघ्राणमनोबुद्धीनां ज्ञानहेत्विन्द्रियत्वविवक्षया सप्तपरत्वोपपत्तेः न तयोर्विरोध इति भावः।

ननु सप्तभ्योऽन्येषां प्राणानां सत्त्वे 'सप्त' इति श्रौतौ तैः सह पाठः स्यादित्यत आह —

ॐ हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॐ ॥ 2-4-4-278 ॥

स्थित इति बन्धस्थितिहेतुत्वात् कर्मोच्यते। निवृत्तमपि प्रवृत्तसारूप्याद् गौण्या वृत्त्या स्थितपदेन गृह्यते। तुर्वैलक्षण्यद्योतकः। हस्तपादपायुगुह्यवाचस्तु स्थिते कर्मविषये कर्मार्थानि। अतः कर्मार्थत्ववैलक्षण्यादेव तैः सह पाठो नास्तीत्यर्थः॥4॥

अण्वधिकरणम्॥2-4-5॥

ॐ अणवश्च ॐ ॥ 2-4-5-279 ॥

अत्र प्राणाणुत्वानणुत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। प्राणा इत्यस्ति। प्राणा अणवस्तेजसा व्याप्ताश्चेत्यर्थः। तथा च 'अणुभिः पश्यति' इति श्रुत्या दूरश्रवणादियुक्त्युपेत 'दिवीव चक्षुराततम्' इति श्रुतिः न विरुध्यत इति भावः॥5॥

श्रेष्ठाधिकरणम्॥2-4-6॥

ॐ श्रेष्ठश्च ॐ ॥ 2-4-6-280 ॥

अत्र मुख्यप्राणजन्माजन्मश्रुत्यविरोध उच्यते। श्रेष्ठश्च प्राण उत्पत्तिमान् न केवलं प्राणा इति चार्थः। 'आत्मत एष प्राणो जायते' इति श्रुतिः। 'यत्प्राप्तिः' इति स्मृत्युक्तसर्वोत्पत्तिमृतिहेतुत्वयुक्त्युपेता 'नैष प्राण उदेति' इति श्रुतिश्च स्थूलसूक्ष्ममुख्यप्राणविषयेति भावः। 'एतेन मातरिश्वा' इत्यत्र बाह्यवायुरूपेणोत्पत्युक्तावपि सर्वमृत्यूत्पत्तिहेतुना प्राणरूपेणाप्युत्पत्तिरत्रोच्यत इति ध्येयम्।

प्राणजन्मश्रुतिः चेष्टादिपरा किं न स्यादित्यत आह —

ॐ न वायुक्रिये पृथुगुपदेशात् ॐ ॥ 2-4-6-281 ॥

प्राणोत्पत्तिश्रुतिस्थः प्राणो बाह्यवायुचेष्टारूपक्रिये न भवतः। कुतः? 'स प्राणमसृजत' इत्युक्त्वा 'प्राणात् श्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म' इति तयोः पृथगुपदेशादित्यर्थः॥6॥

चक्षुराध्यधिकरणम्॥2-4-7॥

ॐ चक्षुरादिवत् तु तत्सहशिष्यादिभ्यः ॐ ॥ 2-4-7-282 ॥

अत्र श्रेष्ठस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्यश्रुत्यविरोध उच्यते। श्रेष्ठ इत्यस्ति। तुरेव। श्रेष्ठो मुख्यप्राणाः चक्षुरादिवदेव। चक्षुरादि यथेशाधीनं तथाऽयमपि ईशाधीन इति लभ्यते। एवेत्युत्पत्ताविव

स्वातन्त्र्यादौ न व्यवस्थाऽस्तीति सूचयति। कुतः? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः। तैः चक्षुरादिभिः सह शिष्टिः शासनमुक्तिः 'सर्वं ह्येवैतत् परमेऽवतिष्ठते प्राणश्च प्राणाश्च प्राणिनश्च' इति प्राणैः सहेशवशत्वेन पाठात्। ननु 'यदाश्रयादस्य चेष्टा' इत्युक्तानन्याश्रयत्वयुक्त्युपेता 'न प्राणः किञ्चिदाश्रितः' इति श्रुतिः श्रुतिमात्रात् कथमपोद्यत इत्यत उक्तमादिभ्य इति। 'सर्वकर्ताऽपि सन् प्राणः परमाधारतः स्थितः' इति, 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिवचनादीशद्वयायोगादिरूपयुक्तेश्चेत्यर्थः। 'न प्राणः किञ्चिदाश्रितः' इति श्रुतिः अनन्येश्वरत्वावान्तरेश्वरत्वपरेति भावः। प्राधान्यात् चक्षुष आदित्वेनोक्तिः। स्वातन्त्र्ये श्रुतिबाहुल्यमस्तीति चोद्यं तु 'सोऽध्यक्ष' इत्यत्र निरसिष्यते। श्रेष्ठस्येशायत्तत्वे चक्षुरादिवदवान्तरेश्वरत्वं च न स्यादित्यत आह —

ॐ अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॐ ॥ 2-4-7-283 ॥

श्रेष्ठस्येत्यन्वेति। करणत्वं कर्तृप्रयोज्यत्वम्। श्रेष्ठस्याकरणत्वात्, चक्षुरादेः करणत्वाच्चेति चार्थः। न दोषः तद्वदवान्तरेश्वरत्वाभावदोषो नास्ति। कुतः? हि यस्मात् तथा करणत्वादिना प्राणं चक्षुरादि च दर्शयति 'तानि वा एतानि करणानि अथ प्राण एवाकरणः' इति श्रुतिरत इत्यर्थः। सुप्तेऽपि जीवे प्राणव्यापारदृष्टेस्तस्य जीवाप्रयोज्यत्वम्। चक्षुरादेस्तु नैवमिति भावः॥7॥

पञ्चवृत्त्यधिकरणम्॥2-4-8॥

ॐ पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॐ ॥ 2-4-8-284 ॥

अत्र प्राणापानादेः श्रेष्ठस्वरूपत्वतद्दासत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। श्रेष्ठ इत्यस्ति। श्रेष्ठः पञ्चवृत्तिः पञ्च वृत्तयः प्राणापानव्यानोदान समानाख्यरूपाणि यस्य स तथा प्राणादिपञ्चस्वरूपवानित्यर्थः। उपलक्षणमेतत्। प्राणादिपञ्चदासवानित्यपि बोध्यम्। कुतः? मनोवत्। यथा मनः मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तचेतनाख्यस्वरूपवत्, तज्जन्यमनःप्रभृतिवृत्तिपञ्चकवच्च तद्वत् श्रेष्ठोऽपि वर्गद्वयवान् व्यपदिश्यते 'अथ पञ्चवृत्त्यैतत् प्रवर्तते' इति श्रुतौ यतोऽत इति योज्यम्। 'सर्वे वा एते मुख्यदासा' इति श्रुतेः 'मुख्यस्यैव स्वरूपाणि प्राणाद्याः' इति श्रुतेश्च भिन्नप्राणादिपरत्वात् न विरोध इति भावः॥8॥

अण्वधिकरणम्॥2-4-9॥

ॐ अणुश्च ॐ ॥ 2-4-9-285 ॥

अत्र श्रेष्ठस्याणुत्वानणुत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। श्रेष्ठ इत्यस्ति। अणुश्च अणुर्व्याप्तश्चेति चार्थः। अन्तः प्राणरूपेणाणुः, बहिर्वायुरूपेण व्याप्त इति भावः। अतः 'प्राण एवाधस्तात्' इति श्रुतेः 'प्राणो वा अणुः' इति श्रुतेश्च न विरोध इति भावः॥9॥

ज्योतिराद्यधिकरणम्॥2-4-10॥

ॐ ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॐ ॥ 2-4-10-286 ॥

अत्र चक्षुरादेर्जीवेशकरणत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। तुरेव। तदिति व्यस्तं समस्तं च। ज्योतिरादित्यावृत्तिः। ज्योतिरादिः अधिष्ठानं यस्य स तथा, तन्नियामकमिति यावत्। 'योऽग्नौ तिष्ठन्', 'यस्तेजसि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः अग्न्यादिरूपज्योतिराद्यधिष्ठानं यद् ब्रह्म तत्तु तदेव ज्योतिराद्यधिष्ठानं ज्योतीरूपचक्षुरादिनियामकं, तत्कारणमिति यावत्। कुतः? तदामननात् तस्य चक्षुराद्यधिष्ठातृत्वस्य 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादिना आमननादित्यर्थः। ब्रह्मेत्येव वाच्ये यदग्न्यादिरूपज्योतिराद्यधिष्ठानमिति ब्रह्मविशेषणोक्तिः ब्रह्मणोऽग्न्यादिरूपभूतप्रेरकत्वात् तदंशभूतचक्षुरादेरपि तस्यैव प्रेरकत्वमिति युक्तिं सूचयितुम्। अत एव ज्योतिरादिभूतकार्यत्वात्। ज्योतिरादिशब्देन चक्षुरादेर्ग्रहणम्। आकाशाद्यधिष्ठानमिति वाच्ये ज्योतिरादीत्युक्तिरपि चक्षुरादीति प्रकृतत्वात्।

नन्वेवं 'जीवस्य करणान्याहुः' इति श्रुतिः कथमित्यत आह —

ॐ प्राणवता शब्दात् ॐ ॥ 2-4-10-287 ॥

प्राणा इन्द्रियाण्यस्य सन्तीति प्राणवान् जीवः तेन। तदित्यस्ति। तद् ब्रह्म प्राणवता जीवेन कर्त्रा स्वकरणैः दर्शनादि कारयति। 'एष ह्यनेनात्मना चक्षुषा दर्शयति' इत्यादिशब्दादिति योज्यम्। करणानामपीशप्रयोज्यत्वेऽपि जीवस्य तदायत्तकर्तुः कर्मसाधनत्वात् तत्परा श्रुतिरिति भावः। श्रुत्यनुरोधात् आत्मनेति जीवेनेति वा वाच्ये प्राणवतेत्युक्तिः उत्तरयोगे प्राणतत्सम्बन्धयोरन्वयार्था।

श्रुतेरर्थान्तरमाह —

ॐ तस्य च नित्यत्वात् ॐ ॥ 2-4-10-288 ॥

तस्य प्राणवतो जीवस्य। चशब्देन प्राणानं तत्सम्बन्धस्य चेति समुच्चीयते। तयोरपि प्राणवदिति सन्निधापितत्वात्। जीवप्राणतत्सम्बन्धानां नित्यत्वादित्यर्थः। जीवकरणसम्बन्धस्य चिरकालीनत्वात् जीवकरणत्वश्रुतिरुपचरितार्थेति 'ब्रह्मणो वा एतानि करणानि' इति श्रुत्यविरोध इति भावः।

सम्बन्धनित्यत्वोक्त्यैव पूर्तौ जीवप्राणयोरपि तदुक्तिः तत्सम्बन्धनित्यत्वार्था। सम्बन्धिनोरभावे तद्योगात्॥10॥

त इंद्रियाण्यधिकरणम्॥2-4-11॥

ॐ त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॐ ॥ 2-4-11-289 ॥

अत्र श्रेष्ठस्येन्द्रियानीन्द्रियत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। त इति प्राक् चशब्दोक्ताः प्राणा उच्यन्ते। श्रेष्ठादन्यत्र मुख्यप्राणादन्ये ते प्राणा इन्द्रियाणि, न श्रेष्ठः। कुतः? तद्व्यपदेशात् तस्य श्रेष्ठादन्येषामिन्द्रियत्वस्य 'द्वादश वेन्द्रियाण्याहुः। मुख्यप्राणस्त्वनिन्द्रियम्' इति व्यपदेशादित्यर्थः। श्रेष्ठोऽनिन्द्रियमिति वाच्ये श्रेष्ठादन्यत्रेत्याद्युक्तिः श्रेष्ठादन्येषामिन्द्रियत्वं श्रेष्ठस्य त्वनिन्द्रियत्वं, 'प्राणा वा इन्द्रियाणि' इति सामान्यश्रुतिः श्रेष्ठादन्यप्राणविषयेति सूचयितुम्। अत एवान्यत्रेति सप्तम्युक्तिः।

एवं च श्रेष्ठोऽनिन्द्रियं चेत् चक्षुरादेरपि तन्न स्यात्, ईशवशत्वाविशेषादित्यत आह —

ॐ भेदश्रुतेः ॐ ॥ 2-4-11-290 ॥

भेदो विशेषः। त इति श्रेष्ठादिति च पदं विपरिणम्यान्वेति। तेषां द्वादशप्राणानां श्रेष्ठस्य च भेदश्रुतेः त एवेन्द्रियाणीत्यर्थः। 'स्थित एव हीदं मुख्यप्राणः करोति कारयति' इति श्रुतौ श्रेष्ठस्य सर्वकर्तृकारयितृत्वेन ईशसाम्यस्यान्येषां तदभावस्योक्तेरिति भावः।

प्राणानां श्रेष्ठस्य च केवलश्रुत्या भेदमुक्त्वा प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां च तदाह —

ॐ वैलक्षण्याच्च ॐ ॥ 2-4-11-291 ॥

प्राणानां श्रेष्ठस्य च जीवप्रयत्नाधीनत्वतदनधीनत्वरूपवैलक्षण्यात् क्रमात् प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां सिद्धं त एवेन्द्रियाणीत्यर्थः। प्राणानां प्रवृत्तेः जाग्रत्येव भावेन सुप्तावभावेन जीवायत्तत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्। श्रेष्ठस्य तु 'प्राणाग्नय एवास्मिन् पुरे जाग्रति' इति श्रुत्या चशब्दसूचितया सिद्धमिति ध्येयम्॥11॥

सङ्ज्ञामूर्त्यधिकरणम्॥2-4-12॥

ॐ सङ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॐ॥2-4-12-292॥

अत्र नामरूपयोः विरिञ्चेशसृष्टत्वश्रुत्यविरोध उच्यते। तुरेव। मूर्तिर्देहः। उपलक्षणमेतत्। संज्ञामूर्त्योः नामप्रपञ्चदेहादिरूपप्रपञ्चयोः क्लृप्तिः सृष्टिस्त्रिवृत्कुर्वत एव। त्रीणि तेजोबन्नानि वृणोति मिश्रयतीति त्रिवृत्। भावप्रधानम्। भावे क्विबन्तं वा। तेजोऽबन्नानां मिश्रणं कुर्वतो विष्णोरेव न विरिञ्चात्। कुतः? उपदेशात्। 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा' इति श्रुतेरित्यर्थः। 'विरिञ्चो वा इदं सर्वं

विरेचयति' इति श्रुतिरवान्तरकर्तृत्वपरा। तेन 'परमाद्येते नामरूपे व्याक्रियेते' इति श्रुतेरविरोध इति भावः। परादित्येव वाच्ये त्रिवृदित्याद्युक्तिः त्रिवृत्कर्तृत्वयुक्तिसूचनाय। त्रिवृत्करणाभावे रूपोत्पत्तेरयोगस्याग्रे स्पष्टत्वात्। रूपाभावे नामक्लृप्तेरयोगादिति। संज्ञेत्याद्युक्तिः श्रौतनामरूपे व्याख्यातुम्। इंद्रियाश्रयदेहोक्त्या पूर्वोत्तरसङ्गतिं सूचयितुं चेति केचित्॥12॥

मांसाधिकरणम्॥2-4-13॥

ॐ मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॐ ॥ 2-4-13-293 ॥

अत्र प्रस्तुतदेहकारणश्रुत्यविरोध उच्यते। मांसादीति सावधारणम्। कार्यमिति शेषः। अङ्गीकार्यमिति च। प्रस्तुतदेहस्थं मांसाद्येव कठिनं वस्तु भौमं पार्थिवं, न सर्वशरीरं, किन्त्वितरयोस्तेजसोश्च कार्यम्। यथाशब्दं 'यत्कठिनं सा पृथिवी यद्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजः असृग्वारि तेजो मज्जा' इति शब्दोक्तदिशाऽङ्गीकार्यमित्यर्थः। एवं च देहस्य 'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य' इति भूतत्रयात्मकत्वश्रुत्यविरोध इत्याकूतम्। यद्वा मांसादि भौमं भूमिकार्यं, नैतावदेव, किन्त्वप्तेजसोश्च कार्यं यथाशब्दमुपेयम्। 'विमिश्राणि हि भूतानि' इति शब्दे भूम्यादिभूतशब्दानां स्वतो मिश्रत्वोक्त्या नैकभूतत्वं मांसशोणितादेरिति 'आपो वाव मांसम्' इत्यादितर्पकत्वादियुक्त्युपेताप्यत्वादिश्रुत्यविरोध इति भावः।

कथं तर्हि विशिष्याप्यत्वाद्युक्तिरत आह —

ॐ वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः ॐ ॥ 2-4-13-294 ॥

भूम्यादिभूतसंयोगवैशेष्यात् तद्वादः भौमत्वादिविशेषवाद इत्यर्थः। द्विरुक्तिरुक्तसर्वावधारणार्था॥13॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृत तन्त्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

द्वितीयाध्यायः समाप्तः

तृतीयाध्यायः॥3॥

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथम पादः ॥3-1॥

एवं समन्वयाविरोधाभ्यां ब्रह्मपदार्थौ विचारितः। अत्राध्यायेऽथजिज्ञासापदाभ्यामुक्तानि वैराग्यभक्त्युपास्तिज्ञानरूपसाधनानि विचार्यन्ते। आद्यपादे ज्ञानहेतूपासनाङ्गभक्तिदार्ढ्यापादकवैराग्याय गत्यागतिस्वर्गनरकगर्भवासादिस्वरूपं निरूप्यते।

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्॥3-1-1॥

ॐ तदन्तरप्रतिपत्तौरंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॐ॥ 3-1-1-295 ॥

अत्र नये जीवस्य भूतावियोगः साध्यते। तदिति प्रागुक्तभूतपरामर्शः। निमित्तसप्तमी चेयम्। जीव इत्यर्थादन्वेति। प्रस्तुतत्वाद् भूतैरिति च । जीवः पूर्वदेहं हित्वा गच्छन् भूतैः सम्परिष्वक्तो रंहति गच्छति। किमर्थम्। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्राप्त्यर्थम्। कुतः? 'वेत्य यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति', 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति प्रश्ननिरूपणाभ्यां ज्ञायत इत्यर्थः। अबुपलक्षितो जीवः पञ्चम्यामाहुतौ योषिति पुरुषवचसः पुरुष इति नामवानित्यर्थः। गतावभावे आगतौ भूतसम्बन्धोक्त्ययोगादिति भावः। तदन्तरेत्युक्तिः, भूतगतेः फलोक्त्यर्था। तेन तेषां देहभोगदानेन कृतार्थानां जीवेन सह गतिर्व्यर्थेति न शङ्क्यम्। अत एवान्तरेत्युक्तिः। प्राप्ताविति वाच्ये प्रतिपत्ताविव्युक्तिः। यं देहं प्रतिपद्यते ध्यायत्यन्ते तमिति सूचनाय। 'यं यं वाऽपि स्मरन्' इत्यादेरित्येके। सम्परीत्युक्तिरामुक्ति तत्परिष्वङ्गोऽस्त्येवेति द्योतयितुम्। 'भूतानां विनिवृत्तिस्तु मरणम्' इति स्मृतिस्तु भागविषयेत्यग्रे व्यक्तमिति भावः॥1॥

त्र्यात्मकत्वाधिकरणम्॥3-1-2॥

ॐ त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात् ॐ ॥ 3-1-2-296 ॥

अत्र कृत्स्नभूतवियोग उच्यते। अपामिति अप्शब्द इति च शेषः। तेन तोरन्वयः। रंहतीत्यस्ति। जीवः सर्वभूतैः सम्परिष्वक्तो रंहति। न त्वद्भिरेव। न च प्रश्नादिस्थाप्शब्दविरोधः। अपां त्र्यात्मकत्वात् क्षितिजलग्न्यात्मकत्वात् तदुक्त्या तेषामप्युक्तेः। त्र्यात्मकत्वेऽपि श्रुतावप्शब्दस्तु भूयस्त्वादपां बाहुल्याद् युक्त इत्यर्थः। क्षित्यादितोऽपि बहुत्वोक्त्यै प्रकर्षप्रत्ययोक्तिः॥2॥

प्राणगत्यधिकरणम्॥3-1-3॥

ॐ प्राणगतेश्च ॐ ॥ 3-1-3-297 ॥

अत्र प्रागुक्तभूतगतिरेवोपपत्त्या साध्यते। चस्तु भूतानां प्राणाविनाभावसमुच्चये। 'करणैर्वाव न वियुज्यते' इति श्रुतेर्जीवेन सह प्राणानां गतेर्भूतानां 'यत्र वाव भूतानि तत्र करणानि' इति श्रुत्या प्राणाविनाभूतत्वाच्च भूतैस्सम्परिष्वक्तो रंहति जीव इत्यर्थः (प्रश्नादौ साक्षाद् भूतगत्यनुक्तेरयं योगः)॥3॥

अग्न्याद्यधिकरणम्॥3-1-4॥

ॐ अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॐ ॥ 3-1-4-298 ॥

अत्र प्राणगतिराक्षिप्य समर्थ्यते। प्राणानामित्यनुषङ्गः। नेत्यावर्तते। 'अग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रमसं दिशः श्रोत्रम्' इति प्राणानामग्न्यादीन् प्रति गतिश्रुतेर्न प्राणगतिजीवेन सहेति चेन्न। भक्तत्वात् भागविषयत्वात्। अग्न्यादिश्रुतेरित्यन्वयः। भूतानामपि तैरेव गतिज्ञया। 'पुरुषस्य मृतौ ब्रह्मन् प्राणा भागत एव तु। अधिदैवं प्राप्नुवन्ति भागतोऽनुव्रजन्ति तम्' इति स्मृतेरिति भावः। भक्तपदं चराचरेत्यत्र व्याख्यातम्॥4॥

प्रथमाधिकरणम्॥3-1-5॥

ॐ प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॐ ॥ 3-1-5-299 ॥

अत्र भूतगतिराक्षिप्य साध्यते। प्रथम इत्याद्यावर्तते। नेत्येतच्च। अग्निपदं विभज्यास्ति। 'एतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' इति प्रथमेऽग्नौ द्याख्ये श्रवणात् श्रद्धायुक्तजीवहोमश्रवणात्। प्रथमे उपक्रमेऽश्रवणात् भूतसाहित्याश्रवणान् न भूतैः परिष्वक्तो रंहति जीव इति चेन्न। हि यस्मात् ता एव प्रस्तुता आप एव श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते। कुतः? उपपत्तेः। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः' इत्युपसंहारस्योपपत्तेरित्यर्थः। चरमवाक्ये त्र्यात्मकापां श्रवणात् प्रथमवाक्येऽपि श्रद्धाशब्देनाजहल्लक्षणया श्रद्धया त्र्यात्मकाद्भिश्च युक्तो जीवो ग्राह्य इति भावः॥5॥

अश्रुतत्वाधिकरणम्॥3-1-6॥

ॐ अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॐ ॥ 3-1-6-300 ॥

अत्र भूतगतिरेव विशेषश्रुत्यभावेनाक्षिप्य साध्यते। नेत्यवर्तते। अश्रुतत्वात् 'अग्निं वागप्येति' इत्यादिवद्विशिष्य जीवेन भूतगतेरश्रुतत्वात् न सम्परिष्वक्तौ रंहतीति चेन्न। इष्टादिकारिणाम् इष्टापूर्तादिकारिणां 'अथ हैनं यजमानं किं न जहाति? भूतान्येव भूतैरेव गच्छति' इति प्रत्यक्षश्रुत्या भूतैः सह गतिप्रतीतेरित्यर्थः। अपां प्राणानां च गतिश्रवणेन अर्थाद् भूतानां गतिसिद्धावपि इष्टादिकारिणामिति विशिष्य श्रुत्युक्तिः कैमुत्यार्था॥6॥

भाक्ताधिकरणम्॥3-1-7॥

ॐ भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॐ॥ 3-1-7-301 ॥

अत्र कर्मणो मुक्तिहेतुता नेत्युच्यते। वाशब्दो विकल्पार्थः। अमृतत्वमिति शेषः। 'अपाम सोमममृता अभूम' इति कर्मतः श्रुतममृतत्वं काम्यकर्मिणो भाक्तं भागविषयं, किञ्चित्कालीनमिति यावत्। कुतः? अनात्मवित्वात् आत्माज्ञानित्वात्। हि यस्मात् 'तमेवं विद्वान्', 'स एवमविदितो न भुनक्ति' इत्यादिश्रुतिस्थथा दर्शयति, तथा 'अमृतो वाव सोमपो भवति यावदिन्द्रः' इत्यादि श्रुतिस्तथा दर्शयति अल्पकालीनामृतत्वं दर्शयतीत्यर्थः। वाशब्दादकाम्यकर्मिणो ग्रहणम्। अकाम्यकर्मिणो जिज्ञासोश्चामृतत्वं भाक्तं गौणं ज्ञानद्वारा, ज्ञानिनश्चेत् मोक्षैकदेशातिशयरूपं भाक्तममृतत्वमित्यर्थः। कुतः? हि यस्मात् 'कर्मणा ज्ञानमातनोति' इति, 'आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य' इति च श्रुतिस्तथा दर्शयति उक्तार्थद्वयं दर्शयतीत्यर्थः। उपास्ते जानाति चेत्यर्थात्॥7॥

कृतात्ययाधिकरणम्॥3-1-8॥

ॐ कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम् ॐ ॥ 3-1-8-302 ॥

अत्र कर्मणां भोगेन निःशेषानाशा उच्यते। कृतस्य कर्मणोऽत्यये स्वर्गादिभोगेन क्षयेऽनुशयवान् भुक्तकर्मशेषवान् आयाति। कुतः? 'शेषेणेमं लोकमायाति' इति, 'भुक्तशेषानुशयवानिमां प्राप्य भुवं पुनः' इति श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। भूम्यामल्पसम्पादने कर्मसमाप्तिरिति शङ्कानिरासाय स्मृत्युक्तिः॥8॥

यथेताधिकरणम्॥3-1-9॥

ॐ यथेतमनेवं च ॐ ॥ 3-1-9-303 ॥

अत्र स्वर्गादागतिप्रकार उच्यते। यता येन प्रकारेण इतं स्वर्गादि प्रति गतं तथा आयाति। अनेवं च ततोऽन्यमार्गेण चेत्यर्थः। यथेतमित्युक्त्या 'धूमादभ्रमभ्रादाकाशमाकाशाच्चन्द्रलोकं यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' इति श्रुतिः सूचिता। आकाशपर्यन्तं यथेतं ततोऽर्वागन्यथेति भावः॥9॥

चरणाधिकरणम्॥3-1-10॥

ॐ चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॐ ॥3-1-10-304॥

अत्र गतागतस्य कर्मफलत्वमुच्यते। यथेतमिति प्रकृतं गतागतं चरणात् कर्माङ्गभूताचाराद् भवति, न तु यज्ञादिकर्मभिः। 'रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इत्यादि श्रुतेरिति चेन्न। तदुपलक्षणार्था

तस्य यज्ञादिकर्मणः अजहल्लक्षणयोपपादनार्था रमणीयेति श्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिर्मिन्यत इत्यर्थः। अतः काम्यकर्मणि वैराग्यं युक्तमिति बावः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॐ ॥ 3-1-11-305 ॥

चरणशब्दस्येति शेषः। उपलक्षणार्थत्वे चरणशब्दस्यानर्थक्यं स्यात्। यज्ञदिकृतां प्रकृतत्वेन ये यज्ञादिकारिणो रमणीया इत्युद्युक्त्यैवोपलक्षणसम्भवादिति चेन्न। तदपेक्षत्वात् तदिति चरणमुच्यते। साद्वसाधुचरणापेक्षत्वाद् यज्ञादिकर्मिणां, रमणीयत्वकपूयत्वयोरिति शेषः। यज्ञादिकृत्वे ससानेऽपि कथमेकेषां रमणीयत्वमन्येषां, कपूयत्वमिति न शङ्क्यम्। साध्वसाध्वाचारहेतुकत्वादिति द्योतयितुं चरणपदं श्रुतावर्थवदिति भावः।

प्रकारान्तरेण चरणश्रुतिं व्याचष्टे—

ॐ सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॐ ॥ 3-1-12-306 ॥

चरण इत्यनुवर्त्यम्। रमणीयकपूयचरणे सुकृतदुष्कृते एव समीचीनासमीचीनधर्माधर्मावेव। न तु तदङ्गं ततोऽन्ये। धर्मं कुरुतेत्यर्थे धर्मं चरतेति प्रयोगादिति बादरिर्मन्यते। तुशब्दोऽयमेव सूत्रकृत्सिद्धान्त इति सूचनार्थः। 'तुशब्दस्तु विशेषे स्यात् स्वसिद्धान्तेऽवधारणे' इति स्मृतेः॥10॥

अनिष्टाधिकरणम्॥3-1-11॥

ॐ अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॐ ॥ 3-1-13-307 ॥

अत्र पापकृतामपि गतागतमस्तीत्युच्यते। गतागतिमित्यस्ति। इष्टं यागः। पूर्तदत्तादिरादिपदार्थः। नञ् तदभावे तद्विरुद्धे चास्ति। इष्टापूर्ताद्यकारिणां तद्विरुद्धपापकारिणामपि गतागतं श्रुतं 'तद्य इह शुभकृतो ये चाशुभकृतस्ते शुभमनुभूयावर्तन्ते' इति श्रुतावित्यर्थः। न केवलमिष्टादिकारिणामित्यपेरर्थः। चस्तु दुःखान्तरसमुच्चये।

तद् व्यनक्ति —

ॐ संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॐ ॥ 3-1-14-308 ॥

तुरेव। द्वितीयार्थे सप्तमी। सम्यग् यमनं शासनं सम्यग्यमशासनं अनुभूय तु अनुभूयैव इतरेषामनिष्टादिकारिणामारोहावरोहौ केषाञ्चिदारोहो व्युत्थानमन्येषामवरोहो नीचस्थाने नित्यनरके पातो भवति। कुतः? तद्गतिदर्शनात् — तेषामनिष्टादिकारिणां गतेरेवं विधगतेः। 'सर्वे वा

एतेऽशुभकृतः संयमने प्रपतन्ति’ इत्यादिश्रुतौ दर्शनादित्यर्थः। संयमनमिति वाच्ये सप्तम्युक्तिः यमशासनं केत्याकाङ्क्षायां सम्यग् यमनं पापोपरमो यत्रेति व्युत्पत्त्या संयमने नरके इति सूचयितुम्, उदाहृतश्रुतिसूचनार्थं च। उक्तं च तत्त्वप्रदीपे संयमने नरके संयमनं दुःखमनुभूयेत्यादि। तुशब्दः संयमनमप्यन्येषाम् आरोहादिवद् वैकल्पिकं नेति द्योतयितुम्। अनिष्टादिकारिणामित्यनुवृत्तावपि इतरेषामित्युक्तिः तन्मध्ये केषाञ्चिदारोहोऽन्येषां हरिद्वेषिणामवरोह इति विकल्पसूचनार्था। प्राक् चशब्दोक्तव्यक्तिपरत्वादस्य योगस्यारोहावरोहौ चेति चशब्दाभावोऽपौनरुक्त्यं च बोध्यम्।

स्मृतिश्चैवमित्याह —

ॐ स्मरन्ति च ॐ ॥ 3-1-15-309 ॥

‘गच्छन्ति पापिनः सर्वे नरकं नात्र संशयः’ इत्यादि, ‘तानहं द्विषत- क्रूरान्’ इति, ‘सर्वदेवावरत्वेन यो जानाति च केशवम्’ इत्यादि स्मरन्तीत्यर्थः। प्रागुक्तश्रुतिसमुच्चये चः। स्मृतिभूयस्त्वाया बहुवचनम्॥ 11॥

अपिसप्ताधिकरणम्॥3-1-12॥

ॐ अपि सप्त ॐ ॥ 3-1-12-310 ॥

अत्र हरिद्वेषिणः प्रागुक्तनित्यनरकः समर्थ्यते। संयमनमित्यस्ति। अपिपदात् स्मरन्तीत्यस्ति। संयमनं नरकं सप्तापि सप्तप्रभेदमपि स्मरन्ति। न त्वेकविधम्। येन यावादिन्द्र इत्युक्तिविरोधः इत्यर्थः। ‘रौरवोऽथ महांश्चैव’ इत्यादिस्मृतिकर्तार इत्यर्थः। स्मृतौ पञ्चानामेवानित्यत्वोक्त्या यावदिन्द्र इत्युक्तेस्तत्परत्वादिति भावः। यद्यपि बहुकोट्यो नरकाः। तथापि सप्त प्रधानानीत्यपिशब्द इति तत्वप्रदीपोक्तिः॥ 12॥

तत्राप्यधिकरणम्॥3-1-13॥

ॐ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॐ ॥ 3-1-13-311 ॥

अत्र नरकस्य दुःखरूपतोच्यते। तत्रेति प्रस्तुतो नरक उच्यते। चशब्दो दुःखाभोगसमुच्चयार्थः। तत्रापि नरकेऽपि दुःखबोगेनैव तद्व्यापारात् तस्येशस्य प्रेरणाख्यव्यापारादविरोधः ‘सर्वं रमयति सर्वं न रमयति’ इति सर्वनियन्तृत्वश्रुतिविरोधो वा नरकस्य सदुःखत्वे तन्नियन्तुरीशस्य दुःखाबोक्तृत्वविरोधो वा नेत्यर्थः। सम्भोगप्राप्तिरित्यत्र अभोगोक्तावपि इह चशब्देन तदुक्तिः भोगो न दर्शनमात्रं किन्तु तत्कृतनीचोच्चत्वम्। तत्तु नेशेऽस्तीति द्योतयितुम्॥ 13॥

विद्याधिकरणम्॥3-1-14॥

ॐ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॐ ॥ 3-1-14-312 ॥

अत्र भूतानां साधन एव स्वातन्त्र्यं न तु पितृयानादिफल प्राप्तावित्युच्यते। तुरेव। इतिशब्दः श्रौतपदार्थस्यार्थोक्तिपरः। 'एतयोः पर्थोर्नैकतरेण च' इति श्रुतावेतयोरित्यस्य विद्याकर्मणोरित्येवार्थः। न तु देवयानपितृयानयोरित्यर्थः। येन फलस्वातन्त्र्यं स्यादिति भावः। कुतः? प्रकृतत्वात्। विद्याकर्मणोरित्यन्वेति। 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति। अथ य इमे ग्रामा इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूमम्' इति विद्याकर्मरूपमार्गयोरपि प्रकृतत्वादित्यर्थः। एके तु तुरप्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यविशेषद्योतकः। 'तद्य इत्थं' इत्यादिवाक्ये देवयानाद्युपस्थापकविद्याकर्मणोरपि प्रकृतत्वादित्यर्थ इत्याहुः। विद्याकर्मपदप्रयोगात् 'विद्यापथः कर्मपथो द्वौ पन्थानौ प्रकीर्तितौ। तद्विर्जितस्त्रिधा याति तिर्यग् वा नरकं तमः॥' इति स्मृतिः सूचिता॥ 14॥

न तृतीयाधिकरणम्॥3-1-15॥

ॐ न तृतीये तथोपलब्धेः ॐ ॥ 3-1-15-313 ॥

अत्रान्धतमस्य दुःखमात्रत्वमुच्यते। सुखमिति शेषः। तृतीये 'तिर्यग् वा नरकं तमः' इत्युक्ततृतीयेऽन्धतमस इत्यर्थः। न सुखमित्यस्ति। कुतः? तथोपलब्धेः। 'अथाविद्वानकर्म' इत्यादिश्रुतौ तथा दर्शनादित्यर्थः। उपलब्धेरित्येव वाच्ये तथेत्युक्तिः यथाशब्दमुपेयं न तु दुःखस्य सुखव्याप्यत्वबुद्धिरादर्तव्येति वा विवक्षितार्थबोधकत्वं श्रुतेरस्तीति वा सूचयितुम्।

स्मृतियुक्तिभ्यां चैवमित्याह —

ॐ स्मर्यतेऽपि च लोके ॐ ॥ 3-1-15-314 ॥

न तृतीये सुखमित्येतत् 'तिर्यक्षु नरके चैव सुखलेशो विधीयते। नान्धेतमसि' इति स्मर्यते। लोकेऽपि सिद्धमिति शेषः। लौकिक दृष्टान्तयुक्तयुक्तिसिद्धमित्यर्थः। यथा राजाप्रियो नरः सुखित्वेन राजानिष्टत्वात् न सुखभाग् एवमीशाप्रियोऽन्धतमसस्थः सुखित्वेन ईशानिष्टत्वात् न सुखभागित्यनुमानसिद्धमित्यर्थः। 'अत्यप्रिये सुखमपि तथैव परमेश्वरः' इति युक्तिमूलस्मृतिसमुच्चये चः।

इतश्चैवमित्याह—

ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-1-15-315 ॥

न तृतीये सुखमित्येतद् विरिञ्चिप्रत्यक्षाच्च सिद्धमित्यर्थः। तच्च 'नारायणप्रसादेन' इत्यादिस्मृत्या बोध्यमिति भावः।

अर्थापत्तितोऽप्येवमित्याह —

ॐ तृतीये शब्दावरोधः संशोकजस्य ॐ ॥ 3-1-15-316 ॥

तृतीय इत्यस्ति। तृतीये यत्तृतीयं तत्रेत्युक्त्या तमस्त्रिविधमिति गम्यते। मोहस्येति शेषः। तृतीयेऽपि तृतीये तमसि विषये संशोकजस्य अतिदुःखजन्यस्य मोहस्य शब्दावरोधः शब्देन प्राप्तिः शब्दश्रवणेन प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। तमसि तृतीयतमसो वर्णने तच्छ्रोतृणामतिदुःखं भवति, तेन च मूर्छेति तदन्यथानुपपत्त्या न तत्र सुखमस्तीति सिद्धमिति भावः। अर्थापत्तेरनुमानत्वेऽपि तद्विशेषत्वात् पृथगुक्तिः। न तृतीये श्रुतिस्मृतियुक्तिदृष्ट्यर्थापत्तिभ्य इति वाच्ये योगविभागो युक्तेः स्मार्तत्वं दृष्टेरस्तित्वस्यापि स्मृत्यायत्तत्वं तृतीयेऽपि तृतीयस्य दुःखमात्रत्वमर्थापत्तिसिद्धमित्यादिविशेषद्योतनार्थं इत्यूह्यम्। तदुक्तमतिसप्तेत्यत्र तत्वप्रदीपे — सर्वत्र चेत्थमेव सूत्रपदानां कृत्यमुपक्षिपति, न तु निर्वक्ति, सूक्ष्मबुद्धिभिः अधिकारिभिर्बोध्यमिति ज्ञापयन्निति।

शोकजमोहप्राप्तिः श्रोतृणां भवतीत्येतत् स्मृत्याऽऽह —

ॐ स्मरणाच्च ॐ ॥ 3-1-15-317 ॥

तृतीये शब्दावरोधः संशोकजस्येत्यस्य 'महातमस्त्रिधा प्रोक्तम्' इत्यादिना स्मरणादित्यर्थः। प्राक् तमसो दुःखमात्रत्वे स्मृत्युक्तिः। अत्र तु तमस्त्रैविध्ये तृतीयश्रोतृमोहप्राप्तौ चेति भेदः। त्रैविध्यस्य चेति चार्थ इति भाति॥ 15॥

तत्स्वाभाव्याधिकरणम्॥ 3-1-16॥

ॐ तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॐ ॥ 3-1-16-318 ॥

अत्र कर्मिणां धूमादिदेवताभवनं नेत्युच्यते। तदिति विद्या सूत्रे प्रकृतधूमादिरुच्यते। तत एव कर्मण इति चान्वेति। 'धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति' इत्यादौ धूमादिभवनं नाम कर्मिणः तत्स्वाभाव्यापत्तिः। तस्य धूमादेः स्वभाव इव स्वभावो यस्य स तत्स्वभावः। गजमुख इत्यादिवत्। तत्स्वभावस्य भावः तत्स्वाभाव्यं धूमादिदेवता स्वभावसदृशस्वभावत्वप्राप्तिः, न तु तदैक्यं तत्प्रदप्राप्तिर्वेत्यर्थः। तत्सादृश्यं

च तद्देवताप्रवेशेन तद्गतिस्थित्यादौ स्वस्य गतिस्थित्यादिरिति बोध्यम्। कुतः? उपपत्तेः। अन्यस्यान्यत्वादृष्ट्या अस्यैवार्थस्योपपत्तेरित्यर्थः॥16॥

नातिचिरेणाधिकरणम्॥3-1-17॥

ॐ नातिचिरेण विशेषात् ॐ ॥ 3-1-17-319 ॥

अत्र स्वर्गादवरूढस्य कर्मिणः अचिरेण गर्भवासादिप्राप्तिरुच्यते। योनिमाप्नोतीति शेषः। कर्मीत्यस्ति। कर्मी नातिचिरेण, नसमासः, अचिरेणैवेत्यर्थः। यद्वा अतिचिरेण न योनिमाप्नोति, किन्त्वचिरेणेत्यर्थः। कुतः? विशेयात्। 'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते' इति विशेषश्रवणादित्यर्थः। अचिरेणेति वाच्ये नातित्याद्युक्तिः, 'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं' इत्यादिश्रुतौ बहुस्थानगमनोक्त्या चिरेणेति न शङ्क्यम्। अतिचिरेण आगमनस्यैव तत्र निषेधादिति द्योतयितुम्। अत एवातीत्युक्तिः। स्वर्गलोकादवाक् प्राप्तो वत्सरात् पूर्वमेव तु। मातुः शरीरमाप्नोति' इति स्मृतेरिति भावः॥17॥

अन्याधिकरणम्॥3-1-18॥

ॐ अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॐ ॥ 3-1-18-320 ॥

अत्र कर्मिणो व्रीह्यादिभावो नेत्युच्यते। व्रीह्यादिदेहे प्रवेश इति शेषः। कर्मिण इत्यस्ति। 'त इह व्रीहियवास्तिला माषा इति जायन्ते' इति व्रीह्यादिबावो नाम अन्याधिष्ठिते व्रीह्यादिदेहे प्रवेश एव। न तु तदभिमानित्वम्। येन तच्छेदादिना दुःखं कर्मिणः शङ्क्येतेत्यर्थः। कथं तर्हि व्रीहियवा इत्यैक्योक्तिः? पूर्ववत् धूमो भूत्वेति पूर्वोक्तिर्यथा तथेति। कुतः? अभिलापात्। 'सोऽवाग्गतः स्थावरान् प्रविश्य भोगेन' इत्यादिश्रुतावभिलापादित्यर्थः। व्रीह्यादिदेह इति वाच्ये अन्येत्याद्युक्तिः स्वर्गादवाग्गतस्य व्रीह्यादिदेहानभिमाने तेषां वृद्धिर्न स्यादिति न शङ्क्यम्। अन्येनाभिमानिजीवेन अधिष्ठितत्वादिति वक्तुम्।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॐ ॥ 3-1-18-321 ॥

कर्मेत्यन्वेति। यज्ञाख्यं कर्माशुद्धं दुःखसाधनं हिंसात्वात् द्विजहिंसावत्। अतो दुःख न शङ्क्य कर्मिण इत्ययुक्तमिति चेन्न। शब्दात् शब्दविहितत्वादित्यर्थः। हिंसात्वस्याप्रयोजकत्वादित्यर्थः॥18॥

रेतोधिकरणम्॥3-1-19॥

ॐ रेतःसिग्योगोऽथ ॐ ॥ 3-1-19-322 ॥

अत्र स्वर्गादिवरूढस्य पितृप्रवेशः साध्यते। कर्मिण इत्यस्ति। अथेत्यनन्तरं मातृयोग इति शेषः। कर्मिणो रेतस्सिग्योगः पितृ प्रवेशः। अत ततः पश्चात् मातृयोग इत्यर्थः। तथा च 'मातुरेवोदरं व्रजेत्' इति वचनाविरोधः। मातृयोगस्य पश्चादपि सत्त्वात्। एवेत्यस्यायोगव्यावर्तकत्वादित्यर्थः। पितृयोग इति वाच्ये रेतस्सिगित्युक्तिः पितृप्रवेशानुपयोगो न शङ्क्यः। देहपरिणामाय रेतसोऽपेक्षितत्वेन ईशङ्क्षुत्या तत्सेकयोगोपयोगादिति सूचनार्था, 'ततो रेतस्सिचमेवानुप्रविशत्यथ मातरं' इति श्रुतिसूचनार्था च॥19॥

योन्यधिकरणम्॥3-1-20॥

ॐ योनेः शरीरम् ॐ ॥ 3-1-20-323 ॥

अत्र कर्मिणः पितृद्वारा योनिप्रवेशेन देहप्राप्तिस्साध्यते। अतेत्यस्ति। तत् प्रकृतादर्थान्तरे वर्तते। कर्मी पितृक्रमेण योनेः प्रवेशानन्तरं शरीरं लभते। अतक्कचित् मान्धातृद्रोणद्रुपदशुकादौ तपः शक्त्या तेन विनैव शरीरप्राप्तिरित्यर्थः॥

इति श्री राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पाद-॥3-1॥

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥3-2॥

उक्तवैराग्यापाद्यदार्ढ्यर्थकोपासनाङ्गभक्त्युत्पत्तये भगवन्महिमाऽत्र पादेऽभिधीयते।

सन्ध्यादिकरणम्॥3-2-1॥

ॐ सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॐ ॥ 3-2-1-324 ॥

अत्र स्वप्नार्थतद्वियोरीशाधीनत्वमुच्यते। जाग्रत्सुप्तिसन्धौभवतीति सन्ध्ये स्वप्ने श्रृष्टिरर्तानामिति योग्यतयाऽन्वयः। निरोधश्चेत्युपलक्ष्यते। कुतः? हि यस्मादाह शब्द इति विपरिणम्यानुवृत्तिर्वा, श्रुतिरिति शेषो वा। 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इत्यादिश्रुतिरित्यर्थः। एवं च सन्ध्ये एवार्थानां सृष्टिनिरोधसत्त्वेन प्रागूर्ध्वमदृष्टिमात्रेण असत्त्वाभावात् स्वप्नार्थतद्वियोरीशाधीनत्वमेवेति भावः।

कर्त्रभावात् न तत्सृष्टिर्युक्तेत्यत आह —

ॐ निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॐ ॥ 3-2-1-325 ॥

एक इति पूर्वोक्तरयोरन्वेति। एके शाखिनः सन्ध्येऽर्थानां निर्मातारं च 'कामं कामं पुरुषो निर्ममाणः' इत्याहुः। न सृष्टिमात्रं श्रूयत इति चार्थः। पुत्रादयश्च 'एतस्माद्येव पुत्रो जायते' इत्यादिना सन्ध्ये पुत्रादयश्चेशेन सृज्यन्त इति एके आहुरिति योज्यम्। निर्मातारमिति पुत्रेति च श्रुतिविशेषसूचनार्थम्। अत्राद्यश्रुतौ ईशस्य स्पष्टं सन्ध्यकर्तृत्वाप्रतीतेः पुत्रादयश्चेति श्रुत्यन्तरोक्तिः। जीवस्य सुप्तत्वेऽपि ईशस्य कर्तृत्वं युक्तमिति भावः।

ॐ मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ॐ

॥3-2-1-326॥

तुरेव। मायेति तन्त्रेण ईशेच्छावासने उच्यते। सन्ध्यामित्यस्ति। सन्ध्यं स्वप्नसम्बन्ध्यर्थजातं मायामात्रं तु मायाभ्यां संस्कारेशेच्छाभ्यां मात्रं तु निर्मितमेव। माङ् मान इत्यतः कर्मणि त्रप्रत्ययः। अनादि मनोगतसंस्कारान् उपादानीकृत्य ईशः स्वेच्छया निमित्तेन निर्मिमीते। नान्येनेत्यर्थः। कुतो मायामयत्वम्? अत उक्तं कात्स्न्येनेत्यादि। साकल्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् मायामात्रमेव, न बाह्योपादानकम्। तथात्वे सम्यगभिव्यक्तिः स्यादित्यर्थः। अनभिव्यक्तेत्याद्युक्त्या 'मनोगतांस्तु इत्याद्युक्तिः सूचिता। यद्यपि 'त्रिगुणात्मिकाऽथ ज्ञानं च विष्णुशक्तिस्तथैव च। मायाशब्देन भण्यन्ते' इति स्मृतेः, 'माया वयुनमभिख्या' इति प्रज्ञानामसु पाठाद्वा मायाशब्दस्य प्रज्ञार्थत्वम्। तथापि तज्जन्या वासनाऽत्र लक्ष्यत इत्यदोषः।

सन्ध्यार्थस्य बाह्यार्थाजन्यत्वे शुक्तिरूप्यवदसत्त्वं स्यादत आह —

ॐ सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॐ ॥ 3-2-1-327 ॥

आद्यश्चो हेतौ। सन्ध्योऽर्थः शुभाशुभसूचको यतोऽतो नासन्निति योज्यम्। कुतः? श्रुतेः। 'यदा कर्मसु काम्येषु' इति, 'कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति' इत्यादिश्रुतेः प्रत्यक्षतः फलदर्शनाच्चेति हेरर्थः। तद्विदः सन्ध्यार्थविदो व्यासादयः 'यद्वाऽपि ब्राह्मणो ब्रूयात्' इत्याद्याचक्षते चेत्यर्थः॥1॥

पराभिध्यानाधिकरणम्॥3-2-2॥

ॐ पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॐ

॥3-2-2-328॥

अत्र सन्ध्यतिरोधायकत्वम् ईशस्योच्यते। तुरेव। सन्ध्यामित्यस्ति। पराभिध्यानात्तु ईशेच्छात एव, सन्ध्यं तिरोहितं तिरोधीयते। न ज्ञानेन। हि यस्मादस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ तत ईशादित्यर्थः। यता

बन्धमोक्षयोः अज्ञानज्ञाननिमित्तत्वप्रसिद्ध्दावपि न बन्धमोक्षावज्ञानज्ञानाधीनौ, तयोर्जडत्वेनास्वातन्त्र्यात्, किन्तु ईशायत्तौ, तथा सन्ध्या विर्भावतिरोभावयोः अज्ञानज्ञाननिमित्तत्वप्रतीतावपि ईशाधीनतैवेति भावः। हिशब्दो बन्धादेरज्ञानाद्यनधीनत्वप्रसिद्ध्यर्थः। हेत्वर्थो वा। बन्धमोक्षावित्युक्त्या 'स्वप्नादिबुद्धिकर्ता च' इत्यादिस्मृतिः सूचिता॥2॥

देहयोगाधिकरणम्॥3-2-3॥

ॐ देहयोगाद्वासोऽपि ॐ ॥ 3-2-3-329 ॥

अत्र जाग्रदवस्थाप्रवर्तकत्वम् ईशस्योच्यते। अपि; 'पराभिध्यानात्तु' इत्यनुकर्षकः। सुप्तिसमुच्चायक इत्येके। अस्येत्यस्ति। तृतीयार्थे पञ्चमी। देहयोगेन देहाभिमानेन वासोऽपि स्थितिरपि जाग्रदवस्थाऽपीत्यर्थः पराभिध्यानादेव न कालादित इत्यर्थः। जाग्रदपीति वाच्ये देहेत्याद्युक्तिः तत्स्वरूपव्यक्त्यर्था। साऽप्यवस्थान्तरे जीवस्य देहानाभिमानेन तस्यान्यायत्तत्वेऽपि जागरणे मम देह इति स्वातन्त्र्यायभिमानेन न तदधीनत्वं जाग्रत्वस्येति न शङ्क्यम्। 'स एव जागरिते स्थापयति' इत्यादिश्रुतिविरोधादिति द्योतयितुमित्येके। गजाश्वादिदर्शनस्य स्नानादिभोगस्य च स्वप्नजागरणयोः सम्यात् तयोः को भेद इति न शङ्क्यं, जाग्रति देहाभिमानाभवात्, अन्यथा तदभावोद्भेद इति द्योतयितुमित्यन्ये॥3॥

तदभावाधिकरणम्॥3-2-4॥

ॐ तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि ह ॐ ॥ 3-2-4-330 ॥

अत्रेशस्य सुप्तप्राप्यत्वमहिमोच्यते। अस्येत्यस्ति। जीवस्य तदभावः प्रस्तुतजाग्रत्स्वप्नाभावः, सुप्तिरिति यावत्, नाडीष्वात्मनि नाडीस्थपरमात्मनि। कुतः? तच्छ्रुतेः। तस्य नाडीस्थत्वस्य आत्मस्थत्वस्य च 'आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति', 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' इति श्रवणादित्यर्थः। श्रुतिद्वयनिर्वाहस्पष्टीकरणाय नाडीस्थ इत्यनुक्त्व विभज्योक्तिरिति केचित्। सुप्तिरिति वाच्ये तदभाव इत्युक्तिः सुप्तिस्वरूपप्रदर्शनाय। तेन बाह्यान्तरिन्द्रियाणाम् उपरतिरेव, न ज्ञानमात्रस्येति स्वरूपज्ञप्त्या स्वरूपसुखभोगस्तदा युक्त इति बोध्यम्। नाडीष्विति बहुवचनं श्रुत्यनुसारात्। श्रुतौ च प्रतिदेहं तद्बहुल्यादिति ज्ञेयम्। हेति 'तन्नाडीसंस्थितं विष्णुं मध्ये जीवः प्रपद्यते' इत्यादिप्रसिद्धिद्योतकमिति भाति॥4॥

प्रबोधाधिकरणम्॥3-2-5॥

ॐ अतः प्रभोधोऽस्मात् ॐ ॥ 3-2-5-331 ॥

अत्रेशस्य सुप्तप्रबोधकत्वमुच्यते। अस्येत्यस्ति। जीवस्य सुप्तिप्रबोधः अस्मात् प्रकृतात् परमात्मनो भवति। कुतः? अतः जीवस्थात्मन्येव सुप्तत्वादित्यर्थः। ईशेन स्वान्तर्निवेशितस्य तत्प्रेरणां विना उद्बोद्धुमशक्यत्वादिति भावः। प्रबोध इत्युक्त्या 'एष एव सुप्तं प्रबोधयति' इत्यादिश्रुतिः सूच्यते। भेरीताडनादेः प्रबोधकत्वदृष्टिः निमित्तत्वमात्रविषयेति भावः॥5॥

कर्मानुस्मृत्यधिकरणम्॥3-2-6॥

ॐ स एव च कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॐ ॥ 3-2-6-332 ॥

अत्रेशस्य सर्वजनीनसर्वावस्थाप्रवर्तकत्वमुच्यते। स एव प्रस्तुतात्मैव सर्वावस्थाप्रवर्तक इति शेषः। चः पक्षान्तरव्यावर्तकः। न देशकालान्तरेऽन्य इति एवेत्यतोऽर्थाल्लब्धस्यापि वाचनिकत्वाय चशब्दः कुतः? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। कर्मेति धर्माधर्मरूपं व्यापारमात्रं वा। तेन तस्य ईशैकायत्तत्वश्रुतिर्लक्ष्यते। 'स एव साधुकर्म कारयति। एष ह्येवासाधुकर्म कारयति' इति कर्मणामीशयत्तत्वश्रुतेः। स्वप्नादिप्राप्तेश्च तदन्तर्भावात्। 'प्रदर्शकस्तु सर्वेषां स्वप्नादेरेक एव तु।' इत्यभिमतार्थानुसारिस्मृतेः। 'एष स्वप्नान् दर्शयति' इत्यादिशब्दात्। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इत्यात्मन एवोपास्यत्वविधेरित्यर्थः। अन्यस्यापि प्रेरकत्वे एवकारयोगादिति भावः॥6॥

सम्पत्यधिकरणम्॥3-2-7॥

ॐ मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॐ ॥ 3-2-7-333 ॥

अत्रेशस्य मोहाख्यावान्तरावस्थास्थितजीवस्य अर्धप्राप्यत्वमुच्यते। अस्येत्यात्मनीति चास्ति। मुग्धे मोहे मूर्छायां, भावे क्तः, जीवस्य आत्मन्यर्धप्राप्तिः। न सम्यक् प्राप्तिः। कुतः? परिशेषात् - आत्मविदूरत्वसामीप्यप्रवेशार्धप्रवेशेषु आद्यत्रिकस्य 'हृदयस्थात् पराज्जीवः' इति स्मृत्या जाग्रदाद्यवस्थान्तरत्वेनार्धप्रवेशस्यैव परिशेषादित्यर्थः। नातिदूरसामीप्यस्याचिरकालीनत्वात् न तस्यमोहत्वमिति भावः। स्वप्नादिवत् न मोहः स्वतन्त्रावस्थेति द्योतनाय व्यवधानेनास्योक्तिः। जन्मादिसूत्रोक्तसृष्ट्यादिकर्तृत्वस्य प्रपञ्चनमेतैर्योगैः कृतमित्यपौनरुक्त्यम्॥7॥

न स्थानतोऽप्यधिकरणम्॥3-2-8॥

ॐ न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॐ ॥ 3-2-8-334 ॥

अत्रेशस्य सर्वत्र निर्दोषशेषगुणत्वमभिन्नत्वं च साध्यते। स्थानत इति तद्भेदो लक्ष्यते। आद्यादित्वात् सप्तम्यर्थे तसिः। उभशब्दपर्याय उभयशब्दः। उभशब्दश्च सङ्ख्यातदन्यार्थयोर्वाचकः। उभावुदात्त इति सूत्रे द्वयर्थत्वस्य वृत्त्यादौ दर्शितत्वात्। एवं चोभयहेतुक इत्यत्र सङ्ख्यापरत्वेऽपीह भिन्नपरत्वं न विरुध्यते।

सुरनरतिर्यगाद्यक्ष्यादिस्थानभेदेऽपि परस्येशस्योभयलिङ्गं भिन्नरूपं नास्ति। 'लिङ्गं स्वरूपमुद्दिष्टं लिङ्गं ज्ञापकमेव च' इत्यादेः। उपलक्षणमेतत्। दोषित्वादि च नेत्यपि ध्येयम्। कुतः? सर्वत्र हि। हि यस्मात् सर्वस्थानेषु निर्दोषाशेषगुणो निर्भेदश्च परः 'सर्वभूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते' इत्यादौ श्रूयत इत्यर्थः।

उभयत्वमिति वाच्ये लिङ्गमित्युक्तिर्न पाण्याद्येकैकदेशेनानेकत्र स्थितिः, किन्तु समग्रेषु विग्रहेष्वनेकत्र सत्स्वपि तेषां भिन्नत्वमात्रं नेति द्योतयितुम्। अर्भकौकस्त्वादित्यत्र व्योमवत् सर्वगतस्याप्येकैकत्र स्थितिः। अल्पश्रुतेरित्यत्रैकैकत्र स्थितांशस्यापि पूर्णत्वमुक्तम्। अत्र चैकैकत्र स्थितस्य समग्रावयवत्वमुच्यत इति भेदः। रूपमिति वाच्ये लिङ्ग मित्युक्तिः स्थानभेदो न परस्योभयत्वे लिङ्गम्, अप्रयोजकत्वादिति तत्त्वप्रदीपोक्तदिशाऽर्थान्तरसूचनाय।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॐ॥ 3-2-8-335 ॥

परस्येत्यस्ति। भेदेत्युपलक्षणम्। 'कार्यकारणबद्धौ' इति श्रुतौ जाग्रद्बद्धो विश्वः, स्वप्नबद्धस्तैजसोऽज्ञानबद्ध; प्राज्ञ इत्यादिभेददोषित्वादिवचनात् नाभेदः परस्येति चेन्न। प्रत्येकमतद्वचनात्। तत् भेदः। अतत् अभेदः। 'एष न आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इत्यत्र पृथिव्यन्तर्याम्येव तवान्तर्यामीति 'अयमेव सः योऽयमात्मा' इत्यादौ ईश्वररूपाणां प्रत्येकं परस्परं मूलरूपेण चाभेदवचनादित्यर्थः। 'बद्धो बन्धादिसाक्षित्वत्' इत्यादौ निर्दोषतावचनादित्युपलक्ष्यते।

अतद्वचनादित्येव पूर्तौ प्रत्येकमित्युक्तिरादरसूचनार्था। तेन भेदोक्तितः अभेदोक्तेः प्राबल्यमिति भावः।

अभेदोक्तेः कतिपयरूपपरत्वसम्भवात् न ततो भेदश्रुतेर्बाध इत्यत आह —

ॐ अपि चैवमेके ॐ ॥ 3-2-8-336 ॥

एकेऽपि शाखिनः एवमभेदं 'अमात्रोऽनन्तमात्रश्च' इति परस्य (वर्णयन्ति) पठन्तीत्यर्थः। चशब्दोऽनन्तरूपत्वं चेशे समुच्चिनोति। अमात्रो न भिन्नांशरहित इत्यर्थात्। बेदव्यपदेशः स्थान भेदादैश्वर्याच्च युक्त इति भावः॥ ८॥

अरूपाधिकरणम्॥3-2-9॥

ॐ अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॐ ॥ 3-2-9-337 ॥

अत्रेशस्याप्राकृतदेहत्वमुच्यते। तदिति तन्त्रम्। व्यस्तं समस्तं च। तत् प्रस्तुतं ब्रह्म अरूपवदेव प्राकृतादिदेहरहितमेव। येनानित्यता 'अरूपमनामयम्' इति श्रुतिविरोधो वा स्यात्। कुतः? तत्प्रधानत्वात्। तस्य ब्रह्मणस्तेभ्यः प्रकृतिभूतेभ्य उत्तमत्वात्। हिशब्दः 'अस्थूलमनणु' इत्यादिश्रुतेश्चेति सूचयति। स्वाधीनेन प्रकृत्यादिनाऽऽत्मबन्धायोगादिति भावः।

स्वेच्छादिना निमित्तेनापि न तादृशं रूपमिति वक्तुं श्रुतेरपि सूचनम्। अत्र परस्येति प्रस्तावदरूपवानिति वाच्ये क्लीबोक्तिर्हिशब्दोक्तश्रुत्यनुसारात्। अरूपमिति वाच्ये मतुप् रूपरूपिभेदनिवृत्त्यर्थ इत्याहुः। 'अन्यभाव' इत्युक्तस्य समर्थनमत्रेत्येके। तत्त्वप्रदीपे तु तत्रान्यवस्तुस्वभावव्यावृत्तिरुक्ता, न तु नीरूपता। साऽत्रोच्यत इत्युक्तम्।

अरूपित्वे 'रुग्मवर्ण' इति रूपित्वविरोधः, सौन्दर्यसौलक्षण्याद्यभावश्चेत्यत आह —

ॐ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॐ ॥ 3-2-9-338 ॥

'यदा पश्यः पश्यते रुग्मवर्णं', 'श्यामात् शबलं प्रपद्ये', 'सुवर्णज्योतिः' इत्यादिरूपित्वश्रुतीनामिति शेषः। अवैयर्थ्यं वैय्यर्थ्यमप्रामाण्यं च नेत्यर्थः। सौन्दर्याद्यभावश्च नेत्युपलक्ष्यते। कुतः? रूपित्वात् ब्रह्मण इति भावः। तर्ह्यरूपित्वश्रुतिविरोध इत्यत उक्तं प्रकाशवदिति। प्रकाशस्येव, नास्ति प्रकाश इत्यादिव्यवहारस्येवेति यावत्। तत्त्वप्रदीपदिशा चशब्दोऽरुपित्वश्रुतीनां चेत्यन्वेति। अवैय्यर्थ्यमित्यन्वयः। यथा गृहान्तश्चाक्षुषादिप्रकाशे सत्यपि तस्य सौरादिलौकिकप्रकाशवैलक्षण्यात् नास्ति प्रकाश इत्युक्तिस्तथा रूपित्वेऽपि ब्रह्मणो विलक्षणाप्राकृतरूपित्वाद् अरूपश्रुत्यप्रामाण्यं नेत्यर्थः।

वृत्त्यन्तरं तु रूपशब्दस्य प्राकृतरूपे व्युत्पन्नतया अप्राकृतेऽव्युत्पत्त्याऽरूपित्वश्रुतीनां वैय्यर्थ्यं न। प्रकाशवत् प्रकाशवाचिशब्दस्येव। यताऽप्रकाकृतप्रकाशेऽपि ब्रह्मणि सुवर्णज्योतिरिति प्रकाशशब्दस्तथारूपशब्दोऽपि। उपपत्तिस्तु 'बुद्ध्यर्थः पादवत्' इत्यग्रे व्यक्तीभविष्यतीति भावः।

तस्याप्राकृतत्वं कुतः? सर्वरूपाणां प्राकृतत्वादित्यत आह —

ॐ आह च तन्मात्रम् ॐ ॥ 3-2-9-339 ॥

रूपमिति प्रकृतमन्वेति। तद्गुणसारत्वादिति प्रस्तुतौ ज्ञानानन्दौ तदिति परामृश्येते। रूपं तन्मात्रं ज्ञानानन्दादिमात्रं चाह 'एकात्म्य प्रत्ययसारं', 'आनन्दमात्रमजरम्' इत्यादिश्रुतिर्न प्राकृतमित्यर्थः।

उक्तश्रुतौ देहस्य ज्ञानाद्यात्मता न श्रुतेत्यत आह —

ॐ दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॐ ॥ 3-2-9-340 ॥

'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति श्रुतिरानन्दात्मकं रूपं दर्शयति च। अथो इत्यर्थान्तरमुच्यते। अथो अपि ज्ञानात्मकमपि रूपं स्मर्यते।'शुद्धस्फटिकसङ्काशं वासुदेवं निरञ्जनम्। चिन्तयीत यतिर्नान्यं ज्ञानरूपादृते हरेः॥' इति स्मर्यत इत्यर्थः। पूर्वत्रेशतद्देहयोरैक्यबुध्या ईशस्य ज्ञानाद्यात्मकत्वे श्रुतिरुक्ता। अत्र तु विशिष्येति बोध्यम्॥9॥

उपमाधिकरणम्॥3-2-10॥

ॐ अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॐ ॥ 3-2-10-341 ॥

अत्रेशस्य जीवेन भेदाभेदौ नेत्युच्यते। उपमेत्यनन्तरं 'न भेदात्' इति सूत्रात् 'इति चेन्न' इत्यनुवर्तनीयम्। 'ततो ह्यस्य' इत्यतो 'ह्यस्य' इति च। चः सूर्यकादिवच्चेति भिन्नक्रमः। अत एवेति तन्त्रम्।

अते एव — ईशतद्रूपाणामभेदस्य 'न स्थानतः' इत्यत्रोक्त्वादेव, अत एव-चेतनत्वांशांशित्वादिहेतोरेव अस्य जीवस्य उपमा मत्स्यादि साम्यं, मत्स्यादिवदीशभेद इति यावत्, इति चेन्न। सूर्यकादिवत्। सूर्यादिप्रतिबिम्बसूर्यकच्छायादिवत्। योग्यतया प्रतिबिम्बत्वादिति हेतुरन्वेति। जीवो नेशाभिन्न इति साध्यसमुच्चये चः। सूर्यकादिः प्रतिबिम्बत्वात् सूर्यादिना यथा नाभिन्नस्तथा जीवोऽपीशेनेत्यर्थः।

यद्वा 'अत एव' इत्यावर्तते। द्वितीयम् उपमेत्यतः परं योज्यम्। आद्यं तन्त्रम्। उपमाशब्दः उपमावत्प्रतिबिम्बपरः। अत एव मत्स्यादिस्वांशरूपाणां ईशेन ज्ञानाद्यविशेषस्योक्तत्वादेव। अत एव जीवस्यापि स्वरूपांशत्वे मत्स्याद्यविशेषापातादेव उपमा प्रतिबिम्बः ईशप्रतिबिम्बो जीवः। अत एव ईशप्रतिबिम्बत्वादेव सूर्यकादिवत् नेशाभिन्नो जीव इति च अस्यार्थः।

आद्येऽर्थे हेतुसिद्धिः 'रूपं रूपं' इत्यादिश्रुत्याधीन। अन्त्येऽर्थे सूत्रोक्तयुक्त्याधीना।

'अत एव चोपमा' इत्यंशस्य वृत्यन्तरं तु – तृतीयार्थे तसिः। अत एव — 'पृतगुपदेशात्', 'तद्गुणसारत्वात्', 'सन्ध्ये सृष्टिः' इत्युक्तभिन्नत्वरूपसाध्य-सादृश्यबिम्बाधीनत्वरूपासाधनधर्मैरेव, उपमा सूर्यकादिदृष्टान्तो न तूपाध्यायत्तत्वादिना। येनानित्यत्वादिदोषः स्यादिति। एतदर्थसूचनायैव

द्वितीयेऽर्थे प्रतिबिम्ब इति वाच्ये उपमेत्युक्तिः। अभेदांश एव विवादात् तन्निरासः। पृथगित्यत्रोक्तं भेदमुपेत्याभेदस्यापि शङ्कनादपौनरुक्त्यम्। आद्यवृत्तौ भेदेऽविगानात् अभेदमात्रं शङ्कितम्॥10॥

अम्बुवदधिकरणम्॥3-2-11॥

ॐ अम्बुवद्ग्रहणात् तु न तथात्वम् ॐ ॥ 3-2-11-342 ॥

अत्रेशभक्तेः स्वरूपसुखाभिव्यक्तिरूपफलमुच्यते। अम्बुवदिति सादृश्यार्थे वतिः। न मतुप्। स्नेहात्मकाम्बुपदेन मानसस्नेहो लक्ष्यते। तथैव तत्त्वप्रदीपोक्तेः। ग्रहणं ज्ञानम्। अस्य विशेषणमम्बुवदिति। अम्बुवद्ग्रहणाद् ग्रहणाभावाद् — अम्बुसदृशज्ञानाभावादित्यर्थः, स्नेहयुक्तज्ञानाभावादिति यावत् — भक्त्यभावादिति तात्पर्यार्थः। 'तथात्वम्' इत्यनेन 'अत एव' इति पूर्वत्र प्रकृतं तद्गुणसारत्वरूपसादृश्यं परामृश्यते। तुर्विशेषे। व्यज्यत इति शेषः। भक्तिं विना सुखात्मकत्वरूपसादृश्यं न तु व्यज्यते न सम्यग् व्यज्यत इत्यर्थः।

सुप्तौ भक्तिं विनाऽपि व्यक्तिरस्तीत्यतः तुरुक्तः। भक्तिं विनेति वाच्ये 'अम्बुवत्' इत्याद्युक्तिः भवितस्वरूपोक्त्यर्था। एवमपि स्नेहपूर्वकज्ञानाभावादिति वाच्ये 'अम्बु' इत्युक्तिरम्बुगतस्नेहस्येव भक्त्येकदेशस्नेहस्य सहजत्वं द्योतयितुम्। गृह्णाति — अर्थं न मुञ्चतीति ज्ञानशब्दार्थसूचनाय ग्रहणपदमिति केचित्। भक्त्या तथात्वं व्यज्यत इत्यन्वयमुखेन वाक्ये व्यतिरेकमुखेनोक्तिः भक्त्यभावेऽपि सुप्तौ सुखव्यक्तितरस्ति किं भक्त्येति शङ्किते, भक्त्यभावे सुखं न सम्यग् व्यज्यत इति समाधातुम्। एके तु — पुंस्त्वादिवादित्यत्रोक्तं सादृश्यस्याभिव्यक्तत्वं तथात्वमिति परामृश्यत इत्याहुः॥11॥

वृद्धिह्रासाधिकरणम्॥3-2-12॥

ॐ वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॐ ॥3-2-12-343॥

अत्र प्राक् फलहेतुतयोक्तभक्तेस्तारतम्यमुच्यते। अम्बुवद्ग्रहणपदोक्तभक्तिरिहान्वेति। भक्तेः वृद्धि ह्रासभाक्त्वम् आधिक्यन्यूनतावत्वमस्ति। कुतः? अन्तर्भावात्। ब्रह्मादीनामस्मदादीनां च भक्तत्वेऽन्तर्भावत्। तेषां महदल्पफलत्वादिति भावः। फलतारतम्येऽपि कुतो भक्तितारतम्यम्? अत उक्तम् उभयेत्यादि। परस्येत्यस्ति। एवं भक्तितारतम्याङ्गीकार एवेशस्य उभयान् ब्रह्मादीन् अस्मदादीन् प्रति सामञ्जस्यसम्भवादित्यर्थः। अन्यथा निर्बीजं विषमफलदातुरीशस्य वैषम्यापत्तेः। फलवैषम्यानुपपत्त्या भक्तिवैषम्यमिति भावः।

फलतारतम्यं कुत इत्यत आह —

ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-2-12-344 ॥

'अथात आनन्दस्य मीमांसा' इत्यादौ फलतारतम्यदर्शनात्। चशब्दाद् 'यथा भक्तिविशेषोऽत्र' इत्यादिस्मरणाच्चेत्यर्थः। फले वैषम्येऽपि भक्तौ तत् कुतः? अन्यवैषम्यहेतुकत्वोपपत्तेरिति शङ्कां निरसितुं स्मृतिरुक्तेति ध्येयम्। फलवैषम्यश्रुतेरन्यथासिद्धिः 'अक्षरधियाम्' इत्यत्र निरसिष्यते॥12॥

प्रकताधिकरणम्॥3-2-13॥

ॐ प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॐ॥ 3-2-13-345 ॥

अत्रेशस्य जन्मादिसूत्रोक्तं विश्वपातृत्वं साध्यते। पर इत्यस्ति। विश्वपालक इति योग्यतयाऽन्वेति। परो विश्वपालकः। न स्वभावात् पालनसिद्धिः। कुतः? हि यस्मात् प्रकृतस्य 'अस्येदेषा सुमतिः' इत्यादिना प्रकृतस्य सृष्टिलयकर्तृत्वस्य एतावत्त्वं तावन्मात्रत्वं प्रतिषेधति, ततः सृष्ट्यादिकर्तृत्वाद् भूयः अधिकं पातृत्वमपि ब्रवीति 'नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति' इति श्रुतिः चशब्दात् 'सृष्टिं च पालनं चैव' इति स्मृतिश्चात इत्यर्थः। श्रुतौ उक्तार्थस्य स्पष्टत्वाय स्मृतेरित्युक्तिः॥13॥

अव्यक्ताधिकरणम्॥3-2-14॥

ॐ तदव्यक्तमाह हि ॐ ॥3-2-14-346 ॥

अत्रेशापरोक्षस्य तद्भक्तिजन्यप्रसादैकसाध्यत्वमुच्यते। तदर्थं चतुर्भिः सूत्रैस्तस्याव्यक्तत्वमुच्यते। तद् ब्रह्माव्यक्तम्। कुतः? हि यस्मात् 'अरूपमक्षरं ब्रह्म सदाऽव्यक्तं च निष्कलम्' इति श्रुतिराहाव्यक्तत्वमत इत्यर्थः। क्लीबोक्तिः श्रुत्यनुसारात्। तदाराधनाद् अव्यक्तस्याप्यापरोक्ष्यमस्तु। किं भक्त्येत्यत आह —

ॐ अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॐ ॥3-2-14-347 ॥

तदव्यक्तमित्यस्ति। भक्तिहीनाराधनेऽपि तद् ब्रह्मव्यक्तमेव। न व्यज्यते। कुतः? आराधनेऽप्यव्यक्तत्वस्येत्यन्वेति। तस्य ज्ञानिप्रत्यक्षेण सूक्ष्मत्वहेतुकानुमानेन च सिद्धत्वादिति शेषः। अज्ञापेक्षयानुमानोक्तिः। ज्ञानिप्रत्यक्षमप्यस्तीत्येतच्च 'न तमाराधयित्वाऽपि' इत्यादि स्मृत्या बोध्यम्। अव्यक्तस्यापीशस्य स्वशक्त्या ज्ञानिनं प्रति प्रत्यक्षत्वस्याग्रे व्यक्तत्वाद् अव्यक्तत्वं प्रत्यक्षमिति व्याहतिरिति न शङ्क्यम्।

अग्नेर्भूतस्य स्थूलसूक्ष्मरूपेण व्यक्तत्वाव्यक्तत्वद् ईशस्यापि मूलरूपेणाव्यक्तस्य गृहीतरूपैर्व्यक्तताऽस्त्वित्यत आह —

ॐ प्रकाशवच्चावैशेष्यम् ॐ ॥3-2-14-348 ॥

तदव्यक्तमित्यस्ति। चो नञर्थः। तद् ब्रह्म प्रकाशवच्च प्रकाशवन्न, अग्निवत् सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तम् स्थूलरूपेण व्यक्तमिति न। किन्त्वव्यक्तमेव। कुतः? अवैशेष्यं तस्य ब्रह्मणः अविशेषत्वं, यत इति योज्यं, तादृशाविशेषाभावादित्यर्थः। 'नासौ सूक्ष्मो न स्थूलः' इत्यादेः सर्वत्रैकरूपवत्वादिति भावः।

तस्य सर्वथाऽव्यक्तत्वे किं भक्त्यादिनेत्यत आह —

ॐ प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॐ ॥3-2-14-349 ॥

कर्मणीति कर्मकारकमुच्यते। न क्रिया। तदिति सप्तम्यन्ततयाऽनुवर्तते। कर्मणि कर्मकारके विषयभूते तस्मिन् ब्रह्मण्यभ्यासात्। श्रवणादेरिति योग्यतयाऽन्वेति। ब्रह्मविषयकश्रवणादेः पौनः पुण्येन प्रकाशश्च तदपरोक्षज्ञानं च भावतीत्यर्थः। द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादेरिति भावः। कर्मणीत्युक्तिरवाच्यस्य शास्त्रविषयत्वात् न श्रवणादीति न शङ्क्यम्। ईक्षतिनये वाच्यत्वोक्त्या विषयत्वसाधनादिति तन्न्यायस्मारणार्था। स्मारणं चात्राव्यक्तत्वोक्त्या अविषयत्वशङ्कोत्थानादित्युक्तं तत्त्वप्रदीपे।

कथमव्यक्तस्य साधनशतेनापि प्रकाश इत्यत आह —

ॐ अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॐ ॥3-2-14-350 ॥

प्रकाश इत्यस्ति। अत इति 'आह हि' इति, 'प्रकाशस्च' इत्यत्र चाभिप्रेतश्रुतिद्वयं परामृश्यते। अव्यक्तत्वे प्रत्यक्षत्वे च प्रमाणसत्त्वादित्यर्थः। अनन्तेनापरिच्छिन्नशक्तिकेन ईशेन, तत्प्रसादेनेति यावत्। अतोऽव्यक्तस्यापि प्रकाशो भवतीति ज्ञायत इति योज्यम्। अन्यथा श्रुतिद्वयायोगादिति भावः। बलवद्युक्त्याचैवमित्युक्तं तथाहि लिङ्गमिति। तथेति समुच्चये। हिर्हेतौ। 'तस्याभिध्यानात्' इत्यादिश्रुत्युक्तं ईशप्रसादसाध्यबन्धनिवृत्तिरूपं लिङ्गं च प्रसादहेतुप्रकाशज्ञापकं हि यस्मादस्ति तस्मादप्येतत् ज्ञायत इत्यर्थः। प्रकाशस्य प्रसादसाध्यत्वादिति भावः। तेनेति वाच्येऽनन्तेनेत्युक्तिः अव्यक्तस्य प्रसादेनापि कथं प्रकाश इति न शङ्क्यम्। तस्यानन्तशक्तित्वादिति द्योतयितुम्॥ 14॥

अहिकुण्डलाधिकरणम्॥3-2-15॥

ॐ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॐ ॥ 3-2-15-351 ॥

अत्रेशस्य गुणित्वं गुणत्वं (च) साध्यते। उभयस्य गुणित्वस्य गुणात्मकत्वस्य च 'आनन्दं ब्रह्मणः', 'एष परम आनन्दः' इत्यादौ व्यपदेशात् गुणित्वं गुणत्वं चेत्यर्थः। श्रौतमपि कथमेतत्? क्वाप्यदृष्टेरित्यत उक्तम् — अहीति। अहिश्च कुण्डलं च तयोरिव। अहिकुण्डलयोस्तादात्म्येऽपि विशेषशक्त्या कुण्डलकुण्डलिभावो यथा तथैवेति। यद्वा कर्मधारयतत्पुरुषौ अहिरूपकुण्डलम्, अहेः कुण्डलं यथा तथेति। कोऽर्थः? अह्यात्मकमपि कुण्डलं यथा तद्धर्मस्तथाऽऽनन्दादिधर्मा अपीत्यर्थः। अहिना कुण्डलस्य भेदाभेदवत्त्वेऽपि मन्दानामभेदे बुद्धिमवतारयितुमिदम्। 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति' इतिवदित्युक्तं सुधायाम्। भाष्ये च तुशब्दः श्रुत्येकगम्यत्वरूपविशेषार्थः। तेन नेशो गुणावान् तदात्मकत्वादित्यादि युक्तिविरोधो न शङ्क्यः।

दृष्टान्तान्तरेणैतदाह —

ॐ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॐ ॥ 3-2-15-352 ॥

प्रकाशेति भास्वररूपं विवक्ष्यते। प्रकाशाश्रयस्यादित्यस्य यथा प्रकाशत्वं, प्रकाशित्वं तद्वद् गुणात्मकस्येशस्य गुणित्वमित्यर्थः। अन्यद् हित्वाऽऽदित्यदृष्टान्ते को हेतुरित्यत उक्तं — तेजस्त्वादिति। तेजोरूपत्वेनान्तरङ्गत्वादित्यर्थः। आदित्यवदिति वाच्ये एवमुक्तिरभेदेऽपि विशेषशक्त्याऽऽश्रयाश्रियभावोऽस्तीति सूचनाय। अयं वा दृष्टान्त इति वाशब्दार्थः। एवमग्रेऽपि।

एतदेव दृष्टान्तान्तरेणाऽऽह —

ॐ पूर्ववद्वा ॐ ॥ 3-2-15-353 ॥

यथा कालः पूर्वेणभेदेऽपि पूर्व इति विशिष्यते, तथा गुणात्मकं ब्रह्म गुणीति विशिष्यत इत्यर्थः। दृष्टान्तत्रयमादरार्थं वा स्थूल सूक्ष्ममत्यपेक्षया आद्यतृतीये, द्वितीयमन्तरङ्गत्वादिति वा बोध्यम्।

गुणगुणिनोर्भेद एव किं न स्यादत आह —

ॐ प्रतिषेधाच्च ॐ ॥ 3-2-15-354 ॥

भेदस्येति शेषः। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुतौ किञ्चन गुण्यादि नाना भिन्नं नास्तीति गुणगुण्यादिभेदस्य प्रतिषेधाच्च न भेद इत्यर्थः॥ 15॥

परमताधिकरणम्॥ 3-2-16॥

ॐ परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॐ ॥ 3-2-16-355॥

अत्रेशगुणानां अलौकिकत्वमुच्यते। गुणजातमिति प्रकृतमन्वेति। आनन्दादिगुणजातं अतः लौकिकानन्दादेः परं विलक्षणम्। कुतः? सेतून्मानेति भावप्रधानम्। व्यपदेशपदं प्रत्येकमन्वेति। 'एष सेतुर्विद्दतिर्य एष आनन्दः' इति सेतुत्वव्यपदेशात्, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यनुमानत्वस्य पूर्णत्वस्योक्तेः, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति बिम्बप्रतिबिम्बरूपसम्बन्धोक्तेः। मात्रामित्यस्य प्रतिबिम्बांशमित्यर्थात्। 'अन्यज्ज्ञानं तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च' इति भेदोक्तेरित्यर्थः।

इतोऽप्येवमित्याह —

ॐ दर्शनात् ॐ ॥ 3-2-16-356 ॥

अत इति प्रकृतानामन्यानन्दादीनामिति विपरिणामेनान्वयः। दर्शनमुपलक्षणम्। मनोवाग्गोचरत्वादन्यानन्दादीनां एतदीयानां तदभावतः परमीशगुणजातमित्यर्थः। तस्यालौकिकत्वे श्रुत्यादावानन्दादिशब्दप्रयोगः कथमित्यत आह —

ॐ बुद्ध्यर्थः पादवत् ॐ ॥ 3-2-16-357 ॥

पादवत् पादस्येव। आनन्दादिपदप्रयोगः इति शेषः। यथा लोकपादविलक्षणेश्वपि भूतेषु 'पादोऽस्यविश्वा भूतानि' इति पादपदप्रयोगो बुद्ध्यर्थः भूतानामीशांशत्वज्ञानार्थः, ज्ञापनार्थ इति यावत्, यद्वा बुद्धीति ण्यन्तमुपेत्य बोधनार्थ इति व्याख्येयं, तथा अलौकिकेऽप्यानन्दादिपदप्रयोगो बुद्ध्यर्थः अनुकूलवेद्यत्वा—(अन्योक्तावेद्यत्वनिरासा)र्थादिज्ञापनार्थो युक्त इत्यर्थः। बुद्ध्यर्थ इत्युक्तिरानन्दादिपदप्रयोगे प्रयोजनोक्त्यर्था। साऽपि स्वर्णघटे घटपदस्येव किञ्चित्सादृश्यमात्रेण व्युत्पत्तिर्युक्तेति सूचनार्था॥16॥

स्थानविशेषाधिकरणम्॥3-2-17॥

ॐ स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॐ ॥ 3-2-17-358 ॥

अत्र ब्रह्माद्यानन्दादीनाम् ईशानन्दादिप्रतिबिम्बत्वमुच्यते। प्रकाशादिवत् सूर्यादिप्रतिबिम्ब इव। यथा सूर्यादिप्रतिबिम्बे सूर्यकान्तादिस्थानविशेषात् स्थानगुणात् अग्निजनकत्वादिवैचित्र्यं तद्वद् ब्रह्मादिस्थानगतानादिभक्त्यादिगुणविशेषात् प्रतिबिम्बवैचित्र्यसम्भवेन ब्रह्माद्यानन्दादिकं ईशानन्दादिप्रतिबिम्बमिति योज्यम्।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ उपपत्तेश्च ॐ ॥ 3-2-17-359 ॥

चः समुच्चये। न केवलं स्थानगुणेन, किन्तु बिम्बसामर्थ्याच्चेति। वैचित्र्यस्येत्यन्वेति। बिम्बभूतेशसामर्थ्याच्च ब्रह्माद्यानन्दादौ वैचित्र्यस्योपपत्तेस्तत्प्रतिबिम्बं अन्यानन्दादिकम्। जले सूर्यप्रतिबिम्बादग्निजन्मादृष्टेः, सूर्यकान्ते मुखप्रतिबिम्बात् तददृष्टेः सूत्रद्वयमर्थवत्। अदृष्टानियमादित्यत्र जीवानां विचित्रत्वाद् अविचित्रब्रह्मप्रतिबिम्बत्वं नेति चोद्यं निरस्तम्। अत्र तु प्रतिबिम्ब इव बिम्बेऽपि वैचित्र्यं स्यादिति चोद्यं विशेषयुक्त्या च निरस्यत इति भेधः॥17॥

तथान्यत्वाधिकरणम्॥3-2-18॥

ॐ तथाऽन्यत् प्रतिषेधात् ॐ ॥ 3-2-18-360 ॥

अत्रेशस्य प्रागुक्तव्यक्तत्वमेव साध्यते। तदित्यस्ति। ध्यानप्रतीतादिति शेषः। एतदर्थे अत इत्यनुवृत्तिर्वा। तद् ब्रह्म ध्यानप्रतीतात् तथा ब्रह्मानन्दादिवत् अन्यत् विलक्षणम्। न तु तदेव। येन व्यक्तं स्यादित्यर्थः। कुतः? प्रतिषेधात् 'यन्मनसा न मनुते', 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति ध्याने प्रतीतस्य ब्रह्मत्वप्रतिषेधादित्यर्थः। अन्यदित्येव पूर्तौ तथेत्युक्तिर्यथा जीवानन्दादेरल्पत्वादिहेतोस्ततोऽन्यद् ब्रह्मानन्दादि तथोपासाकृतस्यदुर्लक्षणत्वादिहेतोस्ततोऽन्यद्ब्रह्मेति प्रागुक्तन्यायसूचनार्था। तदन्वयायैव परमित्यनुवृत्तावपि अन्यदित्युक्तिः॥

सर्वगतत्वाधिकरणम्॥3-2-19॥

ॐ अनेन सर्वगतत्वमायामयशब्दादिभ्यः ॐ ॥ 3-2-19-361 ॥

अत्रेशस्यैव जगत्कर्तृत्वं साध्यते। सर्वसृष्ट्यादीति शेषः। अनेनेति सावधराणम्। अनेन प्रकृतेशेनैव सर्वसृष्ट्यादि। न देशान्तरादावन्येन। कुतः? सर्वगतत्वात्। 'एष सर्व एष सर्वगतः' इति सर्वगतत्वश्रवणात्। मायामय इति विष्णौ मायामयशब्दं व्याकुर्वच्छ्रुतिर्गृह्यते। 'सर्वत्र सर्वमेतस्मात्' इति मायामयशब्दव्याख्याश्रुतेः। आदिपदस्यान्यत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः॥19॥

फलाधिकरणम्॥3-2-20॥

ॐ फलमत उपपत्तेः ॐ ॥ 3-2-20-362 ॥

अत्रेशस्य स्वर्गादिकर्मफलदातृत्वमुच्यते। अतः प्रस्तुतादीशात् फलं, न कर्मतः। कुत? उपपत्तेः। ईशस्य चेतनत्वेन फलदानसम्भवात्। कर्मणोऽचेतनत्वेन तदयोगादित्यर्थः।

न केवलं सम्भावनामात्रमित्याह —

ॐ श्रुतत्वाच्च ॐ ॥ 3-2-20-363 ॥

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः' इति फलदातृत्वस्य श्रुतत्वाच्चातः फलमित्यर्थः।

ईशात् फलमित्येतदाक्षिपति —

ॐ धर्मं जैमिनिरत एव ॐ ॥ 3-2-20-364 ॥

फलमत इत्यस्ति। अत एवेति तन्त्रम्। अत एव 'एष ह्येव साधुकर्म कारयति' इत्यादिश्रुतेरेव, अत एवेशादेव, धर्ममिति कर्ममात्रोपलक्षणं, धर्माधर्माख्यं कर्म कारितं जैमिनिराह। अतः कर्मण एव च फलं भवतीत्याहेत्यर्थः। धर्मादिति वाच्येऽर्थविशेषलाभायैवं विन्यासः। रातिर्दातुरिति श्रुतिः पारम्पर्यपरेति भावः।

समाधत्ते —

ॐ पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात् ॐ ॥3-2-20-365 ॥

धर्ममित्यस्ति। तुर्विशेषे। हेत्विति भावप्रधानम्। पूर्वोक्तं ब्रह्म धर्मं च फलहेतुं बादरायणो मन्यते। ब्रह्म कर्तृत्वेन धर्मं करणत्वेन, न तु साम्येनेति तोरर्थः। कुतः? हेतुव्यपदेशात्। पुण्येन पुण्यं लोकं नयति इति ब्रह्मकर्मणोः कर्तृत्वकरणत्वरूपहेतुव्यपदेशादित्यर्थः।

पूर्वमित्युक्तिः कर्तृत्वोपयुक्तचेतनत्वज्ञप्त्यै। प्राधान्यसूचनायेति केचित्। सामान्यतः कर्मणः फलहेतुत्वं प्रागुक्तं तदनुमतमेवेति भावः। फलमत इत्युक्त्या कर्मणः फलहेतुत्वं नेति प्राप्तचोद्यनिरासाय तृतीयो योगः। तस्य ब्रह्मवत् प्राधान्यव्युदासायान्त्यः॥20॥

इति श्रीराघवेन्द्रयति कृतायां तन्त्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥3-2॥

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥3-3॥

अत्र पादे ज्ञानहेतुभक्तिसाध्या उपासना उच्यते।

सर्ववेदाधिकरणम्॥3-3-1॥

ॐ सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॐ ॥ 3-3-1-366॥

अत्र नये ध्यानाङ्गसर्वसच्छास्त्रश्रवणमननकर्तव्यता साध्यते। प्राक् पूर्वपदप्रकृतं ब्रह्मान्वेति। अन्तो निर्णयः। उभयोरपि दृष्टोऽन्त इत्यादेः।

सर्ववेदनामन्तेन सर्ववेदविषयश्रवणमननसाध्यनिर्णयेनोत्पाद्यः प्रत्ययो ज्ञानं यस्य तद्ब्रह्म। यथाशक्ति सर्ववेदान् श्रवणादिना निर्णीय ज्ञातव्यं ब्रह्मेति यावत्। न तु स्वस्वशाखामात्रोक्तरीत्येत्यर्थः। कुतः? चोदनाद्यविशेषात्। चोदना विधिः। सोऽत्र तद्वच्छाखापरः। चोदनासु तद्युकाण्वादिशाखासु अविशेषात् काण्वैरेवं ज्ञेयं माध्यन्दिनैरेवमिति अधिकारिविशेषाभावात्। स एव कथं ज्ञेय इत्यतोऽपिचोदनाद्यविशेषात्। चोदनानाम् आत्मेत्येवोपासीतेत्वादिविधीनाम् अविशेषात् सर्वाधिकारिसाधारण्यादित्यर्थः। अन्यता काण्वैरेवमित्यादि रूपेण विधिसमीपे श्रवणं स्यात्। तदभावाद् ज्ञायत इति भावः। आदिपदाद् युक्तिः। अधिकारिविशेषकल्पकानां ज्ञानविध्यर्थं तत्र तत्रोक्तार्थवादादिरूपयुक्तीनामविशेषादित्यर्थः। अन्तेत्युक्तिः ब्रह्मज्ञानस्य श्रवणमननसाध्यत्वं वक्तुम्। उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॐ ॥ 3-3-1-367 ॥

‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’, ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’, इत्यादिना प्रतिशाखं वस्तुभेदानैकं ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रत्ययम्। किन्तु स्वस्वशाखाप्रत्ययमेव। एकस्यैव वस्तुनोऽधिकारिणा ज्ञेयत्वादिति चेत्। नेति नञ आवृत्तिः। कुतः? एकस्यामपि। प्रकृतत्वात् शाखायामित्यन्वेति। भेदादित्यनुषङ्गः। ‘आत्मेत्येवोपासीत’, ‘कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इत्येकशाखायामप्यर्थभेदोक्तेः एकशाखोक्तमपि न ज्ञेयं स्यादित्यर्थः। तत्र धन्येनुवादेन अन्यान्यधर्मविधानाद् अस्त्वैक्यमितिस्वीकारे check सर्व शाखास्वपि तथा स्यादिति भावः।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च ॐ ॥03-368॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेनेत्यावर्तते। स्वाध्यायस्य, लक्षणया ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इति स्वाध्यायाध्ययनविधेरित्यर्थः। तथात्वे नाविशेषेण सर्वाधिकारिसाधरण्येन सर्ववेदाध्ययनविधायकत्वेन हेतुनेत्यर्थः। स्वाध्यायस्य सर्वशाखासमूहस्य तथात्वेनाविशेषेणैव उक्तेनैवाध्येतव्यत्वेनैव, ‘वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः’ इति हिशब्दसूचितस्मृतेश्च सर्ववेदान्तप्रत्ययं ब्रह्म। अध्ययनस्य ज्ञानार्थत्वादिति भावः। तथा समाचारेऽधिकाराच्च। अस्याप्यावृत्तिः। ‘सर्ववेदोक्तमार्गेण कर्म कुर्वीत’ इति स्मृत्या समाचारे सर्ववेदोक्तकर्मणः सम्यगनुष्ठाने सर्वेषामधिकाराच्च। समाचारे, चर गतौ, सर्ववेदोक्तब्रह्मज्ञाने सुतरामधिकारात् सर्ववेदान्तप्रत्ययं ब्रह्मेत्यनुवर्त्य योज्यम्। शाखाभेदस्य

प्रसिद्धत्वाद् अध्ययनविधिः विशेषनिष्ठो वाच्य इति शङ्कामपनेतुं हीति स्मृतिसूचनम्। शाखाभेदोऽशक्तिहेतुक इति भावः।

सुधायां तु, समाचारे देवानां श्रवणाद्यनुष्ठानेऽधिकाराच्चेत्यर्थः। एकैकशाखाप्रत्ययत्वे ब्रह्मणः तेषां महामतीनामद्यापि तन्न स्यात्। समाचारादित्येव वाच्येऽधिकारादित्युक्तिः देवतानयोक्तन्यायस्मारणयेत्युक्तम्।

एवं तर्हि मन्दानामध्ययनानधिकारः स्यादित्यत आह —

ॐ सलिलवच्च तन्नियमः ॐ ॥ 04-369 ॥

च एव। स चासौ नियमश्च, सर्ववेदान्तप्रत्ययं ब्रह्मत्येष नियमः, सलिलवत् सलिलानां समुद्रप्राप्तिनियम इवेत्यर्थः। 'सर्वासामपां समुद्र एकायनम्' इत्युक्तो नियमः सत्यां शक्तौ। एवमेव सर्वशाखाप्रत्ययं ब्रह्मेत्येषोऽपि तत्तत्पुंशक्तिमपेक्ष्यैवेति भावः। सलिलेत्युक्तिः 'यथा नदीनां सलिलं शक्ये सागरगं' इति श्रुतिसूचनार्था।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ दर्शयति च ॐ ॥ 05-370 ॥

'सर्वैश्च वेदैः परमे हि देवो जिज्ञास्य' इति श्रुतिर्दर्शयत्युक्तार्थं, चशब्दात् 'सर्वान् वेदान् सेतिहासान्' इति स्मृतिश्च, यतोऽतः सर्ववेदान्तप्रत्ययं ब्रह्मेत्यर्थः॥1॥

उपसंहाराधिकरणम्॥3-3-2॥

ॐ उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॐ

॥3-3-2-371॥

अत्र सार्वत्रिकगुणोपसंहारेण ईशस्य ध्यानं साध्यते। सर्ववेदेति षष्ठ्यन्ततयाऽनुवर्तते। ब्रह्मेति च। उपसंहारो युगपद् बुध्यारोपणम्। तेन तत्पूर्वकं ध्यानं गृह्यते। सर्ववेदानामर्थाभेदात् सर्ववेदोक्तार्थानां आनन्दादिगुणानां अपहतपाप्मत्वादिदोषाभावानां चाभेदादिविभागेन उपसंहारः कार्यः। अविभागेन तानुपसंहृत्य ब्रह्म ध्येयमित्यर्थः। कुतः? विधिशेषवत्। शिष्यन्त इति शेषाणि। विधिभिः शिष्टानि विधिशेषाणि कर्माणीवेत्यर्थः। यथा विहितत्वात् सन्ध्यादि कर्म कार्यं, एवं 'उपास्य एकः परतः परो यो वेदैश्च सर्वैः' इति श्रुतिविहितत्वाद् उक्तरूपं ध्यानं कार्यम्। अन्यथा प्रत्यवायादिति भावः।

उक्तस्यापवादः समाने चेति। च एव। समान एव योग्यगुण एव उक्तोपसंहारो बोध्यः। न त्वयोग्यरोदनादिविषय इत्यर्थः। उक्तं च साङ्कर्षणसूत्रे — 'अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्व विपर्ययाभ्याम्' इति। कर्मवदिति वाच्ये विधिशेषेत्युक्तिर्विहितत्वहेतुसूचनार्था। विधिशेषाणीति स्मृतिसूचनार्था च।

तत्त्वप्रदीपे तु — सर्ववेदोपास्यार्थस्य सर्वगुणात्मकस्य विष्णोरभेदादेकत्वादित्यर्थ उक्तः। विधिशेषवदित्यस्य प्रधानविधिशेषभूतानि प्रयाजादीनि यथेति वाऽर्थ इत्यर्थान्तरमप्युक्तम्।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ अन्यथात्वं च शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॐ ॥3-3-2-372॥

शब्दात् 'आत्मेत्येवोपासीत' इति शब्दादन्यथात्वं प्रागुक्तादन्यथात्वम् उपसंहाराकर्तव्यत्वम्। अवधारणेनात्मत्वादन्यगुणाध्यानप्रतीतेरिति चेन्न। अविशेषात्। एते गुणा नोपास्या इति विशेषे मानाभावादित्यर्थः। अवधारणं त्वयोगव्यवच्छेदेनानात्मत्व व्यावृत्तिपरमिति भावः। उपसंहारे तु 'सर्वैर्गुणैरेक एव' इति श्रुतिरस्तीत्याकूतम्।

न सर्वगुणोपसंहारो युक्तः। अशक्यत्वादित्यत आह —

ॐ न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॐ ॥3-3-2-373॥

उपसंहार इत्यस्ति। षोडशिग्रहणवद् वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः। न वोपसंहारः कार्यः। कुतः? प्रकरणभेदात् परोवरीयोवैश्वानरादिप्रकरणभेदात्। अन्यथा तन्न स्यादिति भावः। एकैकप्रकरणेऽपि सर्वगुणोक्तिसम्भवात् तद्भेदेऽपि स्यात् सर्वगुणोसंहार इत्यतः उक्तं परोवरीयस्त्वादिवदिति। 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' इत्यादिप्रकरणेषु परोवरीयस्त्वादिकं यता तावन्मात्रमुपास्यमुक्तं, तथा तत्तद्विधोक्तमात्रमुपास्याम्। न तूपसंहृत्येत्यर्थः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ सङ्ज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ॐ ॥3-3-2-374॥

सङ्ज्ञेति भावप्रधानम्। सर्वविद्यानामिति प्रकृतत्वादन्वेति। 'सोऽहं नामविदेव' इति श्रुत्या सर्वविद्यानां संज्ञातः संज्ञात्वतः ईशानामत्वतः तद्गुणवाचित्वात् तस्य ध्यानार्थत्वात् उपसंहारः कार्य इति चेत् तदुक्तम्। तत् उपसंहारकर्तव्यत्वं उक्तं अस्माभिः प्रागित्यर्थः। इष्टमेवैतदस्माकमिति भावः। अस्ति तु तदपि। तुरेव। 'नाम वा एता ब्रह्मणः सर्वविद्याः' इति श्रुतिरूपप्रमाणमस्त्येव। न केवलं

नामत्वयुक्तिमात्रं इत्यपेरर्थः। प्रयत्नेनोपसंहारे फलादिक्यबोधनार्थं बहुप्रमाणग्रहणार्थं च पुनः पुनः उपसंहारोपन्यास इत्युक्तं तत्त्वप्रदीपे॥ 2॥

प्राप्त्यधिकरणम्॥ 3-3-3॥

ॐ प्राप्तेश्च समञ्जसम् ॐ ॥ 3-3-3-375 ॥

अत्र प्रागुक्तोपसंहारानुपसंहारयोः पुरुषभेदेन युक्तत्वं साध्यते। प्रकृतं उपसंहारानुपसंहारकर्तव्यत्वं समञ्जसं, वक्तुं युक्तं च। न केवलं कर्तव्यत्वमिति चार्थः। कुतः? प्राप्तेः योग्यताविशेषेण तयोः प्राप्तत्वात्। व्यवस्थितत्वादित्यर्थः। योग्यताविशेषश्च यावदित्यत्र वक्ष्यते। ध्यानकाले यस्य यावद् गुणजातं स्पष्टं भाति तेन तावदुपास्यमिति भावः॥ 3॥

सर्वभेदाधिकरणम्॥ 3-3-4॥

ॐ सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॐ ॥ 3-3-4-376 ॥

अत्र बहुगुणोपसंहारस्य फलाधिक्योक्त्या कर्तव्यतैव साध्यते। फल इति शेषः। इमे उपसंहर्तृत्वेन विशिष्य प्रस्तुताः ब्रह्मादयः अन्यत्र फलेऽनुपसंहर्तृफलविलक्षणे सम्पूर्णानन्दाद्यात्मके मोक्षफले भवन्ति तद्भाजो भवन्ति। कुतः? सर्वाभेदात्, सर्वगुणानां अबेदेनोपासनादित्यर्थः। सर्वगुणयुक्तत्वेनोपासनादिति यावत्। उपसंहारालभ्यफल इति निर्देश्ये अन्यत्रेत्युक्तिः तस्यानुपसंहारालभ्यत्वसूचनाय। तेन तेनैवालमिति न शङ्क्यम्। 'इमे' इत्युक्तिः तेषां सर्वगुणोपसंहर्तृतया महत्त्वेन महाफलयोग्यतां सूचयितुम्। तेन मानाभावात् तेषां फलातिशयनिर्णय इति न शङ्क्यम्॥ 4॥

आनन्दाधिकरणम्॥ 3-3-5॥

ॐ आनन्दादयः प्रधानस्य ॐ ॥ 3-3-5-377 ॥

अत्र सर्वमुमुक्षुसाधारणगुणोपासना निर्णीयते। प्रधानस्य मोक्षस्यार्थे आनन्दज्ञाननिर्दोषत्वात्मत्वरूपाः चत्वारो गुणाः ध्येयाः। अन्यथा तन्न स्यादिति भावः। मोक्षस्येति वाच्ये प्रधानस्येत्युक्तिः 'सुखमेव मे स्याद् दुःखं मनागपि मा भूत्' इति निखिलाशास्यत्वेन प्रधाननिर्दोषसुखानुभवरूपत्वात् तस्य तदर्थं एत एवोपास्याः नान्य इति तदुपपादकं सूचयितुम्।'तं यथा यथोपासते' इत्यादेः स्वामित्वं तु तत्प्रीत्यर्थत्वादुपास्यमिति आत्मेति तूपगच्छन्ति' इत्यत्राग्रे व्यक्तम्॥ 5॥

प्रियशिरस्त्वाधिकरणम्॥3-3-6॥

ॐ प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॐ॥3-3-6-378॥

अत्रप्रियशिरस्त्वादिगुणानां सर्वोपास्यता नेत्युच्यते। प्रियशिरस्त्वादिशब्दः तदुपास्तिपरः। भेद इति निमित्तसप्तमी। प्रधानस्येत्यस्ति। 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्याद्युक्तप्रियशिरस्त्वादिगुणोपास्तिप्राप्तिः न सर्वेषाम्। कुतः? प्रधानस्य माक्षाख्यफलस्य भेदे भेदार्थं, तारतम्यार्थम्। उपचयापचयौ। प्रस्तावाद् गुणोपासनाया इत्यन्वेति। गुणोपासनाया उपचयापचयौ वृद्धिह्रासौ, तारतम्यमिति यावत्, उपेयावित्यर्थः। हिर्हेतौ। यस्मादेवं तस्मादिति। 'आनन्दस्य मीमांसा भवति' इत्यादिश्रुतिसिद्धफलभेदप्रसिद्धिद्योतको वा। भेद इत्युक्त्या 'नैव सर्वेगुणाः सर्वैरुपास्या मुक्तिभेदतः' इति स्मृतिः सूचिता। अप्राप्तिरित्युक्त्या योग्यताऽपि तावतीति सूचितम्॥6॥

इतराधिकरणम्॥3-3-7॥

ॐ इतरे त्वर्थसामान्यात् ॐ ॥ 3-3-7-379 ॥

अत्र देवादीनां बहुगुणोपासनं साध्यते। तुरेव। शेषेणान्वेति। इतरे सर्वाभेदादित्युक्तसर्वगुणेभ्यः, आनन्दादय इत्युक्तचतुर्भ्यश्च इतरे गुणाः, मद्यमगुणा इत्यर्थः। देवादिभिरुपसंहार्या एवेति शेषः। नैतच्छक्यं योग्यताऽनिर्णयादित्यत उक्तम् अर्थेति। ल्यब्लोपे पञ्चमी। स्वस्वप्राप्यफलसाम्यमपेक्ष्येत्यर्थः। प्राप्यफलानुरोधेनोपसंहार्यगुणान् प्रति योग्यतानिश्चयोपपत्तेः। भाविफलोत्कर्षज्ञेन सर्वज्ञगुरुणा तदनुसारिगुणनियमोपदेशोपपत्तेरिति भावः। गुरुनियतिः प्रदाननये व्यक्ता। अर्थादित्येव पूर्तौ सामान्यादित्युक्तिः फलोपासनयोः साम्यादिति युक्तिं सूचयितुम्॥7॥

अध्यानाधिकरणम्॥3-3-8॥

ॐ आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॐ ॥ 3-3-8-380 ॥

अत्र प्रागुक्तोपसंहारानुपसंहारयोः प्रमाणमुच्यते। संज्ञात इत्यत्र प्रकृत सर्वगुणोक्तिरन्वेति। संज्ञात इत्युक्तन्यायेन सर्ववेदादिष्वीशस्य सर्वगुणोक्तिः आ समन्तात् सर्वगुणोपसंहारपूर्वकध्यानार्था, आ सम्यगनुरूपफलजनकध्यानार्था चेत्यर्थः। कुतः? प्रयोजनाभावात्। उक्तरूपध्यानादन्यप्रयोजनाभावादित्यर्थः। सर्ववेदादेरीशनामत्वेन तद्गुणाभिधायकत्वमेवोपसंहारे मानमित्युक्तं भवति।

फलेति वाच्ये प्रयोजनेत्युक्तिः गुणोक्तिं प्रति ध्यानस्य प्रयोजकत्वसूचनाय। विधिशेषवदित्यत्र विहितत्वयुक्तेरुक्तावपि उपसंहारफलस्य मोक्षस्यान्यतः सिद्धेर्नैष्फल्येनाप्रयोजकत्वं तस्या इति शङ्काव्युदासायायं योगः। संज्ञात इति गुणोक्तेरुपसंहारार्थत्वोक्तावपि गुणानां विप्रकीर्णतयोक्तत्वात् न तस्या इदं फलमित्याशङ्क्य तादृशानाम् उपसंहृत्यध्याने फलातिशयेऽस्तीति आङा सूचयित्वा विप्रकीर्णोक्तेरन्यथासिद्धिं वक्तुं चायमिति।

उपसंहारे मानमुक्त्वाऽनुपसंहारेऽपि तदाह —

ॐ आत्मशब्दाच्च ॐ ॥ 3-3-8-381 ॥

आत्मेति भावप्रधानं सावधारणं च। आत्मत्वमात्रोपास्तिविधायकः शब्द आत्मशब्दः 'आत्मेत्येवोपासीत' इति शब्दः। तस्मात् गुणान्तरव्यावृत्तिपूर्वमात्मत्वोपास्तिविधायकशब्दात् अनुपसंहारश्च सिद्ध्यतीति चार्थः। मनोतामन्त्र इत्यादिवदात्मपदयुक्तः शब्दः आत्मशब्द इति वा विग्रहः। अन्यथात्वमित्यत्रायोगव्यावृत्त्यर्थत्वेऽभिमतेऽप्यत्र चतुर्गुणोपास्तावप्यशक्तान् प्रति प्राप्तेश्चेत्यत्रोक्तदिशा तत्तद्योग्यतानुसारेण तथा तथा प्रतितेरविरोधः॥8॥

आत्मगृहीत्यधिकरणम्॥3-3-9॥

ॐ आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॐ ॥ 3-3-9-382 ॥

अत्र प्रागुक्तचतुर्गुणोपास्तिः साध्यते। आत्मेति शब्दात् परं आनन्दादीनामिति षष्ठ्यन्तत्वेनान्वेति। आत्मना आत्मशब्देन आनन्दादीनां चतुर्गुणानां गृहीतिः ग्रहणं उक्तिरस्ति। येन प्रागुक्तदिशाऽत्मत्वमेकमेवोपास्यं स्यादित्यर्थः। कथमेकेनानेकग्रहणम्? इतरवत्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्येनेवानेकसत्यत्वाद्युक्तिस्तथेत्यर्थः। कुतः? उत्तरात्। 'अत्र ह्येते सर्व एकीभवन्ति, इत्युत्तरवाक्यादित्यर्थः। अत्र 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यन् चक्षुः श‍ृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनः' इत्यादिपूर्व वाक्योक्त गुणान् 'एते' इति परामृश्यात्रात्मत्वगुणे एकीभवन्ति अन्तर्भवन्तीत्युक्तेः। प्राणशब्दस्य च 'प्रकृष्टानन्दरूपत्वात् प्राणः' इत्युक्त्या प्राणत्वस्य आनन्दत्वात् प्रेति निर्दोषत्वलाभात्, मन इत्यादिना ज्ञानोक्तेरिति भावः। उत्तरादित्यस्य साधुत्वमुक्तं प्राक्॥9॥

अन्वयाधिकरणम्॥3-3-10॥

ॐ अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॐ ॥ 3-3-10-383 ॥

अत्रात्मशब्दादितित्युक्तानुपसंहारमानत्वं आत्मशब्दस्याक्षिप्य समाधीयते। 'आत्मशब्दे' इति सप्तम्यन्तताऽनुवर्तते। 'आप्तव्याप्तेरात्मशब्दः परमस्य' इत्युक्त्या आत्मशब्दे सर्वगुणानामन्वयात्, तस्य सर्वगुणवाचित्वादिति यावत्, अनुपसंहारमानत्वं तस्यायुक्तमिति चेत् स्यात् सर्वगुणवाचित्वमात्मशब्दस्य स्यात् अङ्गीक्रियत एव। कुतः? अवधारणात् आत्मेत्येवेत्यवधारणादित्यर्थः। अस्य विधेः ब्रह्मादिसर्वाधिकारिकत्वात् आत्मपदेन सर्वगुणानुक्तौ अवधारणेनान्यव्यावृत्युक्त्या 'गुणैः सर्वैरुपास्योऽसौ ब्रह्मणा' इत्यादिविरोधः स्यात्। अतः सर्वगुणान् ब्रह्मादीन् प्रत्यभिधत्ते। अन्यान् प्रति तु तत्तद्योग्यानेवेति ज्ञायत एवेति युक्तं प्रागुक्तमिति भावः॥10॥

कार्याख्यानाधिकरणम्॥3-3-11॥

ॐ कार्याख्यानादपूर्वम् ॐ ॥ 3-3-11-384 ॥

अत्र 'परमत' इत्युक्तालौकिकगुणानां ध्येयत्वमुच्यते। गुणजातमित्यन्वेति। 'ध्येयम्' इति च प्रस्तावात्। कार्येऽप्यपूर्वत्वमर्थादन्वेति। गुणजातं अपूर्वं अलौकिकं उपसंहृत्य ध्येयम्। कुतः? कार्याख्यानात् मोक्षाख्यापूर्वकार्यस्योक्तेः 'अलौकिकास्तस्य गुणा ह्युपास्या अलौकिकं मुक्तिकार्यं यतोऽस्य' इति श्रुतावित्यर्थः। फलानुसारिध्यानस्यैव कर्तव्यत्वादिति भावः॥11॥

समानाधिकरणम्॥3-3-12॥

ॐ समान एवं चाभेदात् ॐ ॥ 3-3-12-385 ॥

अत्र वाण्याः सर्वगुणोपसंहारेऽपि क्रियाणां न विशिष्य सः, किन्तु सामान्येनेत्युच्यते। चोऽप्यर्थे, अवधारणे च। एवं च एवमपि ईशधर्माणामपूर्वत्वेऽपि, समाने च योग्यविषय एवोपसंहारः कार्यः। न त्वयोग्ये। वाण्याश्च 'यथाशक्ति स्मृतान् धात्रा गुणान् विष्णोः सरस्वती' इत्यादिस्मृत्या सर्वगुणेषु क्रियासामान्येन च योग्यत्वं, न तु विरिञ्चवत् तद्विशेष इति भावः।

तर्हि त्रिविक्रमत्वादिध्यानं न स्यादित्यत उक्तम्। अभेदात्। नित्यविक्रान्त्यादिसामान्यक्रियास्वन्तर्भावादित्यर्थः। समान इत्युक्तिर्योग्यताफलाभ्यां सामान्यमुपसंहारस्य द्योतयितुम्। तेन वाणीवाणीशयोः स्थानैक्यगुणतारतम्याभ्यां समविषयफलत्वेन तद्धेतूपासनस्यापि गुणेषु द्वयोः साम्यं, क्रियासु सामान्यविशेषाभ्यां विषमत्वं युक्तमिति भावः।

विरिञ्चस्य त्रिविक्रमत्वादिक्रियाविशेषोपसंहारो न युक्तः। तासामनित्यत्वेन ध्यानकालेऽसत्त्वादित्यत आह —

ॐ सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॐ ॥ 3-3-12-386 ॥

सम्बन्धस्तादात्म्यम्। अन्यत्रापि त्रिविक्रमत्वादिक्रियाविषयेऽप्येवमुपसंहारः कार्यः। सम्बन्धात् ईशतादात्म्यात् तासां नित्यत्वादिति भावः। नित्यत्वादिति वाच्ये एवमुक्तिस्तत्र युक्तिसूचनाय। तादात्म्यं च 'गुणक्रियादयो भावाः स्वरूपं नान्यदिष्यते' इत्यादिवचनासिद्धम्। सम्बन्धादित्युक्तिः तादात्म्येऽपि विशेषात् क्रिया तद्वत्त्वं व्यक्त्यात्मना कादाचित्कत्वमित्यादि सूचयितुम् ॥12॥

नवाधिकरणम्॥3-3-13॥

ॐ न वा विशेषात् ॐ ॥ 3-3-13-387 ॥

अत्र 'आत्मशब्दाच्च' इत्युक्तानुपसंहारमानत्वं आत्मशब्दस्य साध्यते। आत्मगृहीतिरित्यस्ति। अन्वयादित्यतः सर्वगुणानामिति च। वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः।

न वा सर्वगुणानामात्मपदेन गृहीतिः। कुतः? विशेषात् योग्यताविशेषादित्यर्थः। आत्मपदस्य सर्वगुणोक्तिशक्तावपि अधिकारिविशेषानुरोधेन तत्तद्योग्यबोधकत्वात्। तेन यस्य यावन्तो गुणायुगपद् भान्ति तेन तावन्तो ध्येया इति नाव्यवस्थितिरिति भावः।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ दर्शयति च ॐ ॥ 3-3-13-388 ॥

'सर्वान् गुणान् आत्मशब्दो ब्रवीति ब्रह्मादीनामितरेषां न चैव' इति श्रुतिर्दर्शयति न वा सर्वेषामात्मपदेन गृहीतिरित्यर्थः। न केवलं विशेषादिति युक्त्यैषोऽर्थः सिद्ध इति चार्थः॥13॥

सम्भृत्यधिकरणम्॥3-3-14॥

ॐ सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॐ ॥ 3-3-14-389 ॥

अत्र सम्भृत्यादिगुणस्य सर्वोपास्यत्वं नेत्युच्यते। अपिः नेत्यनुषङ्गार्थः। च एव। सम्भृतिः सम्यग् भरणम्। द्युव्याप्तिः प्रकाशेन व्याप्तिः। समाहारद्वन्द्वः। 'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति (ऋ.10-32-7) 'एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा.4.15.4) इत्युक्तसम्भृतिद्युव्याप्ती न सर्वोपास्ये। किन्तु देवाद्युपास्ये। कुतः? अतश्च अत एव। प्रागुक्तयोग्यताविशेषादेवेत्यर्थः। योग्यतैवोपास्तिनियमे प्रयोजिका न फलापेक्षेति द्योतयितुमेवार्थश्च। तेन मुक्तौ स्वावरभरणप्रकाशव्याप्त्योः सर्वाशास्यत्वात् सर्वोपास्यत्वं तयोरिति न शङ्क्यम्। तत्त्वप्रदीपे तु अपिः वीर्यौदार्यादिसमुच्चायकः। अत एव द्वित्वमात्रव्यावृत्त्यर्थं

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपीत्यप्रगृह्य निर्देशः। सम्भृतिव्याप्तिवीर्यैश्वर्यादयो देवोपास्या इत्युक्तम्। तत्पक्षे न समाहारः॥14॥

पुरुषाधिकरणम्॥3-3-15॥

ॐ पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ॐ॥3-3-15-390॥

अत्र सर्वतो गुणोपसंहारः कार्य इति साध्यते। सर्वविद्योक्तमायामित्यपेरर्थः। पुरुषविद्यायां पुरुषसूक्ताख्याविद्यायां इतरेषां केषाञ्चिद् गुणानामनाम्नानात्, चशब्दात् केषाञ्चिदाम्नानात् सर्वतो गुणोपसंहारः कार्य इति योज्यम्। किमु विद्यान्तरेण सर्वानाम्नानमिति कैमुत्यसूचनार्थोऽपिशब्दः। एकत्रैव विवक्षितसर्वोक्त्यभावात् सर्वविद्यातः सर्वगुणोपसंहृतिः कार्येति भावः॥15॥

वेधाधिकरणम्॥3-3-16॥

ॐ वेधाद्यर्थभेदात् ॐ ॥ 3-3-16-391 ॥

अत्र भेदनादीशगुणस्य यत्याद्युपास्यत्वं नेत्युच्यते। नेत्यस्ति। 'तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन्', 'अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि', 'परा शृणीहि' इति श्रुतवेधादि न सर्वोपास्यम्। कुतः? अर्थभेदात् फलभेदात्। वेधाद्युपासनस्य दुष्टजनहिंसादिरूपविलक्षणफलकत्वात्। तत्र च यत्यादेरनधिकारादिति भावः॥16॥

हान्यधिकरणम्॥3-3-17॥

ॐ हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाछंदस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-17-392 ॥

अत्र मुक्तावप्युपास्त्यस्तित्वमुच्यते। तुरेव गानवदेवेत्यन्वेतीति भाष्ये भाति। उपासनमिति प्रस्तावादन्वेति। स्वेच्छयेति च दृष्टान्तबलात्। तेन वा तोरन्वयः।

हानौ बन्धहानिरुपमुक्तौ उपासनमस्ति मुक्तानाम्। तदपि स्वेच्छया। न विधितः। आद्यं कुतः? तदुक्तम्। तत् उपासनमुक्तम्। 'एतत् साम गायन्नास्ते' इत्यादौ यतोऽत इति योज्यम्। स्वेच्छयेति द्वितीयं कुतः? उपायनशब्दशेषत्वात्। उपायनं मोक्षः। मोक्षवाक्यशेषत्वात्। उपासनाविधीनामिति शेषः। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति मोक्षवाक्ये ज्ञानान्मोक्ष इत्युक्ते तत्कथं स्यादित्यत उपासनाविधिप्रवृत्तेः मोक्षसिद्ध्यर्थं प्रकृता विधयो मुक्तिविषयाः कथं स्युरिति बावः। स्वेच्छयोपास्तिः कथम्? कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्। कुशैः कुशग्रहणेनेत्यर्थः। आच्छन्देन स्वेच्छया। स्तुतिः

मन्त्रसाध्यक्रियाविशेषः। उपगानं सामसाध्यः। तद्वत् मन्त्रसामाध्यनविदित्यर्थः। नियतब्रह्मयज्ञानन्तरमपि द्विजन्मनां स्वेच्छयैव कुशधारणेन मन्त्राध्ययनं यता तथेति भावः।

हानावित्युक्तिः सर्वक्लेशबन्धत्यागो मुक्तिरिति तत्स्वरूपोक्त्यर्था। साऽपि स्वेच्छयेत्यस्योपपादनार्था। विवरिष्यते चैतत्। उपायनेत्युक्तिरपि अयनं ज्ञानं तस्य उप समीपे गमनं उपायनमिति मुक्तेर्ज्ञानसाध्यत्वोक्त्यर्था। सा च तच्छेषत्वम् उक्तदिशा व्यक्तीकर्तुम्। सामीप्यादिरूपत्वं वक्तुमेवमुक्तिरित्येके। आबन्धहानेर्विधितः, हानौ तु स्वेच्छयेति विशेषद्योतकस्तुरिति तत्त्वप्रदीपे भाति। तदुक्तमित्यस्य तत् 'स्वेच्छयोपासनं मुक्ता अपि हि कुर्वन्ति' इति स्मृतावुक्तमिति वृत्त्यन्तरं च ध्येयम्।

मुक्तौ प्राप्तानिष्टनिवृत्त्यर्था अस्तूपास्तिरित्यत आह —

ॐ साम्परायेतर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॐ ॥ 3-3-17-393 ॥

साम्पराये मोक्षे तर्तव्यस्य निरसनीयस्यानिष्टस्याभावात्। कुतः? हि यस्मादन्ये शाखिनस्तथा पठन्ति 'तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' इति तस्मादित्यर्थः।

धात्वन्तराद्वा आगमशासनस्यानित्यत्वाद्वा आर्धधातुकस्येति नेट्। तेन तर्तव्येति साधु॥ 17॥

छन्दाधिकरणम्॥ 3-3-18॥

ॐ छन्दत उभयाविरोधात् ॐ ॥ 3-3-18-394 ॥

अत्र मुक्तानां कर्मकृत्यनियमः साध्यते, 'हानौ तु' इत्यस्ति। कर्मकरणमिति शेषः। अविरोधः अभावः।

हानौ मुक्तौ तु कर्मकरणं छन्दतः स्वेच्छया। कुर्वन्ति न कुर्वन्ति चेत्यर्थः। कुतः? उभयाविरोधात्। विधिप्रत्यवाययोरभावादित्यर्थः।

स एव कुत इत्यत आह —

ॐ गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॐ ॥ 3-3-18-395 ॥

उभयाविरोध इत्यस्ति। हिर्हेतौ। हि यस्मात् उभयथा विधिप्रत्यवाययोरभावेनैव गतेः ईशप्राप्तिरूपमुक्तेः अर्थवत्त्वं पुरुषार्थत्वं, तस्मात् विधिप्रत्यवायभाव इत्यर्थः। अन्यथा तद्वत्त्वे विरोधः मोक्षत्वविरोध इत्यर्थः। संसारसमानधर्मतापत्तेरिति भावः।

उभयता खल्विति प्रसिद्ध्यर्थो वा हिशब्दः। गतेरित्युक्तिः न क्लेशहानिरूपैव मुक्तिः किन्त्वीशगतिरूपा चेति द्योतयितुम्।

उभयाविरोधः कर्मानियमे सम्भवाक एव, न तूपपादकः। ध्याने व्यभिचारादित्यत आह —

ॐ उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॐ ॥ 3-3-18-396 ॥

एवं भाव इति शेषः। कर्म कुर्वन्ति न कुर्वन्तीत्येवं भाव उपपन्नो युक्तः। कुतः? तल्लक्षणस्य तन्निमित्तकस्य कर्मसाध्यस्यार्थस्य मोक्षाख्यफलस्योपलब्धेः प्राप्तेः। लोकवत्। यथा लोके यागविधिपूर्तिफलसाधनविष्णुक्रमणादिनियमो न पूर्त्यनन्तरमपि तथेत्यर्थः।

तदर्थेत्येव पूर्ताविवमुक्तिः मुक्तौ कर्मणः परम्परया हेतुत्वमिति द्योतनाय। तद्धेतुकेत्यनुक्त्वा लक्षणेत्युक्तिरपि फलस्य स्वप्राप्त्यनन्तरं पुनः साधनानुष्ठाननियमनिवारकत्वं लक्षणमिति सूचयितुम्। प्राप्तफलत्वेऽपि नियमेनोपासनाकरणं तु मुक्तानां नित्यज्ञानस्वरूपत्वसंस्कारपाटवाख्यविशेषहेतुसत्त्वात्, अत्र तदभावादिति भावः। विष्णुक्रमणं नाम विष्णुमुद्दिश्य क्रियमाणं कर्मेत्याहुः॥ 18॥

अनियमाधिकरणम्॥3-3-19॥

ॐ अनियमः सर्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्याम् ॐ ॥ 3-3-19-397 ॥

अत्र ब्रह्मदर्शिनां मोक्षनैयत्यं साध्यते। गतेरित्यस्ति। सर्वेषां ब्रह्मदर्शिनां गतेर्मुक्तेरनियमः। केषाञ्चिदस्ति, केषाञ्चिन्नेति उपासनावत् मुक्तेर्नियमो व्यवस्था नास्ति। किन्त्वनियम एव। कुतः? अविरोधात्। 'सर्वे गुणा ब्रह्मणैव ह्युपास्या नान्यैः' इति तत्र श्रुतिविरोधवदिह तद्विरोधाभावात्। अविरोधेऽप्युक्तार्थे मानं किमित्यत उक्तं — शब्देति। 'न कश्चित् ब्रह्मवित् सृतिमनुभवति मुक्तो ह्येव भवति' इति शब्दात्, 'विमता ज्ञानिनो नियतमोक्षाः ज्ञानित्वात् सम्मतवत्' इत्यनुमानाचेत्यर्थः।

उपसंहरानुमानतौल्यनिरासाय अस्य बाधकशून्यत्वश्रुतिमूले वक्तुं पश्चादुक्तिः। बाधकाभावसाधकयोः द्वयोरप्युक्तिः ज्ञानिनामपि केषाञ्चित् जिज्ञासूनामुपसंहार इवायोग्यत्वं न शङ्क्यं, ताभ्यां तदभावनिश्चयादिति सूचयितुम्। उपसंहारवैषम्यं वक्तुमेवानियम इत्युक्तिः। अन्यथा नियम इत्यवक्ष्यत्॥ 19॥

यावदधिकरणम्॥3-3-20॥

ॐ यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॐ ॥ 3-3-20-398 ॥

अत्रोपासनायां अस्यैतावान् अस्य त्वेतावनित्यधिकारनियमः साध्यते। गतेरिति विपरिणम्य वा, हानाविति वा वर्तते।

अधिकारिकाणाम् — अधिकारो योग्यता, तदनुसार्यनुष्ठाने शीलं येषां ते अधिकारिकाः। शीलमिति सूत्रात् ठक्। तेषां ब्रह्मादीनां यावदधिकारं, यावदवधारण इत्यव्ययीभावः, अधिकारानुसारेणैव गतौ मुक्तावस्थितिः तारतम्येनावस्थानम्। न तूपासनाप्रयत्नतारतम्येन। येन प्रागधिकारनियमो न स्यादित्यर्थः। मुक्तौ सुखादितारतम्यस्य प्राक्तनयोग्यतातारतम्यैकनिबन्धनत्वात् तदभावे तन्न स्यात्। प्रयत्नतारतम्यस्यापि तदायत्तत्वात्। 'स्वाधिकाराधिको यत्नः' इत्यादिस्मृतेरिति भावः।

तदेकायत्तत्वं द्योतयितुं समासेन निर्देशः। संसारेऽपि यताधिकारमवस्थितिसत्त्वेपि मुक्तावित्युक्तिः संसारे विक्षेपवशाद् योग्यतानुसारित्वम् अवस्थितेः किञ्चिद्विहन्यते, हानौ तु नेति सूचयितुम्। आधिकारिकाणामित्युक्तिः अधिकाराधिको यत्नो न तेष्विति सूचनाय।

मुक्तौ तारतम्यमेवायुक्तम्। अन्योन्यविरोधापत्तेः। 'दर्शनाच्च' इत्युक्तानन्दतारतम्यश्रुतेः संसारिपरत्वेन मानाभावाच्चेत्यत आह—

ॐ अक्षरधियां त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ॐ

॥ 3-3-20-399 ॥

तुरप्यर्थे असमत्वेऽपीति समुच्चिनोति। गतावित्याधिकारिकाणामिति चास्ति। अक्षरधियामिति हेतुगर्भविशेषणम्।

ब्रह्मधियां ब्रह्मादीनां मुक्तानामसमत्वेऽप्यविरोधो विरोधो नास्ति। कुतः? ब्रह्मधीत्वात्। विषयलम्पटत्वाभावादिति यावत्। सामान्यतद्भावाभ्यां – सामान्यात् मत्सरादिदोषाभावसाम्यत्, तद्भावात् — तदिति तन्त्रं — तेभ्यो मात्सर्यविषयतया प्रसञ्जितेभ्यः उत्तमेभ्यः तस्य प्रकृतब्रह्मज्ञानादिलक्षणोपकारस्य भावादन्येषामवराणामित्यर्थः। कथं? औपासदवत् — सच्छिषस्य यथा गुरावविरोधस्तथेति। कतः? तत् — असमत्वेऽपि दोषाबावादिना विरोधो नेत्येतत्, उक्तं — 'नानाविधा जीवसङ्घा विमुक्तौ' इत्यादिश्रुतावित्यर्थः।

अक्षरधियो वैराग्यसाध्यत्वात्तेन विषयलम्पटत्वाभावः सूच्यते। अक्षरेत्युक्तिः 'अक्षयगुणगणधाम्नि परमान्दरूपे परमाश्चर्यरूपे यथेष्टानन्दभोजके भगवति स्थितधियां कुतोऽसमत्वेन विरोधः? इति तत्त्वप्रदीपोक्त्याऽनेकविशेषणसूचनाय। तुरेवार्थे वा। हेतुभिरन्वेति। तेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामेतेषामेवाविरोधव्याप्तत्वं न समत्वस्वेति सूचयति। लोके विरोधिष्वसमत्वस्य

विषयलम्पटत्वादेश्च दर्शनात् कथमेवमित्यतो दृष्टान्तोक्तिः। सामान्यादित्युक्तिः सर्वेषां दोषाभावं वक्तुम्। पूर्वोक्तानन्दतारतम्यश्रुतेः संसारिपरत्वशङ्कनात् तदुक्तमिति प्रमाणोक्तिः॥20॥

इयदामननाधिकरणम्॥3-3-21॥

ॐ इयदामननात् ॐ ॥ 3-3-21-400 ॥

अत्रोपासकानां प्राणवधित्वं साध्यते। अधिकारिकणामित्यस्ति। इयदिति छन्दोगश्रुतिस्थं प्राणवधित्वं परामृशति।

अधिकारिकाणाम् उपासकानाम् इयत् प्राणवधित्वमेव। न तु प्राणादधिकोऽस्ति। कुतः? 'प्राणो वाव सर्वेभ्यो भूयान् न प्राणाद्भयान्' इति श्रुतौ तथाऽऽमननादित्यर्थः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ अन्तरा भूतग्रामवदिति चेत् तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-21-401 ॥

दृष्टान्तबलात् प्राणः साधिकः अधिकारित्वादिति साध्यहेतू सम्बध्येते। अक्षरमिति विभागेनान्वेति।

यथा भूतग्रामे नामवाङ्मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नाप्तेजआकाशस्मराशाप्राणसमूहे एकस्मादेकोऽधिको दृष्टः तथा अधिकारित्वात् प्राणः अक्षरं ब्रह्म अन्तरा विना साधिकः स्यात्। ईशेन सिद्धसाधनतावारणाय अन्तरा ब्रह्मेत्युक्तम्। इति चेत्, नेत्यग्रेतनमाकृष्यते। कुतः? तदुक्तम्। तदति तन्त्रम्। तत्र प्राणादधिकाभावे, तत् प्रमाणं 'प्राणो वा' इत्युक्तं यतोऽत इत्यर्थः। तच्छन्दबाधितमनुमानमिति भावः। न च प्राणादधिकाभावे नामादिभ्योऽपि स न स्यादिति वाच्यम्। कुतः? तत् नामादिभ्यो वागादेरुत्तमत्वं, उक्तं 'वाग् वाव नाम्नो भूयसी' इत्यादीति वृत्यन्तरं तदुक्तमित्यस्य बोध्यम्।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॐ॥3-3-21-402॥

अन्यथा प्राक् पूर्वपक्ष्युक्तादन्यथा प्राणादधिकाभावे अस्यैव सर्वोत्तमत्व इत्यर्थः। भेदानुपपत्तिः। प्रस्तुतब्रह्मणा प्राणस्य भेदः श्रुत्यादिसिद्धः अयुक्तः स्यात्। द्वयोरसङ्कुचितसर्वोत्तमत्वायोगात्। सङ्कोचस्तु इयानित्यनिश्चित इति चेन्न। उपदेशवत्। यथोपदेशं सर्वेभ्यो भूयानिति सर्वशब्दसङ्कोचोपपत्तेरिति योज्यम्। अन्येभ्यः प्राणस्य ततो हरेराधिक्यस्य श्रुतावुक्तत्वादिति भावः। अन्तरेत्युक्तावपि उक्तदिशा शतोत्तरे युक्ते॥21॥

व्यतिहाराधिकरणम्॥3-3-22॥

ॐ व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॐ ॥ 3-3-22-403 ॥

अत्र प्राणादीशस्योत्तमत्वं साध्यते। प्रस्तुतं 'प्राणादुत्तमत्त्वं विष्णोः' इत्यन्वेति।

युक्तं प्राणात् सत्याख्यविष्णोरुत्तमत्वम्। तयोर्मध्ये प्रश्नप्रतिवचनयोरश्रवणेऽपि व्यतिहारोऽध्याहरः कार्यः। कुतः? हि यस्मात् इतरवत् प्रश्नादिना नामादितो वागादिकमिव। तुशब्देन प्राणात् सत्यं विशिषति व्यावर्तयन्ति छन्दोगाः 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदिति' इति प्राणवादिनः सकाशात् सत्यातिवादिनं तुना विशिषन्ति इत्यावृत्त्या योज्यम्। तेन प्राणात्सत्यान्यत्वज्ञानात् तदन्यथाऽनुपपत्त्या अध्याहारो ज्ञायत इत्यर्थः।

व्यतीत्युक्तिः विशेषेणातिक्रान्तस्य विशिष्यात्राश्रुतस्य हारः पूर्वप्रकरणादाहरणमिति वा, विशिष्यातिशयितार्थकस्य प्राणादधिकार्थकवाक्यस्याहरणमिति वा द्योतयितुमित्याहुः। कथं विशेषणस्य पूर्वप्रकरणभेदकतेत्यतो दृष्टान्तोक्तिः। नामाद्याधिक्यवाचित्वात् प्रश्नादेर्यता भेदकता तथा तोरप्याधिक्यवाचित्वादिति॥22॥

सत्याधिकरणम्॥3-3-23॥

ॐ सैव हि सत्यादयः ॐ ॥ 3-3-23-404 ॥

अत्र प्राणादिशस्वैवोत्तमत्वं साध्यते। हिर्हेतौ। प्राणाद्विष्णोरेवोत्तमत्वमित्यन्वेति। न तु बहूनाम्। कुतः? हि यस्मात् सत्यादयः सत्यविज्ञानमतिश्रद्धानिष्ठाकृतिसुखभूमाहमात्मनः प्राणादूर्ध्वमाम्नाताः सैव प्रकृतेशाख्या परदेवतैवात इत्यर्थः।

सेति कृतिनिष्ठाद्यनुरोधेन स्त्रीलिङ्गोक्तिः। स्त्रीलिङ्गानां बहुत्वात्। तेन प्रकृतिनयोक्तस्त्रीत्वं स्मारितं ध्येयम्। नामादिप्राणपर्यन्तादित्यादि स्मृतिप्रसिद्धिद्योतको वा हिशब्दः॥23॥

कामाधिकरणम्॥3-3-24॥

ॐ कामादितरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॐ ॥ 3-3-24-405 ॥

अत्र उपास्तौ श्रियोऽनधिकारः साध्यते। कामादित्यावृत्तिः। एवार्थे समुच्चये वा चः। प्राणविष्णुप्रसङ्गसन्निधापिता श्रीरन्वेति।

कामः इच्छा। कामात् कामाधीनात् कामादेव ईशेच्छानुसारिस्वेच्छयैव, न कर्मतः श्रीः तत्र ईशसमीपे मूलरूपेण स्थिता इतरत्र च भूम्यादौ अवतरतीति शेषः। कुतः? आयतनादिभ्यः। अनेन

आयतनादिबोधकश्रुतिर्गृह्यते। ‘सर्वायतना सर्वकाला सर्वेच्छा’ इति सर्वं आयतनं यस्या इत्यादिव्युत्पत्त्या सर्वगतत्वादिबोधकश्रुत्यादेरित्यर्थः।

अवतारोक्त्या जन्मादेराविर्भावादित्वेन बन्धाहेतुत्वेन अवद्धत्वात् तस्याः नोपासनाधिकारित्वमिति सूचितम्। जन्माद्येव किं नेत्यतः तत्रेत्युक्तिः। तत्र तथास्थितत्वेऽपि इन्द्रादिवत् जन्मैव स्यादित्यतः कामादेवेत्युक्तिः। तर्हि ईशवत् स्वातन्त्र्येण किम्? इत्यतः आद्या कामादित्युक्तितः। इतरत्र चेत्युक्त्यैवावतरतीति लाभात् तस्यापि सार्थक्यम्। तत्र तथास्थितैव अन्यत्रेच्छायाऽवतरतीत्येतत्सर्वगतत्वादिवाचिश्रुतिसिद्धमिति वक्तुं आयतनेत्याद्यप्यर्थवत्। अवतरतीत्युक्त्या अबद्धत्वस्य कामाधीनकामादेवेति पारतन्त्र्योक्त्या अमोचकत्वस्य च लाभेन प्राणसत्ययोर्मध्ये श्रीतत्त्वानुक्तिगतिरपि सूचिता। नामादयस्तु बद्धत्वादित्यादेः।

कथं तर्हि ‘यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रियाच’ इत्युक्तोपासना तस्या इत्यत आह —

ॐ आदरादलोपः ॐ ॥ 3-3-24-406 ॥

श्रिय इत्यनुवर्तनीयम्। श्रियो भगवदुपास्तिलोपाभावः आदरात् निरुपाधिकभक्त्यतिशयात्, न तु बद्धत्वादित्यर्थः।

कुतो हेतोस्तस्या नित्यमुक्तत्वमित्यत आह —

ॐ उपस्थितेस्तद्वचनात् ॐ ॥ 3-3-24-407 ॥

प्रस्तुतेशस्य उप समीपे स्थितेः नित्यं स्थितत्वात्। श्रियो नित्यं तत्सम्बन्धित्वेनातिशयिततत्प्रसादान्नित्यमुक्तत्वमित्यर्थः। नित्यं तदुपस्थितिः कुतः? तद्वचनात्। ‘द्वावेतावनादिनित्यौ अनादियुक्तौ’ इति नित्यसम्बन्धित्ववचनादित्यर्थः॥24॥

निर्धारणाधिकरणम्॥3-3-25॥

ॐ तन्निर्धारणार्थनियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॐ ॥3-3-25-408 ॥

अत्र श्रवणमननोपास्तीनां तिसृणामपि कर्तव्यत्वं साध्यते। हिः श्रुतिसूचकः फलमित्यावर्तते। तद्दृष्टेरित्यपि। तन्निर्धारणं तदिति वेदबोध्यत्त्वपरामर्शः। भावप्रधानं वा। इत्यादित्यादिना पूर्वप्रकृतपरापरतत्त्वपरामर्शो वा। अयमस्यार्थ इति तत्त्वनिश्चय इत्यर्थः। तेन सहितोऽर्थनियमः अयमेव वेदार्थो नान्य इति निश्चयोऽर्थनियमः श्रवणमननफलरूपं, तद् द्वयमपि, तद्दृष्टेः सेति प्रस्तुतब्रह्मणो दर्शनात् ध्यानसाध्यात् पृथक्। अतः ताभ्यां दृष्ट्यसिद्धेः दृष्ट्यर्थं ध्यानं कार्यमिति भावः।

मुक्तिहेतुदृष्टेः ध्यानादेव सिद्धो किं ताभ्यामित्यत उक्तं हीति। श्रोतव्य इति श्रुतौ दृष्ट्यर्थं त्रयस्यापि विहितत्वादित्यर्थः। विधानेऽपि कथं युक्तमित्यत उक्तं — अप्रतिबन्धः फलम्। तद्दृष्टेः सन्देहविपर्ययकृतप्रतिबन्धाभावः फलं श्रवणमननयोरित्यर्थः। साक्षाद् दृष्टिस्वरूपाजननेऽपि तत्प्रतिबन्धनिरासद्वारा तत्र व्याप्रियेते इति युक्तं तादर्थ्यम्। 'श्रुत्वा मत्वा तथा ध्यात्वा' इत्यादेरिति भावः। प्रतिबन्धः प्रतिबन्धक इति संशयादिर्वा।

तद्दृष्टेर्ह्यप्रतिबन्धः फलमित्युक्त्यैव दृष्ट्यर्थं ध्यानं अप्रतिबन्धार्थं श्रुतिमती कार्ये इति सिद्धावपि शेषोक्तिः दृष्टिस्तयोः साक्षादेव फलं स्यात्, किं ध्यानेनेति शङ्कां व्युदसितुम्। तर्हि तेनैव दृष्टिसिद्धेः किं ताभ्यामिति शङ्कां व्युदसितुं अप्रतिबन्ध इत्युक्तिः। अप्रतिबन्धस्य फलत्वकल्पकतया हीति दृष्ट्यर्थं विहितत्वाख्यहेतूक्तिः। तदुपपादकत्वेन चाप्रतिबन्धः फलमितीति सर्वमर्थवत्। श्रवणादेर्जनलोकाद्यर्थं कार्यत्वसिद्धावपि दृष्ट्यर्थं त्रितयकर्तव्यत्वमत्रोच्यत इति बोध्यम्॥25॥

प्रदानाधिकरणम्॥3-3-26॥

ॐ प्रदानवदेव हि तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-26-409 ॥

अत्रोपास्तौ प्रीतिपूर्वकगुरूपदेशाख्याङ्गमुच्यते। तदित्यावृत्तिः। तत् श्रवणादित्रयं प्रदानवदेव। दानमुपदेशः प्रीतिपूर्वकत्वरूप प्रकृष्टदानयुतमेव दृष्ट्याख्यपलवदिति योज्यम्। न श्रवणादिमात्रमित्यर्थः। कुतः? तत् ज्ञानस्य प्र(दाना) सादाधीनत्वम् उक्तं 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतावत इत्यर्थः। एवेत्युक्तिः दृष्टेः गुरुपीत्यायत्तत्वे मुक्तेरपि तथात्वापत्त्या कदाचित्तदप्रीत्या मुक्त्यभावोऽपि स्यादिति न शङ्क्यम्। किञ्चिद्वासादेः तत्राङ्गीकारात्। 'ज्ञानिनो गुरुशापेऽपि' इत्यादेरिति वा, 'श्रोतव्यः' इति श्रुतौ श्रुत्यादिमात्रोक्तावपि सेतिकर्तव्यस्य साधनत्वमनुक्तिसिद्धमिति स्पष्टमिति सूचयितुं वा। उक्तं च टीकायां — 'न हि दृढमुष्टिनिपीडनादि पृथक् साधनमुच्यत' इति॥26॥

लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्॥3-3-27॥

ॐ लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि ॐ ॥ 3-3-27-410 ॥

अत्र गुरुप्रसादस्य बलीयस्त्वमुच्यते। तत् गुरुप्रदानं (च) बलीयः श्रवणादिस्वप्रयत्नादपि ज्ञानसाधने बलिष्ठम्। कुतः? लिङ्गभूयस्त्वात् लिङ्गबाहुल्यात् बाहुल्यदर्शनादित्यर्थः। वृषभाविष्टाद् वायोः अग्रेः हंसजलवायसस्वरूपब्रह्मवरुणाभ्यां च श्रुतिविद्येनापि सत्यकामेन 'भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्' इति कृतगुरुप्रार्थना एकं लिङ्गं 'अत्र ह न कञ्चन वीयाय' इति गुरुकृतानुज्ञा च अपरं लिङ्गं, तथा

उपकोसलेनाग्निभ्यः श्रुतिविद्येनापि कृतगुरुप्रार्थना तद्गुरुकृतविद्योक्ति श्चेत्यादिलिङ्गबाहुल्यादित्यर्थः। किं तर्हि श्रवणादिनेत्यत उक्तं — तदपि। श्रवणाद्यपि कार्यमित्यर्थः।

अत्र श्रोतव्य इत्यादिश्रुतिसूचको हिशब्दः। लिङ्गबाहुल्यादिति वाच्ये प्रकर्षोक्तिः श्रवणादित्रितयादधिकलिङ्गसूचनाय। तच्च तत्त्वप्रदीपे दर्शितम्। बलवदिति वाच्ये बलीय इति प्रकर्षोक्तिः न श्रवणादितो दुर्बलं नापि तद्वद्बलवत्, किन्तु बलीय इति दौर्बल्य तत्साम्ये व्युदसितुमिति॥27॥

विकल्पाधिकरणम्॥3-3-28॥

ॐ पूर्वविकल्पःप्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॐ ॥3-3-28-411 ॥

अत्र पूर्वप्राप्तादन्योऽपि गुरुः स्वीकार्य इत्युच्यते। गुरुः प्रकृतः पूर्वेण पूर्वगृहीतेन गुरुणा पश्चात् प्राप्तगुरोर्विकल्पः। सङ्ग्राह्यो न वेति विविधकल्पः स्यात् पूर्वं त्यक्त्वा परः स्वीकार्यो न वेति। न तु ग्राह्य एवेति विधिः। कुतो ग्राह्यः? प्रकरणात्। अनुग्रहः प्रकृतः। अनुग्रहस्य प्रकर्षेण करणाद्धेतोः। क्रियामानसवत्। मानसं च सा क्रिया च, तद्वत् ध्यानवत्। कडाराः कर्मधारय इति परनिपातः। यता फलतः समयोर्ध्यानयोः विकल्पस्तथेति।

विकल्पेत्युक्त्या 'विकल्पः समयोर्भवेत्' इति, 'विकल्पः कामतो भवेत्' इति च स्मृतिः सूचिता। तेन पूर्वस्मादुत्तमश्चेत् परः सङ् ग्राह्य एव। न विकल्पः। समोऽपि पूर्वानुज्ञयैव। अधमश्चेन्न ग्राह्य एवेति सूचितम्। प्रकृष्टानुग्रहकर्तृत्व एव नान्यथेति वक्तुम्। तेन पूर्वत्यागे हेतुर्नेति निरस्तम्। पूर्णानुग्रहार्थत्वादिति। एतेन 'गुरुमन्त्रपरित्यागी रौरवं नरकं व्रजेत्' इत्यादिवचनं अधमविषयं व्यर्थविषयकं वेत्युक्तं भवति। ध्यानेति वाच्ये क्रियामानसेत्युक्तिः तत्स्वरूपोक्त्यर्था। केचित्तु पूर्वविकल्पश्च पूर्वसमश्चेदन्यस्तदा विकल्प इति द्योतनायैवमुक्तिरित्याहुः।

इतश्च समोत्तमौ ग्राह्यावित्याह —

ॐ अतिदेशाच्च ॐ ॥ 3-3-28-412 ॥

'ब्रह्मोपास्व' इति श्रुतौ पूर्वगुरुणा समोत्तमगुरुस्वीकारायातिदेशाच्च समोत्तमौ ग्राह्यावित्यर्थः॥28॥

विद्याधिकरणम्॥3-3-29॥

ॐ विद्यैव तु निर्धारणात् ॐ ॥ 3-3-29-413 ॥

अत्र ज्ञानमेव मुक्तिहेतुरित्युच्यते। मुक्तिसाधनमिति प्रकरणादन्वेति। ब्रह्मज्ञानमेव मुक्तिसाधनं, न कर्म। कुतः? निर्धारणात्। 'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इत्यन्यनिरासेन ज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुत्वनिर्धारणादित्यर्थः। 'कर्मणैव हि संसिद्धिम्' इत्यतोऽपि 'नान्यः पन्था' इत्यस्य प्राबल्यसूचकस्तु शब्दः।

विद्यैवेत्युक्तिः विद्या कर्म वा इत्यनिर्णय इति न शङ्क्यमिति द्योतयितुम्। तेन भक्तं वेत्युक्तावपि कर्मणैवेत्युक्त्या प्राप्तविशेषशङ्कानिरासार्थत्वादस्यापौनरुक्त्यं ध्येयम्। एवेत्युक्त्यैव बाद्यन्तरोक्तसर्वमुक्तिहेतूनां व्युदासे बोध्यः। स च विस्तृतोऽनुव्याख्याने।

तर्हि श्रवणेनैव मुक्तिहेतुविद्योपपत्तौ किं ध्यानेनेत्यत आह —

ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-3-29-414 ॥

तन्त्रमिदम्। ब्रह्मसाक्षात्कारादपि मुक्तिः न विद्यामात्रात्। येन ध्यानवैय्यर्थ्यमित्यर्थः। 'विद्वानमृतः' इत्युक्तेः कथमेवमिति चेत्, दर्शनाच्च दृष्ट्वैव तं मुच्यत इति श्रुतेरित्यर्थः। विशेषश्रुत्या 'विद्वान्' इत्यपि श्रुतिरेतदर्थेति भावः॥29॥

श्रुत्यधिकरणम्॥3-3-30॥

ॐ श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॐ ॥ 3-3-30-415 ॥

प्रागुक्तमेवात्राक्षिप्य साध्यते। ज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुत्वेऽपि कर्मणैवेति स्मृतिबाधो नास्ति। कुतः? श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्। तमेवमिति श्रुतिः आदिपदात् 'इन्द्रोऽश्वमेधान् शतमिष्ट्वा' इति श्रुत्युक्तं बहुकर्मकृतोऽपीन्द्रस्य दुःखामिश्रसुखरूपमोक्षार्थं तत्त्वज्ञानप्रार्थनरूपलिङ्गं, 'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्युक्त्या आद्यन्तवत्फलत्वेनावधृतकर्मणा नित्यपुमर्थो नेति युक्तिः, 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति' इति स्मृतिश्च गृह्यते। श्रुतेरनवकाशावधारणवत्त्वेन, युक्तेः श्रौतत्वादिना, स्मृतेरीशवाक्यत्वेन, युक्त्युपेतत्वेन च बलीयस्त्वादित्यर्थः।

कर्मणैवेत्युक्तिरमानं किमित्यतश्चेत्युक्तिः। आस्थिता एवेत्यन्वय इति बावः। बाध इत्युक्तिः कर्मणैवेति स्मृतेरेवकारात् ईशवाक्यत्वाच्च प्राबल्यमिति शङ्कां द्योतयितुम्। बलीयस्त्वादिति प्रकर्षोक्तिः 'तमेवं' इत्यादेः सावधारणादित्वेऽपि न कर्मणैवेति बलवत्स्मृतिसाम्यं निरवकाशत्वादिना ततोऽप्यतिशयितत्वमिति सूचयितुम्। चस्तु स्मृतिगतिसूचकः॥30॥

अनुबन्धाधिकरणम्॥3-3-31॥

ॐ अनुबन्धादिभ्यः ॐ ॥ 3-3-31-416 ॥

अत्र प्रस्तुतदर्शनस्य भक्तिसाध्यत्वं साध्यते। दर्शनमित्यस्ति। अनुबन्धो भक्तिः। 'अनुबन्धस्तु भक्तिः स्यात्' इत्युक्तेः। शमदमादिः आदिपदार्थः। श्रवणादिजन्यमपि ब्रह्मदर्शनं अनुबन्धादिभ्यो हरिगुरुभक्त्यादिभ्यो भवति न द्वेषादिनेत्यर्थः।

भक्तीति वाच्ये अनुबन्धेत्युक्तिः स्वानुसारेण बध्नाति आर्जयति हरिगुर्वादिप्रसादादिकमित्येवंरूपा भक्तिरेव न द्वेषादिरिति ज्ञापयितुम्। तेन 'द्वेषाच्चेद्यादयः' इत्युक्तिः स्वभावभक्तविषयेति सूचितम्। अत्र दृष्टेः भक्तिसाध्यत्वमुक्तम्। अम्बुवदित्यत्र मोक्षस्य भक्तिसाध्यत्वमिति भेदः। तत्त्वप्रदीपे तु प्रधानसाधनत्वज्ञापनार्थः, साधनान्तरोपसङ्ग्रहार्थश्च पुनरारम्भ इत्युक्तम्॥31॥

प्रज्ञान्तराधिकरणम्॥3-3-32॥

ॐ प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टिश्च तदुक्तम् ॐ ॥ 3-3-32-417 ॥

अत्र ब्रह्मदर्शनस्य तारतम्यं साध्यते। प्रज्ञान्तरं प्रज्ञाविशेषः, अविच्छिन्नपरोक्षज्ञानसन्तानरूपं ध्यानम्। तस्य पृथक्त्ववत् तारतम्यवत् दृष्टिश्च पृथक् नानाविधेत्यर्थः। तदुक्तं तट् दृष्टितारतम्यम् उक्तम् 'अन्तर्दृष्टयो बहिर्दृष्टयोऽवतारदृष्टयः' इत्यादिश्रुतावित्यर्थः। तथा दृष्टिपृथक्त्वेऽपि सर्वज्ञानिनां मुक्तितरित्येतत् 'दृष्ट्यैव ह्यवताराणाम्' इति स्मृतावुक्तमित्यर्थः। तेन 'दृष्ट्वेव तं' इति सम्पूर्णदृष्टावेव मोक्षः श्रुत इति न शङ्क्यम्। यथायोगं तदुपपत्तेः।

दृष्टान्तोक्तिः दृष्टिहेतुध्यानस्य भेदादिति हेतुसूचनाय। ध्यानवदिति वाच्ये एवमुक्तिः तत्स्वरूपोक्त्यर्था। तेन ज्ञानान्यमानसक्रिया ध्यानमिति वादो निरस्तः। कर्षकाणामिव साधनभेदेऽपि कदाचित् साध्यसाम्यं स्यादित्यतः 'तदुक्तम्' इत्युक्तिः। दर्शनग्रहणे वर्तमाने दृष्टिरित्युक्तिः स्पष्टार्थत्वाय वा, साध्यार्पकचशब्दान्वयाय वा। 'अन्तर्दृष्टयः इति श्रुतिविशेषसूचनाय वा इत्येके॥32॥

न सामान्याधिकरणम्॥3-3-33॥

ॐ न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॐ ॥ 3-3-33-418 ॥

अत्र बिम्बज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं साध्यते। दृष्टिप्रसङ्गसन्निधापिता मुक्तिथः ब्रह्मस्वरूपं चान्वेति। सामान्यादित्यावृत्तिः। ब्रह्मरूपाणां सामान्यात् समानत्वात् उपलब्धेः सामान्यात् साधारण्यात् किञ्चिद्रूपदृष्ट्यपि मुक्तिर्भवतीति न। किन्तु स्वबिम्बरूपदृष्ट्यैव। मृत्युवत्। यथा मृतिसामान्यात् न

मुक्तिः, किन्तु मृतिविशेषादनन्तरं तथेति। रूपान्तरदृष्टेः वैफल्यायोगात् तस्याः यत्फलं सैव मुक्तिरित्यत उक्तं न हीति। रूपान्तरदृष्टिफलभूता महरादिलोकप्राप्तिः मुक्तिर्न भवतीत्यर्थः।

तत्फलमिति वाच्ये लोकापत्तिरित्युक्तिः तत्फलमिदमिति सूचनाय। दृष्टिपदे प्रकृतेऽप्युपलब्धेरित्युक्तिः उप समीपे योग्यतया स्थितस्य रूपस्योपलब्धिरिति स्वयोग्यदृष्टेः मुक्तिरित्यपि सूचनायेत्येके। न सामान्यादुपलब्धेरित्यनेन स्वयोग्यदृष्टेरित्यपि लभ्यत इत्यन्ये॥33॥

परेणाधिकरणम्॥3-3-34॥

ॐ परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः ॐ ॥ 3-3-34-419॥

अत्र भक्तेः स्वातन्त्र्येण दृष्टिहेतुत्वं नेत्युच्यते। च एव। तुरावर्तते। प्रस्तावात् दृष्ट्यादिकमित्यन्वेति।

परेण च परमात्मनैव दृष्ट्यादिकं, न भक्त्या स्वतन्त्रया। कुतः? 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम' इति श्रुतेरिति भावः। कथं तर्हि 'भक्तिरेवैनं' इति श्रुतिरत उक्तं शब्दस्येति। 'भक्तिरेव' इति शब्दस्य ताद्विध्यं तु भक्तेः। स्वातन्त्र्येण दृष्ट्यादिहेतुत्ववाचित्वं तु तस्याः कारणत्वात् युक्तमिति शेषः। 'हन्ता रामशरः' इतिवदुपचार इति भावः। सत्स्वन्येषु भक्तेर्विशिष्योक्तिः कुतः? भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः। अनुबन्धस्तु भक्तिस्तु भूयस्त्वात् करणेषु प्रधानत्वादुक्त इत्यर्थः।

यद्वा परेणैव वाच्येन निमित्तेन शब्दस्य भक्तिरेवेति शब्दस्य ताद्विध्यं युक्तमिति वृत्त्यन्तरं एतदंशस्य बोध्यम्। सर्वशब्दानां ब्रह्मणि वृत्तेः प्रथमे सिद्धत्वात् तत्परेयं श्रुतिरिति भावः। केचित्तु शब्दस्य एतैरिति शब्दस्य ताद्विध्यं परेणैव दृष्ट्यादिकं भवतीत्येतदर्थवाचित्वमस्ति यतोऽतः परेणैव दृष्ट्यादिकमित्यापि योजयन्ति।

भक्तिरिति वाच्ये अनुबन्ध इत्युक्तिरस्य प्राधान्यघटनाय। श्रुतौ विशिष्योक्तेर्गतिसूचकस्तुशब्दः॥34॥

एकाधिकरणम्॥3-3-35॥

ॐ एक आत्मनः शरीरे भावात् ॐ ॥ 3-3-35-420 ॥

अत्र योग्यतानादित्वाय अंशांशिनोरैक्यमुच्यते। चेत्यस्ति। अंशी अंश इत्येकः। च एव। न भिन्नः। येनांशस्योत्पत्त्या योग्यतानादित्वं न स्यादिति भावः। कुतः? आत्मनोऽम्शिनः सम्बन्धिनि शरीरे अंशिकर्मार्जितशरीरे भावात्। अंशस्येति शेषो वा। एतदर्थे आत्मन इत्यावृत्तिर्वा। अर्जुनाद्यंशस्य सत्त्वादित्यर्थः। इन्द्राद्यंशिकर्मार्जिते देहे सत्त्वं ततो भेदे न युक्तमिति भावः।

ज्ञानादिभेदादंशांशिनोः भेद एव स्यादित्यत आह —

ॐ व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॐ ॥ 3-3-35-421 ॥

तुरेव। उपलब्धीत्युपलक्षणम्। ज्ञानसुखादौ व्यतिरेक इवांशांशिनोर्व्यतिरेस्तु भेद एवेति न। कुतः? तद्भावभावित्वात्। तस्यांशिनो भावेन उपासनादिना भावित्वात् अंशस्य तत्फलानुसन्धातृत्वात् अल्पे ज्ञानादावनुसन्धानाभावेऽप्यंशिगतोपासनादिफलानुसन्धानादित्यर्थः। तथा तद्भावस्यांशगतज्ञानादेः धर्मस्य भावित्वादंशिनोऽनुसन्धातृत्वादित्यर्थः॥ 35॥

अङ्गावबद्धाधिकरणम्॥ 3-3-36॥

ॐ अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॐ ॥ 3-3-36-422 ॥

अत्र ब्रह्मादिपरिवारदेवतोपास्तिः कार्येति साध्यते। तुर्विशेषे। अङ्गाबद्धाः ईशस्याङ्गतया अवबद्धाः स्थिताः ब्रह्मद्याः उपास्या इति शेषः। कुतः? वेदेषु तेषामुक्तेः फलान्तराभावेन तदनुपपत्तेरेव। आद्यानायेत्युक्तत्वादिति। तर्हि देवत्ववैष्णवत्वादिधर्माणां सर्वदेवेष्विवब्रह्माद्यसाधारणधर्माणां रुद्रादिषु रुद्रत्वादिगुणानां च ब्रह्मादिषु उपसंहार्यता स्यादित्यत उक्तं त्विति। उपसंहारे तु अस्ति विशेष इत्यर्थः। स कः? प्रतिवेदं याः शाकास्तासु उक्तं ब्रह्मादिगुणजातं रुद्रादौ नोपसंहार्यम्। उक्तमानां गुणा अवरेषु समेषु अन्योन्यस्मिन् न ध्येया इत्यर्थः। कुत एतदित्यतो हीत्युक्तम्। समत्वाद्दोत्तमत्वाद्धेति स्मृतेरित्यर्थः।

ब्रह्माद्या इति वाच्ये अङ्गेत्याद्युक्तिः तेषामुपास्तिर्न प्राधान्येन, किन्तु अङ्गत्वेनेति सूचनाय। तेन 'तमेवैकं' इति श्रुतिविरोधो नास्ति। तत्र प्राधान्येन ज्ञेयत्वनिरासादिति फलितम्। अङ्गदेवा इति वाच्ये अवबद्धा इत्युक्तिः अवमत्वाद् बद्धत्वादङ्गत्वमित्यङ्गत्वोपपादनायेत्येके। अन्ये तु — ईशाङ्गेष्ववबद्धाः स्थिता इत्येव तेषामङ्ग देवतात्वं न तु तदङ्गत्वेनैव। 'विष्णोरङ्गसमुद्भूतेः विष्णोरङ्गानि देवताः' इत्युक्तेः। यतो जनिस्तत्रैव स्थितेः अङ्गत्वमेव कुतो नेत्यतोऽवबद्धत्वादिति वक्तुमित्याहुः। वस्तुतस्तु अङ्गावबद्धा इत्यस्य नायमर्थः। भाष्यादिविरोधात्। किन्तु, अङ्गैः अङ्गदेवैरवबद्धाः सम्बद्धास्तद्विषयाः उपास्तिपरिचर्यादयः कार्या इत्येवार्थः। शाखासु इत्येव पूर्तौ प्रतिवेदमित्युक्तिः अविभक्तवेदस्यापि सत्त्वादित्युक्तं तत्त्वप्रदीपे।

अधमस्थानामुत्तमेषूपसंहारेऽपि न दोष इत्याह —

ॐ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॐ ॥ 3-3-36-423 ॥

वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः। अवरगुणानामुत्तमेषूपसंहारेऽपि अविरोधः। मन्त्रादिवत्। यथामन्त्रविद्यादेरधमपरस्य उत्तमविषयत्वेनाध्ययनं तथेत्यर्थः। 'पूर्वप्रसिद्धवर्जं तु शक्राद्या देवता मताः' इति ऋग्भाष्योक्तेः॥36॥

भूमाधिकरणम्॥3-3-37॥

ॐ भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा च दर्शयति ॐ ॥ 3-3-37-424 ॥

अत्र भूमगुणस्य सर्वोपास्यत्वमुच्यते। भूमेत्यत्र भावभवित्रोरैक्येन धर्मिपरत्वोक्तावपि इह निरतिशयपूर्णत्वरूपधर्मपरो भावप्रधानो वा भूमशब्दः। उपास्य इत्यस्ति।

भूमगुणः सर्वैरुपास्यः। कुतः? भूम्नो भूमगुणस्य ज्यायस्त्वं सर्वगुणेषु प्राधान्यं यतोऽत इति। ज्यायस्त्वं कुतः? क्रतुवत्। अनेन सर्वगुणेष्वनुस्यूतत्वेन आनन्दादिगुणोपास्तिफलहेतुत्वादिति हेतुर्लभ्यते। यथा दीक्षाप्रायणीयोदयनीयसवनत्रयावभृथात्मकः क्रतुर्विश्वजिदादिसर्वयोगेष्वनुवृत्तत्वेन तत्तद्योग्यानुष्ठानफलहेतुरिति तस्य ज्यायस्त्वं तथेत्यर्थः। इतरगुणापेक्षयाऽस्य प्रशस्ततरत्वद्योतनाय प्रकर्षप्रत्ययः। सर्वानुस्यूतत्वेनास्यैव फलहेतुत्वं कुतः? – तथा दर्शयति च।

क्रतुशब्दो दीक्षाद्यङ्गकलापविशिष्टज्योतिष्टोमवाच्यपि अत्र तदङ्गकलापपर इति गुरुपादाः। तेन कस्याचिदत्र मीमांसाविरोधप्रलापोऽपोढः। तत्त्वप्रदीपे तु – यथा सवनत्रयात्मकः क्रतुः अहीनादिषु प्रत्यहं सम्बध्यमानो विशिष्टो भवति तमन्तरेण एकस्याप्यह्नोऽननुष्ठेयत्वेन 'ध्रुवाः सत्राणाम् अहीनाः' इति सत्राणि प्रकृत्य याज्ञिकोक्तिरेवं इहापीत्युक्तम्। क्वचिद् भाष्ये तथाचेति पाठः। अत्र 'तथाहि दर्शयति' इति पाठान्तरं केचन पठन्ति॥37॥

नानाशब्दाधिकरणम्॥3-3-38॥

ॐ नाना शब्दादिभेदात् ॐ ॥ 3-3-38-425 ॥

अत्र भूमगुणस्य तारतम्येनैव सर्वोपस्यत्वमुच्यते। भूमोपास्य इत्यस्ति। सर्वगुणेषु अनुस्यूतो भूमगुणो नाना सर्वैर्यथाऽधिकारं नानाप्रकारेणोपास्यः। न तु एकरूप्येण। येन फलभेदो न स्यात्। कुतः? शब्दादिभेदात् शब्दानुमानप्रत्यक्षैर्भेदात्। भूमगुणप्रतीतेः नानाप्रकारत्वात् शब्दादिनैव तत्प्रतितेरेष्टव्यत्वात्, तैश्च यथाऽधिकारं तारतम्येन पूर्णत्वप्रतीतेः क्षणदिनपक्षमासाद्यानन्त्यतारतम्यवत् पूर्णत्वेऽपि तदुपपत्तेश्चेति भावः।

प्रत्यक्षादीति वाच्ये व्युत्क्रमोक्तिः श्रवणादिक्रममपेक्ष्येति ध्येयम्। त्रितयोक्तिः नैकेनाप्येकरूपा धीः सर्वस्य जायत इति सूचयितुमित्येके॥38॥

विकल्पाधिकरणम्॥3-3-39॥

ॐ विकल्पो विशिष्टफलत्वात् ॐ ॥ 3-3-39-426 ॥

अत्र बिम्बान्योपास्तेः विकल्पेन कर्तव्यत्वमुच्यते। सामान्योपासनस्येति शेषः। बिम्बान्यनृसिंहोपासनस्य विकल्पो विविधकल्पः, कर्तव्यं न वेति। न तु न कार्यमेवेति नियमः। कुतः? विशिष्टफलत्वात् दुरितनिवृत्तिरूपफलविशेषहेतुत्वादित्यर्थः। यस्य तदपेक्षा तेन कार्यम्, अन्येन तु नेति षोडशिग्रहणाग्रहणवद् व्यवस्थितो विकल्पः॥39॥

कामाधिकरणम्॥3-3-40॥

ॐ काम्यास्तुयथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॐ ॥ 3-3-40-427 ॥

अत्र मोक्षान्यकाम्यविद्योक्तभगवद्रूपतद्गुणोपास्तौ विशेष उच्यते। तुः प्राचीनाद्विशेषे। काम्यास्तु मोक्षान्यकाम्यसाधनेशगुणास्तु यताकामं वित्तादिकामानुसारेण समुच्चीयेरन् न वा उपसंहार्या न वा। अमुमुक्षुभिरुपसंहार्याः, मुमुक्षुभिर्नेति पुंभेदेन व्यवस्थित विकल्पार्थो वाशब्दः। मुमुक्षुबिर्नेति कुतः? पूर्वहेत्वभावात् मोक्षेच्छातः पूर्वो यो हेतुः वित्तादिकामाख्यः तदभावादित्यर्थः। यथाकाममिति समुच्चयविशेषणं सत् यस्य यद्वित्तादिकामः तस्य तत्तदनुगुणगुणा उपसंहार्या इति विशेषोक्त्यर्थम्।

यद्वा कामेति कामविशेषत्वादीशप्रसादो मोक्षान्यकामश्च गृह्यते। द्वयोर्विशेषणम्। यथाकामं ईशप्रसादमनुल्लङ्घ्य तमुद्धिश्येति यावत्, मुमुक्षुभिः समुच्चीयेरन्। यथाकामं अन्यकामानुरोधेन तमुद्धिश्य न वोपसंहार्याः। फलभेदेन मुमुक्षुष्वेव विकल्पार्थो वाशब्दः। अन्यकामायनेति कुत? पूर्वहेत्वभावात् कामाख्यहेत्वभावादित्यर्थः। यद्वा विशिष्टफलाख्यपूर्वनयोक्तहेत्वभावादित्यर्थः।

अत एव कामेति वाच्ये पूर्वेत्युक्तिः मुमुक्षादशायां अन्यकामो नास्ति, तस्य पूर्वकालीनत्वादिति कामाभावस्य पक्षधर्मतासूचनाय च। कामाभावेऽस्तु समुच्चय इत्यप्रयोजकत्वशङ्काव्युदासाय हेत्वित्युक्तिः॥40॥

अङ्गाधिकरणम्॥3-3-41॥

ॐ अङ्गेषु यथाऽऽश्रयाभावः ॐ ॥ 3-3-41-428 ॥

अत्र ब्रह्मादीनां ईशाङ्गाश्रितत्वेन देवमात्रोपास्यत्वमुच्यते। अङ्गेष्वित्युक्तेः सूर्यादिदेवतानामित्यन्वेति।

यथाऽऽश्रयबावः 'चक्षोः सूर्यः', 'तदाश्रिताश्च ते सर्वे' इत्यादावुक्तस्तथैव ईशाङ्गेषूपास्तिः कार्येति प्रकरणादन्वेति अन्यथा 'चक्षोः' इत्याद्यङ्गस्थितिश्रुतिवैय्यर्थ्यापत्तेः।

यत्र जन्म तत्रैव स्थितेरिति भावः।

इतश्चैवमित्य हि —

ॐ शिष्टेश्च ॐ ॥ 3-3-41-429 ॥

शिष्टिः शिक्षाविधिरिति यावत्। 'यस्मिन् यस्मिन् यो हि चाङ्गे निविष्टः परस्य चिन्त्यः स तथा तथैव' इति श्रुतौ विधानाच्च अङ्गेषूपास्तिः कार्येत्यनुषङ्गः। न केवलं 'चक्षोः' इत्यादिवचनान्यथानुपपत्त्येति चार्थः।

अधिकार्यभावात् न कार्येत्यत आह —

ॐ समाहारात् ॐ ॥ 3-3-41-430 ॥

अनेन तद्वचनमुपलक्ष्यते। 'अङ्गैः पराद्ये हि देवा विसृष्टास्तत्तद्गुणान् परमे संहरेत। तांश्चापि तत्रैव विचिन्त्य देवान् स्थानं मुमुक्षुः परमं व्रजेत॥' इति प्रकाशकत्वादिगुणानां तत्तद्देवानां चोपसंहारफलवचनादित्यर्थः। एतच्छ्रुतौ तथोपास्तेः परमस्थानावाप्तिफलत्वोक्तेः तस्य देवयोग्यत्वात् देवैस्तथोपास्तिः कार्या, न सर्वैरिति सिद्ध्यतीति 'आनन्दादयः' इत्युक्तविरोधो नेति भावः।

देवैरिति वाच्ये एवमुक्तिर्युक्तिसूचनाय। मधुविद्यायां तथा क्लृप्तत्वादिति।

इतश्च तथोपास्तिः कार्येत्याह —

ॐ गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॐ ॥ 3-3-41-431 ॥

गुणानामीशगुणानां साधारण्यस्य उपास्यत्वेन साम्यस्य सर्वेषां गुणानामुपास्यत्वस्येति यावत्, श्रुतेः 'साधारण्यात् सर्वगुणाः परस्य समाहार्यास्तत्त्वदृशो मुमुक्षोः' इति श्रवणाच्चेत्यर्थः। सूर्याश्रयचक्षुष्ट्वादीनामपि ईशगुणत्वादेवं उपास्तिः कार्येति भावः॥ 41 ॥

नवाधिकरणम्॥ 3-3-42॥

ॐ न वाऽतत्सहभावश्रुतेः ॐ ॥ 3-3-42-432 ॥

अत्राङ्गदेवतोपासनस्य देवान्यैरकर्तव्यत्वमुच्यते। न वाऽङ्गेषु सूर्यादीनामुपास्तिः कार्या। कुतः? अतत्सहभावश्रुतेः सर्वशाखागतोपासनेन सहभावेन सहसत्त्वेनाश्रवणादिति नञो व्यत्यासेन योज्यम्। देवान्यपेक्षया वाशब्दः।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 3-4-1-433 ॥

‘सत्यो ज्ञानः परमानन्दरूप आत्मा’ इत्यादिश्रुतौ देवैस्तथोपास्तिः कार्या नान्यैरित्यस्यार्थस्य दर्शनाच्चैवमित्यर्थः॥42॥

इति श्रीराघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां तृतीयाध्याये तृतीयः पादः॥3-3॥ श्री कृष्णार्पणमस्तु

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥3-4॥

प्रागुक्तोपासनासाध्यापरोक्षज्ञानस्य विद्यैवेत्यत्र स्वतन्त्रस्यैव मुक्तिहेतुत्वरूप सामर्थ्यसिद्धावपि इह पादे मुक्त्यन्यफलादावपि सामर्थ्यमस्तीत्युच्यते।

पुरुषार्थाधिकरणम्॥3-4-1॥

ॐ पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॐ ॥ 3-4-1-434 ॥

अत्र ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थहेतुत्वमहिमोच्यते। यदर्थं प्रागुपासना उक्ता तज्ज्ञानम् अत इति परामृशति। पुरुषैः अर्थ्यत इति पुरुषार्थ इति सर्वोऽपि पुमर्थ उच्यते।

अतो ज्ञानात् पुरुषार्थो भवति। कुतः? शब्दात् ‘यं यं लोकं’ इत्यादिशब्दादिति बादरायणो मन्यते। विमतिसूचनायैतत्पदम्।

उक्तमाक्षिपति—

ॐ शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॐ॥ 3-4-1-435 ॥

अत इत्येतद्विपरिणम्य वर्तते। अस्य ज्ञानस्य पुरुषार्थवादः ‘यं यं’ इति श्रुतौ स्वर्गादिमुक्त्यन्यपुमर्थहेतुत्ववादः शेषत्वात् तद्धेतुकर्मशेषत्वात् न साक्षात्। एवं तर्हि ज्ञानस्य प्राधान्येन श्रुतौ तद्वादः कथम्? यताऽन्येषु ‘स्वर्गं धनाद्धेहतो वै गृहाच्च प्राप्स्यन्ति’ इति श्रुतौ वित्तादिषु स्वर्गहेतुकर्मशेषेषु यथा तद्वादस्तथेति जैमिनिर्मन्यत इत्यर्थः। शेषत्वं च ज्ञानस्य कर्मार्जिते अतिशयाधायकत्वं बोध्यम्।

कुतः शेषत्वकल्पना? साक्षादेव किं नेत्यत आह —

ॐ आचारदर्शनाच्च ॐ ॥ 3-4-1-436 ॥

चो ज्ञानिनां च देवानामित्यन्वेति। आचारस्य कर्मानुष्ठानस्य ‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः’ इत्यादौ दर्शनात्। अत एषा कल्पना। अन्यथाऽऽचारवैय्यर्थ्यादित्यर्थः।

अस्त्वैतावता द्वयोर्हेतुत्वम्। स्वर्गादावङ्गाङ्गित्वं कुत इत्यत आह —

ॐ तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 3-4-1-437 ॥

तस्य कर्मप्रतिज्ञाने शेषत्वस्य 'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति श्रवणात् तच्छेषत्वमित्यर्थः। 'यं यं' इति श्रुतमपि ज्ञानप्राधान्यं यता नोपेयते तथा कर्मप्राधान्यं श्रुतमपि नोपेयतामित्यत आह —

ॐ समन्वारम्भणात् ॐ ॥ 3-4-1-438 ॥

'कर्मैव देहं दैविकं मानुषं वाऽप्यन्वारभेत्' इति श्रुत्या कर्मणैव ऐहिकामुष्मिकदेहादेः सं प्राधान्येन अन्वारम्भणात् उत्पादनोक्तेः तस्यैव प्राधान्यं न ज्ञानशेषत्वं तत्साम्यं वेत्यर्थः।

तथापि ज्ञान्याचारस्य मुक्तवत् लीलात्वेन फलाभावात् न शेषत्वसाधकं तदित्यत आह —

ॐ तद्वतो विधानात् ॐ ॥ 3-4-1-439 ॥

'ज्ञानी च कर्माणि सदोदितानि कुर्यादकामः' इति श्रुतौ तद्वतः प्रस्तुतज्ञानवतः क्रमविधानात् न लीलात्वमित्यर्थः। न हि विहितस्य लीलात्वमिति भावः।

इतश्च न लीलात्वमित्याह —

ॐ नियमाच्च ॐ ॥ 3-4-1-440 ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' इति श्रुत्या ज्ञानिनोऽपि कर्मणो नियमितत्वाच्चेत्यर्थः। अकरणे प्रत्यवायाच्च न लीलात्वमिति भावः।

एवं जैमिनिमतमुपन्यस्य स्वमतं साधयति—

ॐ अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॐ॥ 3-4-1-441॥

तुः प्राचीनाद्विशेषार्थः। एवमिति 'पुरुषार्थोऽतः' इत्युक्तपरामर्शः। बादरायणस्य एवं ज्ञानादेव सर्वपुरुषार्थो भवतीत्येवं मतं, न तु ज्ञानं कर्मशेषतया तथेति। तर्हि ज्ञान्याचारवैय्यर्थ्यं प्रागुक्तविध्याद्ययोगश्चेति न शङ्क्यम्। कुतः? अधिकोपदेशात् ज्ञानार्जिते फलेऽधिकस्य कर्माधीनातिशयस्य 'यथा यथा कर्म कुरुते तथा तथाऽधिको भवति' इत्युपदेशात्। कर्मणो ज्ञानशेषत्वोक्तेरित्यर्थः। तद्दर्शनात्। चस्यानुवृत्तिः। तस्य ज्ञानफले कर्मार्जितातिशयस्य राजसूयादिनोपलम्भाच्चेत्यर्थः।

राजसूयार्जितान् लोकानश्वमेधाभिवर्धितान्।

प्राप्नुहि त्वं महाभाग तपसश्च महाफलम्॥

इति तत्त्वप्रदीपोक्तवचनादेतदवसेयम्। शेषत्वश्रुत्या लिङ्गदर्शनेन चाचारस्य विध्यादेश्च कर्मणः शेषत्वेनोपपत्तिरिति भावः। तत्त्वप्रदीपे तु एवमित्यस्य एवं प्राग् जैमिन्युक्तश्रुतिगतेरित्यर्थ उक्तः। तुः दर्शनाच्चेति चार्थ इत्येके।

कर्मणो ज्ञानशेषत्वेऽपि ज्ञान एवातिशयार्जकत्वमस्त्वित्यत आह —

ॐ तुल्यम् तु दर्शनम् ॐ ॥ 3-4-1-442 ॥

तुरेव। ज्ञानिनां दर्शनं तुल्यं तु। कर्मणः कृतावकृतौ च सममेव पुमर्थसमर्थमेवेत्यर्थः। एतच्च 'कामकारेण चैके' इत्यग्रे व्यक्तमतो नैवमिति भावः। मोक्षेतरस्वर्गादिफले ज्ञानशेषत्वकर्मशेषत्वयोः जैमिनिव्यासमतयोः मनुष्यदेवरूपाधिकारिभेदेन वा, देवेष्वपि प्रबलकर्मप्रतिबद्धाप्रतिबद्धज्ञानिभेदेन वा अविरोधो बोध्यः।

नन्वेवं शेषत्वादिषड्सूत्र्या ज्ञानिमनुष्याणां प्रतिबन्धयुतदेवानां च मोक्षान्यपुमर्थो ज्ञानशेषिकर्मणा प्रतिबन्धहीनदेवानां तु कर्मशेषि ज्ञानेन भवतीत्यर्थस्य अधिकेत्यादियोगाभ्यामेव सिद्धेराद्यो योगः शक्योऽवक्तुम्। तदर्थस्याप्येतदर्थद्वये एव स्थाप्यत्वात्, सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वावश्यम्भावादिति चेन्मैवम्।

सामान्यतो ज्ञानस्य पुमर्थमात्रहेतुत्वसिद्धावेव केषाञ्चित् कर्मशेषत्वेन केषाञ्चित् कर्मशेषित्वेन अन्यफलहेतुत्वमिति विशेषविचारावसरात्। अन्यथा अस्यानवसरदुस्थत्वेनानुत्थानात्। उक्तं च पूर्वमीमांसायाम् — सामान्यविशेषवता लक्षणेनेत्यादि। एवमन्यत्रापि ध्येयम्॥1॥

असार्वत्रिकाधिकरणम्॥3-4-2॥

ॐ असार्वत्रिकी ॐ ॥ 3-4-2-443 ॥

अत्र ईशज्ञानं असर्वाधिकारिकमित्युच्यते। ज्ञानाधिकारितेति शेषः। असार्वत्रिकी सर्वजननिष्ठा नेत्यर्थः।

अर्थित्वादेः साम्यात् कथं नेत्यत आह —

ॐ विभागः शतवत् ॐ ॥ 3-4-2-444 ॥

नवकोटीनां देवत्वसाम्येऽपि परापरब्रह्मद्वयाधिकस्य शतस्य सोमाधिकारो नान्येषामिति विभागो यथा तथैव अर्थित्वादिसाम्येऽपि केषाञ्चिदधिकारिता अन्येषां नेति विभागः इत्यर्थः। अर्थित्वादिमात्रं न प्रयोजकमिति भावः।

इतोऽन्यत् नास्त्येव प्रयोजकमित्यत आह —

ॐ अध्ययनमात्रवतः ॐ ॥ 3-4-2-445 ॥

'अधिकारिता' इत्यस्ति। मात्रेति कार्त्स्न्यमुच्यते। यथाशक्ति कृत्स्नाध्ययनवतः अधिकारितेत्यर्थः।

तत्त्वप्रदीपे तु अध्ययनेति पलवध्ययनमुच्यते। मात्रेति साङ्गत्वरूपकार्त्स्न्योक्तिः। तेनावैष्णवकृताध्ययनस्य साङ्गत्वसफलत्वयोरभावाद् व्यावृत्तिरित्युक्तम्। साङ्गसफलवेदाध्ययनवत्त्वं प्रयोजकमिति भावः॥2॥

अविशेषाधिकरणम्॥3-4-3॥

ॐ नाविशेषात् ॐ ॥ 3-4-3-446 ॥

अत्र ज्ञानाधिकारे तारतम्यमस्तीत्युच्यते। अधिकारितेत्यस्ति। अविशेषादित्यावृत्तिः। देवादीनां यज्ञाधिकारिताऽविशेषेण न। एकरूपा न। कुतः? अविशेषात् ज्ञानस्याप्यविशेषप्रसङ्गात्। अधिकारानुसारित्वस्येत्यर्थः। ज्ञाने तारतम्यं च प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टिश्च इत्यत्र साधितमिति भावः।

यावदधिकारमित्यत्र वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति नयसिद्धेन मुक्ति तारतम्येन उपासनाधिकारितातारतम्यमुक्तम्। इह तु प्रज्ञान्तरेत्यत्र सिद्धदृष्टितारतम्येन तदधिकारविशेष उच्यत इति भेधः॥3॥

स्तुत्यधिकरणम्॥3-4-4॥

ॐ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॐ ॥ 3-4-4-447 ॥

अत्र ज्ञानिनः सदसत्प्रवृत्तौ विशेष उच्यते। नेत्यस्ति। विधिपदम् अग्रेतनं आकृष्यते। 'स ब्राह्मणः केन स्याद् येन स्यात् तेनेदृष एव' इतिश्रुतौ ज्ञानिनो यथेष्टाचरणं न विधिः। किन्तु स्तुतये ज्ञानिस्तुत्यर्थम्। यथेष्टाचारेऽपि ज्ञानी मुच्यत एवेति सामर्थ्यप्रकटनायैवोच्यते। अनुमतिर्वा ज्ञानिना क्रियमाणस्याभ्यनुज्ञानमात्रं वा। वाशब्दोऽपरोक्षिमात्रसाधारणस्तुत्यर्थेन सह देवमात्र विषयानुमतिरूपार्थभेदस्य विकल्पार्थः। सर्वथा यथेष्टाचारो न विधीयते येन सदसद्प्रवृत्त्योः विशेषो न स्यादिति भावः।

तद्ध्यसत्प्रवृत्त्या कुण्ठितशक्तेर्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं न स्यात्। स्याच्च सत्प्रवृत्तिसमुच्चितस्येत्यत आद्यं चोद्यं निराह —

ॐ कामकारेण चैके ॐ ॥ 3-4-4-448 ॥

चोऽप्यर्थे। एके शाखिनः कामकारेणच, कारश्चरणं, यथेष्टाचारेणापि ज्ञानिनो मोक्षं 'कामचाराः कामभक्षाः' इति श्रुतौ पठन्ति यतोऽतो बाधकाभावादस्ति ज्ञानिनः सदसत्प्रवृत्तौ विशेष इति भावः। द्वितीयचोद्यं 'अत एव चाग्नीन्धन' इत्यत्र निरसिष्यते।

कैमुत्येनाप्येतमर्थमाह—

ॐ उपमर्दं च ॐ ॥ 3-4-4-449 ॥

एक इत्यस्ति। ज्ञानं प्रकृतम्। चोऽप्यर्थः सन् कर्मसमुच्चये। अनिवर्त्यतया प्राप्तस्यारब्धकर्मणोऽपि किञ्चिद्भुक्तस्य ज्ञानेनोपमर्दं फलह्रासमेके 'ओमित्युच्चार्यान्तरिममात्मानमभिपश्योपमृद्य पुण्यं च पापं च' इति पठन्ति। किमुत्तरकालीनं विकर्म न मुक्तिप्रतिबन्धकमिति वाच्यमित्यर्थः।

यद्येवं जिज्ञासूनामपि विकर्माचारेऽप्यपरोक्षाधिकारः स्यादित्यत आह —

ॐ ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॐ ॥ 3-4-4-450 ॥

चः साध्यसमुच्चयेऽवधारणे वा। ज्ञानिवत् जिज्ञासूनामपि तथेति न। कुतः? हि यस्मादूर्ध्वरेतःसु च, उपलक्षणं, ऊर्ध्वरेतस्त्वादिगुणयुक्तेष्वेव 'य इमं परमं गुह्यमूर्ध्वरेतः सु भाषयेत्' इत्यादिशब्दे ज्ञानोपदेशविधिरस्तीति शेषः, अत इत्यर्थः। परोक्षपूर्वकत्वादपरोक्षस्येति भावः।

प्राधान्यात् स्वशब्देनोर्ध्वरेतस्त्वोक्तिः। 'ऊर्ध्वरेतःसु भाषयेत्' इति श्रुतिविशेषद्योतनाय वा।

'केन स्यात्' इति श्रुतेः स्तुत्याद्यर्थत्वमुक्तम्। सदाचारनियमाचरणरूपं अर्थान्तरं चाऽह—

ॐ परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॐ ॥ 3-4-4-451 ॥

जैमिनिः 'केन स्यात्' इति श्रुतेः 'प्रातरुत्थाय' इत्यादिश्रुत्यन्तरोक्तसदाचारपरामर्शं ब्रूते। किमुक्तं भवति। श्रुत्यन्तरविहितसदाचारेष्वेव विधिबन्धेन विना स्वेच्छयाऽनियमेन वर्तेत। न तु कामचारविधिः स्तुत्यादिर्वेत्युक्तं भवति। सदसद्विषया कुतो नेति न शङ्क्यम्। हि यस्मात् अचोदना निषिद्धं ज्ञानिना कार्यमिति विधिर्नास्ति। 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यपवदति च श्रुतिः। अतो विध्यभावात् निषेधसत्त्वाच्च कल्पकाभावादिति। चः समुच्चये। सामान्यनिषेधस्य ज्ञानिष्वपि प्रवृत्तेरिति भावः।

प्रागुक्तं स्तुत्याद्यर्थत्वमेवास्याः साधयति —

ॐ अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॐ ॥ 3-4-4-452 ॥

बादरायणोऽनुष्ठेयं कामचारश्रुतेरर्थं ब्रूते। किमुक्तं भवति। अनुष्ठेयमध्य एव स्वेच्छया केषाञ्चिदनुष्ठानं केषाञ्चिन्नेत्यनुष्ठेये कामचारानुमितिरेव न तु कामचारविधिः। प्रागुक्तं नियमेन कर्तव्यत्वं नेत्युक्तं भवति। कुतः? साम्यश्रुतेः केनापि प्रकारेण प्रवृत्तावपि ईदृश एवेति साम्योक्तेः। 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इति स्मृतेरप्युपलक्षणम्। विहिताकरणप्राप्तासाम्यशङ्कानिरासार्थत्वात् तस्याः। नियमेन सर्वाचरणपक्षे कदाचिदसाम्यप्रसक्त्यभावेन सर्वाचरणेन सम्भावितसाम्यज्ञापनार्थतैव स्यात्। ततोऽपि प्राप्तसाम्यनिरासार्थत्वस्य वरत्वादिति भावः।

एवमर्थद्वयमुक्त्वा स्वेच्छाचरणविध्यर्थं चाऽऽह—

ॐ विधिर्वा धारणवत् ॐ ॥ 3-4-4-453 ॥

'केन स्यात्' इति ज्ञानिनो यथेष्टाचारविधिः। वाशब्दोऽधिकारिभेदेन प्रागुक्तेन व्यवस्थितविकल्पार्थः। तर्ह्यज्ञस्याप्येवं स्यादत उक्तं धारणेति। यथा वेदधारणं त्रैवर्णिकानामेव विहितं तथा कामचारोऽपि ज्ञानिनामेवेत्यर्थः।

विधिर्वेत्युक्तम् आक्षिप्याऽऽह —

ॐ स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॐ॥3-4-4-454 ॥

ज्ञानिभिरपि 'सन्ध्यामुपासीत' इत्यादिसामान्यविधिस्वीकारात् 'केन स्यात्' इति श्रुतिः प्रागुक्तस्तुतिमात्रम्। न विधिः। विधित्वे तदुपादानायोगादिति चेन्न। कुतः? अपूर्वत्वात्। तत्त्वप्रदीपदिशापूर्वमनादिब्रह्म। ज्ञानिनः अब्रह्मत्वात् ब्रह्माधीनत्वादिति यावत्। अः ब्रह्म पूर्वं नेतृ यस्य तस्य भावस्तस्मादित्यर्थ इत्येके। एतदुक्तं भवति। 'केन स्यात्' इत्यस्याविधित्वेन स्तुतित्वे ज्ञानिनां सर्वविध्यातिदूरत्वेन स्तुतिमात्रविषयत्वं स्यात्। तच्चायुक्तम्। सर्वविध्यतिदूरत्वस्य ब्रह्मलक्षणत्वात्। ज्ञानिनश्च ब्रह्मवशतया अब्रह्मत्वादिति।

न केवलं ज्ञानिनोऽपूर्वत्वात् सर्वविध्यतिदूरत्वभयात् 'केन स्यात्' इति श्रुतिः स्वेच्छाचारविधिः, स्पष्टप्रमाणाच्चेत्याह —

ॐ भावशब्दाच्च ॐ ॥ 3-4-4-455 ॥

'यथाविधानमपरे विधिर्भावे प्रजापतेः' इति श्रुतौ इच्छाऽपरपर्यायभावशब्दाच्च स्वेच्छाचारविधिरित्यनुषङ्गः। पूर्वसूत्रे स्वेच्छाचारविधेरर्थसिद्धत्वात् चशब्दः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॐ ॥ 3-4-4-456 ॥

'केन स्यात्' इत्यादिश्रुतयः पारिप्लवार्थाः चञ्चलार्था अव्यवस्थितार्थाः स्युः। नियमेन सर्वधर्माचरणं तन्मध्य एव कामचारेणाचरणं यथेष्टाचारविधिरित्युक्तार्थत्रयस्य विरुद्धत्वादिति चेन्न। विशेषितत्वात्। 'त्रेधा ह ज्ञानिनः' इत्यादिश्रुत्या ज्ञानिनामनेकप्रकारत्वादित्यर्थः।

तथश्च किमित्यत आह —

ॐ तथा चैकवाक्योपबन्धात् ॐ ॥ 3-4-4-457 ॥

एकवाक्येति भावप्रधानम्। तथा च ज्ञानिनां त्रैविध्ये सति 'केन स्यात्' इत्यस्य त्र्यर्थत्वानुगुणानां 'प्रातरुत्थाय' इति, 'यत्स्त्वात्मरतिः' इति, 'यथाविधानं' इति च वाक्यानामेकवाक्यत्वेन ज्ञानिभेदमाश्रित्याविरोधेन उपबन्धात्। तथा च तेषामविरोधे सति 'केन स्यात्' इति वाक्यस्यापि एकवाक्यत्वोपबन्धात् अपारिप्लवार्थोपबन्धात् ज्ञानिभेदेन स्थिरार्थत्वयोगादित्यर्थः। जैमिनिमतं ज्ञानिमानुषविषयं व्यासमतं देवताविषयं विधिर्वेति मतं विरिञ्चिविषयमिति भावः।

एवं ज्ञानिनां सदसत्प्रवृत्ताविशेषो नेत्युक्तम्। तत्र स्याच्च सत्प्रवृत्तिसमुच्चितस्य ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वमिति प्रा तं चोद्यं निराह —

ॐ अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॐ ॥ 3-4-4-458 ॥

अग्नेरिन्धनं दीपनं यस्मिन् तदग्निहोत्रम्। अत एव 'कामचाराः कामभक्षाः' इति श्रुतौ कामचारेऽपि मोक्षनैय्यत्यस्य उक्तत्वादेव, ज्ञानस्य मोक्षार्जने अग्निहोत्राद्याश्रमवर्णधर्मापेक्षा नास्तीत्यर्थः। चशब्दो ज्ञानिनः सदसत्प्रवृत्तिभ्यां विशेषसत्त्वेऽपीति वा, 'येषां ज्ञानं समुत्पन्नं तेषां मोक्षे विनिश्चितः। शुभकर्मभिराधिक्यं विपरीतैर्विपर्ययः' इत्यादिस्मृतिं वा समुच्चिनोति। तेन ताभ्यां ज्ञानिनः कथं विशेष इति निरस्तम्।

सत्प्रवृत्तेः मुक्तावेवोपयोगोऽस्तु। किमाधिक्य इत्यत आह —

ॐ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॐ ॥ 3-4-4-459 ॥

ज्ञानं प्रकृतम्। सर्वधर्मापेक्षा च ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेव न मोक्षार्थम्। कुतः? यज्ञादिश्रुतेः 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादिश्रुतेः। उभयार्थं कुतो नेत्यत उक्तम् — अश्ववत्। गतौ निवृत्तायां तत्साधनाश्वादेर्यथाऽनपेक्षा तथा ज्ञानार्थकर्मणां ज्ञाने निवृत्ते तत्फलार्थमपेक्षा नेत्यर्थः।

एवं तर्हि न ताभ्यां विशेषः। ज्ञानादेव मुक्तावाधिक्यसिद्धेरित्यत आह —

ॐ शमदमाद्युपेतः स्यात् तथाऽपितु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॐ ॥ 3-4-4-460 ॥

तथापि ज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुत्वेऽपि ज्ञानी शमदमादिसत्प्रवृत्त्युपेतः स्यात्। कुतः? तद्विधेः 'आचार्याद्विद्यामवाप्यैतमात्मानमभिपश्यशान्तो भवेद्दान्तो भवेत्' इति तस्य शमदमाद्यपेतत्वस्य ज्ञानिनो विधानात्। किमर्थोऽयं विधिरित्यत उक्तं तदित्यादि। तदङ्गतया प्रस्तुतज्ञानाङ्गतया ज्ञानप्रतिष्ठापकतया तेषां शमदमादीनामवश्यानुष्ठेयत्वादित्यर्थः। 'तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा' इत्यादिश्रुतेरिति भावः।

प्रतिष्ठयाऽपि किं फलमित्यतः सम्पूर्णफलार्थकत्वद्योतकः तुरुक्तः। ज्ञानादेव मुक्तिसिद्धौ स्वयोग्यपूर्णफलावाप्त्यै शमाद्यावश्यकम्। 'यस्य ज्ञानं तस्य मोक्षः' इति स्मृतेरिति।

कथं तर्हि निषिद्धान्नभोजनेऽपि ज्ञानिनो 'यदि वा अप्येवं विन्निखिलं भक्षयीतैवमेव स भवति' इति ह्रासाभावोक्तिरित्यत आह —

ॐ सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॐ ॥ 3-4-4-461 ॥

चस्त्वर्थः सन् श्रुतेर्विषयद्योतकः। 'यदि हवा इति श्रुतौ सर्वान्नानुमतिश्च ज्ञानिनः प्राणात्ययविषया। यदि ज्ञानी प्राणात्ययकाले निषिद्धमपि भुञ्जीत तदा न तेन तस्य विशेष इति। कुतः? तद्दर्शनात्। तस्य प्राणात्यये यथालब्धादनस्य दर्शनात् वाक्यशेष इत्यर्थः। 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानम्' इति उच्छिष्टमित्युदकत्यागेन कुल्मषाभक्षणे जीवनं न स्यादिति तद्भक्षणं दृश्यत इति लिङ्गदर्शनादेव ज्ञायत इत्यर्थः।

किञ्च ज्ञानिनः सदसत्प्रवृत्तौ विशेषो नेत्येतत् किं निषिद्धस्याकृतौ बाधकसत्त्वाद्वा कृतौ प्रमाणसत्त्वाद्वा निषेधकमानाभावाद्वा कृतौ बाधकाभावाद्वा? नाद्य इत्याह —

ॐ अबाधाच्च ॐ ॥ 3-4-4-462 ॥

किञ्चेति चार्थः। अन्याय्यानाचरणे ज्ञाने बाधकाभावात् नैवं कल्पनीयमित्यर्थः। न द्वितीयः। असिद्धेरिति भावः।

न तृतीय इत्याह —

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ॥ 3-4-4-463 ॥

सद्धर्मात्यागः 'अतीतानागतज्ञानी' इति स्मर्यतेऽपीत्यर्थः। निषेधकस्मृतिसत्त्वान्नायं कल्प इति भावः।

न स्मृतिमात्रं श्रुतिश्चास्तीत्याह —

ॐ शब्दश्चातोऽकामचारे ॐ॥ 3-4-4-464 ॥

अकामचारे 'एवं पश्यन्न कामचरितं चरेत्' इति शब्दश्चास्ति यतोऽतो न तृतीयः कल्प इत्यर्थः।

तुरीयं प्रत्याह अत इति। 'तथापि तु' इत्यत्र तुशब्दार्थप्रतियोगितया सन्निहितं परामृश्यते।अल्पफलत्वाच्च न बाधकाभावकल्पो युक्त इत्यर्थः। निषिद्धकृतौ फलह्रासापत्तेरिति भावः।

अस्तु बाधकान्निषिद्धाकृतिः। कर्मकृतिस्तु कुतः? ह्रासहेतोरसत्त्वे ज्ञानादेव पूर्णपलसिद्धेरत आह —

ॐ विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॐ ॥ 3-4-4-465 ॥

अपिर्वर्णधर्मसमुच्चये। 'पश्यन्नपीममात्मानं कुर्यात् कर्म' इति श्रुतौ विहितत्वात् आश्रमाद्युचितकर्म कार्यं च। न केवलं निषिद्धं न कार्यमिति चार्थः।

विहितत्वेऽपि प्रागुक्तदिशा फलाभावान्न कार्यम्। अन्यथा समुच्चयवादापत्तेरित्यत आह —

ॐ सहकारित्वेन च ॐ ॥ 3-4-4-466 ॥

मोक्षहेतुज्ञानसहकारित्वेनापि कर्म कार्यं, न विहितत्वादेवेति चार्थः। विनाऽपि कर्म ज्ञानादेव मोक्षस्वरूपसिद्धौ सम्पूर्णतत्सिद्ध्यर्थं कर्म सहकारितयाऽपेक्ष्यत इति विशेषद्योतकतुशब्दार्थो वा चशब्दः। तेन समुच्चयवादो व्यावर्तितः। 'ज्ञानान्मोक्षो भवत्येव' इति स्मृतिसमुच्चायक इत्येके॥ 4॥

उभयलिङ्गाधिकरणम्॥ 3-4-5॥

ॐ सर्वथाऽपितु त एवोभयलिङ्गात् ॐ ॥ 3-4-5-467 ॥

अत्र ज्ञानस्याधिकारिमात्रप्राप्यत्वं साध्यते। उभशब्दपर्यायोऽत्रोभयशब्दः। सर्वथाऽपि देशकालगुरूपसत्तिश्रवणाद्यनेकोत्साहेपि त एव प्रस्तुतयोग्या एव ज्ञानं प्राप्नुवन्तीति शेषः। न

त्वयोग्याः। प्रत्युत विपरीतज्ञानमाप्नुवन्तीति तोरर्थस्तत्त्वाप्रदीपोक्तः। कुतः उभयलिङ्गात्। योग्यायोग्ययोर्ज्ञानप्राप्त्यप्राप्तिरूपोभयलिङ्गदर्शनादित्यर्थः। इन्द्रविरोचनयोः 'य एषोऽन्तरीक्षणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच' इति प्रजापतिनोपदिष्टयोर्ज्ञानप्राप्त्यप्राप्त्योः श्रुतौ दर्शनादिति भावः।

यद्वा, उभयत्र अयोग्येन उत्साहेनापि ज्ञानं नाप्यते, प्रत्युत विपरीतमाप्यत इत्युभयत्र लिङ्गदर्शनात् विरोचनस्य ज्ञानानाप्तिविपरीतावाप्तिदर्शनरूपलिङ्गादित्यर्थः। सर्वथाऽपीत्युक्तिः 'असार्वत्रिकी' इति नयसिद्धानधिकारेऽपि प्रयत्नेन ज्ञानं तैराप्यतामिति शङ्काव्युदासाय।

महायत्नेनायोग्यताभिभवसम्भवात् अयोग्यानामपि ज्ञानावाप्तिरस्तु। गाधिजस्य विप्रत्वावाप्तिवदित्यत आह —

ॐ अनभिभवं च दर्शयति ॐ ॥ 3-4-5-468 ॥

स्वभावस्येति शेषः। 'दैवीमेव सम्पत्ति देवा अभिगच्छन्त्यासुरीमेव चासुरा नैवैतयोरभिभवः कदाचित् स्वभाव एव ह्यवतिष्ठते' इति श्रुतिः स्वभावस्यानभिभवं दर्शयति। अयोग्यता च स्वभाव इति कथं तदभिभव इति चार्थः। क्षत्रियत्वादिकं त्वस्वाभाविकमिति भावः।

नीचोच्चानां तदभावेऽपि मद्यमानां स्वभावाभिभवेन ज्ञानाप्तिरस्त्वित्यत आह —

ॐ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॐ ॥ 3-4-5-469 ॥

अपिः मिश्रबुद्धीनामिति समुच्चिनोति। स्वभावानभिभव इत्यस्ति। 'सर्वथाऽपि तु' इत्यत्र प्रस्तुतसम्यग्ज्ञानविपरीतज्ञानयोरिहान्वयः। च एव। सम्यग्ज्ञानासम्यग्ज्ञाने अन्तरा च तयोर्मध्य एव स्थितिरिति शेषः। केषाम्? तद्वद्वयोग्यदेवासुरान्येषां मानवानामिति यावत्।

यद्वा, अनभिभावकर्षः। अन्तर स्थितानामिति शेषः। सम्यग्ज्ञानविपरीतज्ञानयोर्मध्ये स्थितानां मानवानामिति यावत्, अनभिभव एव मिश्रबुद्धित्वमेव न केवलं ज्ञानादिप्राप्तिरित्यर्थः। मिश्रबुद्धीनामपि स्वभावाभिभवो नास्ति। कुतः? तद्दृष्टेः। तदिति तन्त्रम्। तुर्विशेषे। तेषां तत्र मिश्रबुद्धित्वे एव तस्य दार्ढ्यस्य विशेषेण दृष्टेरित्यर्थः।

देवासुरमनुष्याणामेवं स्वभावत्वं कुतः? तथात्वे फलस्यापि तदनुगुणत्वापत्तेरित्यत आह —

ॐ अपि स्मर्यते ॐ ॥ 3-4-5-470 ॥

'असुरा आसुरेण' इति स्मृत्या तादृक्स्वभावत्वं तदनुगुणफलमिति तद्वयं स्मर्यतेऽपीत्यर्थः।

इतश्च देवानामेव सम्यग्ज्ञानतत्फले, नान्येषामित्याह —

ॐ विशेषानुग्रहं च ॐ ॥ 3-4-5-471 ॥

देवेष्वीशस्य विशेषानुग्रहं च 'शृण्वे वीर उग्रमुग्रम्' इति श्रुतिर्दर्शयतीत्यस्ति। अतश्च तद्धेतुज्ञानमपि तेषामेवेत्यर्थः।

दैत्यानां स्वभावाभिभवो नेत्येतद् युक्त्याऽऽह—

ॐ अतस्त्वितरज्यायोलिङ्गाच्च ॐ ॥ 3-4-5-472 ॥

अत इति विशेषेति प्रस्तुतदेवभागस्य परामर्शः। तुरेव। अग्रेऽन्वेति। अतो देवभागादितरदसुरजातमेव ज्यायः अतिबहुलमस्ति यतोऽतः स्वभावानभिभव इत्यनुषङ्गः। अन्यथा देवभागदूनता स्यादिति भावः। ज्यायस्त्वमेव कुतः? लिङ्गात्, 'तस्मान्नजनतामियात्' इति जनसङ्घाप्रवेशोक्त्यन्यथानुपपत्तिरूपलिङ्गात्। 'कनीयसा एव देवा ज्यायसा आसुराः' इति श्रुतेश्चेति चार्थः।

जैमिनिमतेनाप्येषोऽर्थः सिद्ध इत्याह —

ॐ तद्भूतस्य तु तद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॐ ॥ 3-4-5-473 ॥

तदिति प्रस्तुतदेवादित्रयपरामर्शः। तुरेव। भू प्राप्तौ। तद्भूतस्य तत्त्वं देवादित्वं प्राप्तस्यैव देवादेस्तद्भावो देवादिभावः जैमिनेरपि सिद्धः। न व्यासस्यैवेत्यपेरर्थः। तेन पुरुषार्थनय इव व्यवस्थितविकल्पो नेति सूचयति। कुतः? नियमातद्रूपाभावेभ्यः। एतेन नियमादिश्रुतिर्लक्ष्यते। तद्रूपं प्राग्विद्यमानस्वभावः। तन्नेत्यतद्रूपम्। भावप्रधानम्। अभावः अभूतिः। भूतेरप्युपलक्षणम्। 'नासुरा दैवीम्' इति नियमश्रुतेः। 'नासुराणां दैवं रूपं' इत्यतद्रूपत्वश्रुतेः। 'तं भूतिरिति देवा उपासाञ्चक्रिरे ते बभूवुः', 'अभूतिरित्यसुरास्ते पराबभूवुः' इति देवासुरभूत्यभूतिश्रुतेरित्यर्थः॥5॥

अधिकारिकाधिकरणम्॥3-4-6॥

ॐ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॐ॥3-4-6-4॥

अत्र ज्ञानस्य देवादिपदानाकाङ्क्षिभिरेव प्राप्यत्वं साध्यते। चशब्दो ज्ञाने प्रागुक्तोर्ध्वरेतस्त्वादीतिकर्तव्यतातो देवादिपदानाकाङ्क्षित्वाख्येतिकर्तव्यतान्तरसूचकः। अपिः कैमुत्यसूचनार्थम्।

यस्य यस्मिन् पदेऽधिकारः श्रुत्यादिसिद्धः तद् ब्रह्मादिदेवपदम् आधिकारिकं तदपि ज्ञानार्थिना नाकाङ्क्ष्यं किम्वैशमैयं नाकाङ्क्ष्यमिति। कुतः? तदयोगात्। तदाकाङ्क्षाया अयोगादित्यर्थः। तदयोगः कुतः? पतनानुमानात्। अयोग्यमारोढुं यतमानस्य लोके पतनोपलम्भेन इहापि ब्रह्मादिपदाकाङ्क्षावान् पतति। अयोग्यारोहप्रयत्नवत्त्वादिति भावः। विमतो देवादिभिः पात्यते, अशक्यतत्पदेच्छुत्वात् राजपदेच्छुवदिति वा पतनानुमानादित्यर्थः। आद्ये इच्छाया यत्नविशेषत्वोपगमान्नासिद्धिः।

देवपदमिति वाच्ये आधिकारिकमित्युक्तिः तत्तदधिकारिभिः प्राप्यं तदन्यैर्नाकाङ्क्ष्यमिति सूचयितुम्। 'तेन योग्यानामपि तत्तदाकाङ्क्षावतां ज्ञानानवाप्तिः अनुमानबाधादिदोषश्च स्यादिति शङ्कानवकाशः।

कैमुत्येनापि देवपदाकाङ्क्षायोगमाह—

ॐ उपपूर्वमपीत्येके भावशमनवत् तदुक्तम् ॐ॥3-4-6-475 ॥

नाकाङ्क्ष्यमित्यस्ति। आधिकारिकमित्युक्तिलब्धं देवपदमित्येतदिहाप्यन्वेति। उपेति शब्दः पूर्वो यस्य तदुपपूर्वं देवपदम् उपदेवपदमित्यर्थः। उपशब्दोऽयं समीपवर्तिवाची। सङ्ख्याव्ययासन्नेत्यत्र मञ्जर्यां समीपसमीपिरूपद्व्यर्थत्वोक्तेः।

देवानामुपवर्तिनः उपदेवाः गन्धर्वादयस्तेषां पदमपि भावशमनवत् भावशमनपदवत् नाकाङ्क्ष्यमित्येके वदन्ति, किमु देवपदं नाकाङ्क्ष्यमित्यपेरर्थः। दृष्टान्तीभूतं ऋष्यादिपदं दार्ष्टान्तिकं गन्धर्वादिपदं च कुतो नाकाङ्क्ष्यम्? तदुक्तं तद्द्वयं नाकाङ्क्ष्यमित्येतदुक्तं 'यथर्षीन् प्रजापतीन् नाकाङ्क्षेदेवं न गन्धर्वान्' इति श्रुताविद्यर्थः।

गन्धर्वानिति वा गन्धर्वादिपदमिति वा वाच्ये उपेत्याद्युक्तिः तत्समीपवर्तिनामपि पदं नाकाङ्क्ष्यं किमु तेषामित्यपिपदसूचितकैमुत्यव्यक्त्यर्था। ऋषिवदिति वाच्ये भावेत्याद्युक्तिः 'भावे चित्ते चेष्टायां च शमनाद् भावशमना ऋषयः' इति तत्त्वप्रदीपोक्त्या ऋषिस्वरूपोक्त्यर्था। तेन ऋषित्वजातेरभावाद् वसिष्ठादिः स्याम्' इतीच्छाया अयोगेऽपि 'ऋषिः स्याम्' इति सामान्येच्छा न विरुद्धेति सूचितमिति केचित्। अत एव देवादिपदेभ्यो मुन्यादिपदाकाङ्क्षायां विशेषसूचनायैक इत्युक्तिः। एके विशेषविवक्षवः। ऋषिपदं यथानाकाङ्क्ष्यं तथैतदपीत्याहुरित्युक्त्या ऋषिसामान्यविवक्षवस्त्वाकाङ्क्ष्यमित्याहुरिति लाभात्। उपदेवादिपदं तु सर्वथाऽनाकाङ्क्ष्यमिति। विमतिसाम्येऽपि मुनिपदस्य दृष्टान्तत्वं श्रुत्यनुसारात्।

तर्हि ज्ञानभक्त्यादिकमप्याकाङ्क्ष्यं न वेत्यत आह —

ॐ बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॐ ॥ 3-4-6-476 ॥

तुर्विशेषद्योतकः। बहिस्तु देवर्षिगन्धर्वपदेभ्यो बहिर्भूतज्ञानभक्त्यादिष्वस्ति विशेषः। स कः? उभयथाऽपि आकाङ्क्षायामनाकाङ्क्षायामपि न पतनम्। कुतः? 'देवर्षिगन्धर्वाणाम्' इति स्मृतेः। आचारादित्याचारवाक्यं गृह्यते। 'नानात्वमेव कामानां नाकामः क्व च दृष्यते। अतोऽविरुद्धकामः स्यादकामस्तेन भण्यते।' इत्यविरुद्धकामेनाचाराप्रतिपादकवाक्याच्चेत्यर्थः। अनेन वाक्येन 'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति' इति गीतोक्ताकामचारस्याविरुद्धकामचारप्रतिपादनादिति भावः।

विहायेति वाक्ये सर्वकामग्रहणोक्तेः कथं भक्त्यादिकाम इत्यत आचाराच्चेत्युक्तिः। चः स्मृतिसमुच्चायक इति भाष्यादौ भाति। तत्त्वप्रदीपे तु चकारात् 'ऋषभं मा समानानां' इति श्रुतेश्चेत्युक्तम्॥6॥

फलश्रुत्यधिकरणम्॥3-4-7॥

ॐ स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॐ ॥ 3-4-7-477 ॥

अत्र ज्ञानस्यास्वामिनोऽपि सन्निधानमात्रेण फलदातृत्वं साध्यते। स्वामिन इत्येकवचनं समुदायपरम्।

स्वामिनां देवानामेव ज्ञानफलमिति फलपदस्य बुद्ध्याऽत्राप्यन्वयः। कुतः? फलश्रुतेः। स्वामिन इत्यन्वेति। 'स्वामी हि फलमश्नुते नास्वामी' इति स्वामिनः फलश्रवणादित्यात्रेयो मन्यत इत्यर्थः। स्वामिनः फलश्रुतेरिति हेतूक्त्या स्वामिनामेव फलमिति साध्यस्य शेषो वा।

देवानामिति वाच्ये स्वामीत्युक्तिः तेषामेवेन्द्रियादिप्रेरकत्वेनज्ञानस्वामित्वादिति हेतुसूचनाय। श्रुत्यनुरोधेनैकवचनोक्तिः। विमतिसूचनाय मुनिपदम्।

प्रजानामपि फलमस्तीत्याह —

ॐ आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ॐ ॥ 3-4-7-478 ॥

ऋत्विजामिदमार्त्विजम्। लुप्तोपमानम्। सत्रे ऋत्विजां फलमिव प्रजानामपि ज्ञानादिफलमस्तीत्यन्वेति। इत्यौडुलोमिर्मन्यते। कुतः? तस्मै हि परिक्रियते। तादर्थ्ये चतुर्थी। तस्मै प्रजार्थं देवैर्ज्ञानादि परिक्रियते सम्पाद्यते हि यस्मादत इति। हिर्हेतौ वा, यदर्थं यद् येन क्रियते तत्फलं तस्येति लोकप्रसिद्धमिति प्रसिद्धिद्योतको वा।

आर्त्विज्यमित्युक्तिः सत्रे अयजमानानां तत्त्वप्रदीपदिशा गृहपतीनामपि यथा फलं तथा अस्वामित्वेऽपि प्रजानां फलमिति सूचयति। ऋत्विजामगृहीतदक्षिणत्वेन कर्तृत्वादस्तु फलम्। इह कथमित्यतः तस्मा इत्याद्युक्तिः।

एवं हि प्रजानामेव फलं स्यात्, न देवानामित्यत आह —

ॐ सहकार्यन्तरविधिःपक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॐ ॥ 3-4-7-479 ॥

सहकार्यन्तरेति पक्षेणेति च भावप्रधानम्। प्रजानां सहकार्यन्तरत्वेन देवान् प्रति सहकारित्वेन विधानं पक्षेण पक्षत्वेन तृतीयं तृतीयः पक्षः। कथम्? तद्वतो विध्यादिवत्। तद्वतः तदिति प्रस्तुतप्रजास्तद्विशेषाः शिष्याश्चोच्यन्ते। प्रजावतो राज्ञः शिष्यवतो गुरोश्च विध्यादिवत्। आदिपदात् फलम्। सहकार्यन्तरेति बुद्ध्याऽनुषङ्गः। यथा प्रजाशिष्याणां राजगुरुसहकारित्वेन विधानफलं च तयोरेव मुख्यं तद्वदित्यर्थः। यथा राज्ञो गुरोश्च पालने व्याख्याने च प्रजानां शिष्याणां च सहकारित्वेऽपि तयोरेव मुख्यं पालनादिफलं तेषां त्वल्पं तथा देवानां विहिते ज्ञानदानादौ प्रजानां सहकारीकरणात् देवानां मुख्यं फलं प्रजानामल्पमिति भावः।

अन्तरशब्दः अनुग्राह्यत्वरूपविशेषपरः तत्सहकारीकरणं च देवानां तेष्वनुग्रहायेति सूचयति। यद्वा, आचार्यः सहकारी, प्रजास्तु सहकार्यन्तरमिति द्योतयितुम् अन्तरेत्युक्तिः।

देवानामेव फलम् इति श्रुत्योक्तमाद्यं मतं पूर्णफलापेक्षया। प्रजानां फलमिति युक्त्योक्तं द्वितीयं मतम् अल्पफलापेक्षया। आचार्यप्रवेशेन प्रवक्तृत्वं प्रजासु स्थित्वा तदिन्द्रियप्रवर्तनेन ज्ञापनमिति द्वयं देवानं फलाधिक्ये मुख्यं कारणम्। प्रजानां सहकारिमात्रत्वादल्पमिति प्रागुक्तद्वयमुपपादयितुमिदं स्वमतत्वेनोररीकृतमित्यविरोधः। एतच्च पुण्यविषयम्। प्रजाकृतपापफलं तु देवानां नैवास्ति, किन्त्वसुराणामेवेति ध्येयम्॥ 7॥

कृत्स्नभावाधिकरणम्॥3-4-8॥

ॐ कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ॐ ॥ 3-4-8-480 ॥

अत्र ज्ञाने विशेषाधिकारिणां यतीनां सर्वातिशयः साध्यते। देवानामिति प्रकृतत्वादन्वेति। यतीनामेवज्ञानाधिकारिणां सर्वाश्रमिषूत्तमत्वमिति साध्यमभिमतम्।

'कुटुम्बी शुचौ देशे' इत्यादिना गृहिणां मोक्षमुक्त्वा 'न च पुनरावर्तते' इति गृहिणोपसंहारस्तु देवानां कृत्स्नभावात् कृत्स्नानां गृहधर्माणाम् सत्त्वात् तत्परो न तु मनुष्यगृहस्थपरः। येन तद्बलेन गृहिणो यतेरप्युत्तमत्वमाशङ्क्येतेत्यर्थः। एवं हि यतिनो देवनामुत्तमत्वं कथमित्यतोऽपि कृत्स्नभावादिति। देवानां कृत्स्नयतिधर्माणां भावादित्यर्थः। गृहिभ्यो यतीनां तेभ्योऽपि देवानामुत्तमत्वमित्याशयः।

कृत्स्नेत्युक्त्या 'कृत्स्ना ह्येते गृहिणो देवाः' इति श्रुतिः सूचिता। देवपर इत्येव वाच्ये कृत्स्नभावादित्युक्तिः तेषां मुख्यगृहित्वेन तत्परत्वोपपादनाय, गृहिणो यतेस्ततोऽपि

देवानामाधिक्यलाभाय च। तुः उपसंहारस्य गतिसूचको वा एवार्थः सन् अध्याहृतदेवपर इत्यनेनान्वेति वा। उपसंहार इत्युक्तिर्मुक्तौ गृहस्थस्याधिक्ये तात्पर्यमस्तीति पूर्वपक्षदार्ढ्यसूचनाय।

कैमुत्येनापि यतीतो देवानामाधिक्यमाह —

ॐ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॐ ॥ 3-4-8-481 ॥

मुनेर्भावो मौनं यतित्वम्। तद्वदितराश्रमधर्माणामपि 'देवा एव ब्रह्मचारिणो देवा एव गृहस्था देव एव वनस्था यथा ह्येते मुनयः' इति श्रुतावुपदेशादित्यर्थः। यदा आश्रमद्वयकर्मित्वेनैव यतितो देवानामाधिक्यं किमु तदा सर्वाश्रमकर्मित्वेनेति भावः॥7॥

अन्वयाधिकरणम्॥3-4-9॥

ॐ अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॐ ॥ 3-4-9-482 ॥

अत्रापरोक्षज्ञानसङ्गतपरोज्ञानस्यातिगोप्यत्वं साध्यते। अनाविष्कुर्वन् सभाचत्वरादिष्वाविष्कारमकुर्वन्, उपदेशमित्यनुवर्त्य, कुर्यादिति शेषः। कुतः? अन्वयात् उपपत्तेरित्यर्थः। आविष्कारे अयोग्यानामपि ज्ञानप्राप्त्याऽनर्थप्राप्तिरुपयुक्तेरित्यर्थः। अन्वयादित्युक्तिः अन्वीयते साध्येन सम्बध्यत इति युक्तेर्व्याप्तिमत्त्वं वक्तुमिति॥9॥

ऐहिकाधिकरणम्॥3-4-10॥

ॐ ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॐ ॥ 3-4-10-483 ॥

अत्र ज्ञानस्य प्रतिबन्धाभावे साधनसम्पूर्तिजन्मन्येवोदयः साध्यते। इह जन्मनि भवमैहिकम्। ज्ञानमित्यस्ति। अप्रस्तुत प्रतिबन्धे प्रारब्धप्रतिबन्धाभावे ज्ञानमैहिकं इह जन्मन्येव भवति। न चेज्जन्मातर इत्यर्थः। कुतः? तद्दर्शनात्। 'श्रुत्वाऽऽत्मानं मतिपूर्वंह्युपास्येहैव दृष्टिं' इति श्रुतौ उक्तार्थस्य दर्शनादित्यर्थः॥10॥

मुक्तिफलाधिकरणम्॥3-4-11॥

ॐ एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॐ ॥ 3-4-11-484 ॥

अत्र ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिजन्मानन्तरमेवाप्रतिबन्धे मुक्त्यार्जकत्वं साध्यते। एवं ज्ञान इव मुक्तिफले अनियमः अप्रतिबन्धे तद्देहानन्तरमेव न चेद् देहान्तरावसाने इत्येव। न तु ज्ञानोत्पत्तिजन्मानन्तरमेवेति नियम इत्यर्थः। ज्ञानोत्पत्तिजन्मनि मुक्त्यभावे कदाऽपि नेति कुतो न

कल्प्यते, प्रतिबन्धकल्पना कुतः? तदवस्थावधृतेः। तस्मिन् ब्रह्मण्यवस्थास्थितिर्यस्य तस्य ब्रह्मसंस्थस्य मुक्तिफलावधारणात् 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेत्येव' इति श्रुतावित्यर्थः।

मुक्त्यनियम इत्येव पूर्तौ फलेत्युक्तिः सर्वपुमर्थानां ज्ञानफलत्वोक्तावपि तेषामानुषङ्गिकत्वं, मुक्तेरेव साक्षात् फलत्वमिति सूचयितुमिति तत्त्वप्रदीपोक्तं ध्येयम्। द्विरुक्तिरुक्तस्य सर्वस्य प्रामाणिकत्वसूचनार्था।

'सर्वप्रमाणसिद्धत्वं वक्तुमाध्यायमूलतः।

अध्यायान्ते द्विरुक्तिः स्यात् पूर्वोक्तंस्यावधारणात्॥' इत्युक्तेः॥11॥

इति श्रीमद्राघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः। तृतीयाध्यायः सम्पूर्णः ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

अथ चतुर्थाध्यायः॥4॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥4-1॥

आवृत्त्यधिकरणम्॥4-1-1॥

एवमथ ब्रह्मजिज्ञासापादार्थान् निरूप्यात्राध्यायेऽतःशब्दोक्तं कर्मक्षयोत्क्रान्तिमार्गभोगात्मकमोक्षस्वरूपं निरूप्यते। आद्यपादे प्राथम्यात् कर्मक्षयाख्यं प्राधान्येन विचार्यते। तत्र सप्तभिर्नयैः अत्यन्तावश्यम्भावि साधनं विचार्यते।

ॐ आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॐ ॥ 4-1-1-485 ॥

अत्र श्रवणादेरावृत्तिः कार्येति साध्यते। ज्ञानार्थं श्रवणादेरावृत्तिः कार्येति शेषः। कुतः? 'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्युद्दालकेन श्वेतकेतुं प्रति असकृत् अनेकवारं तत्त्वोपदेशादित्यर्थः। शिष्येण श्रवणाद्यावृत्तेरकर्तव्यत्वे असकृदुपदेशो व्यर्थः स्यादिति भावः।

श्रवणावृत्तिकर्तव्यत्वमनेन सिद्धम्। त्रितयकर्तव्यत्वं च साधयति —

ॐ लिङ्गाच्च ॐ ॥ 4-1-1-486 ॥

'स तपोऽतप्यत। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार' इत्यादिना ताद्दृ भृगोः श्रवणादेरावर्तनरूपलिङ्गाच्च श्रवणादीनामावृत्तिः कार्येत्यर्थः॥1॥

आत्माधिकरणम्॥4-1-2॥

ॐ आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॐ ॥ 4-1-2-487 ॥

अत्रात्मत्वोपास्तेः नित्यशः कर्तव्यत्वं साध्यते। आत्मशब्दस्याऽऽवृत्तिः आद्यो रूढ्या विष्णुपरः। अन्त्य आदत्ते भृत्याननितिस्वामिवाची। आङ्पूर्वादाञ आतो मनिन्निति मनिन्-प्रत्यये दस्य तत्वे आतो लोपे चैवंरूपत्वात्। 'यच्चाप्नोति यदादत्ते' इति निरुक्तेः। तुरेव।

आत्मा विष्णुरात्मा मम स्वामीत्येवोपगच्छन्ति उपासते जानन्ति च सन्तः। ग्राहयन्ति च शिष्यान् शिष्येभ्य उपदिशन्ति यतोऽतो विष्णुर्मे स्वामीति सदोपास्तिः सर्वथा कार्येत्यर्थः।

विष्णुरात्मेत्यर्थलाभायस्वामीत्यनुक्तिः। 'आत्मानमेवाहं विजानीयाम्', 'आत्मेत्येवोपास्व', 'आत्मेत्युपासनं कार्यम्' इत्यादि वचनसूचनाय च। उपगच्छन्तीत्येवमुक्तिः ज्ञानार्थत्वस्यापि लाभाय। उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेत्युक्तिर्द्वयोरप्यावश्यकत्वद्योतनाय। आनन्दादय इत्यत्रोक्तस्य आत्मत्वोपासनस्यात्यावश्यकत्वसूचनायात्र पुनरुक्तिः॥2॥

न प्रतीकाधिकरणम्॥4-1-3॥

ॐ न प्रतीके न हि सः ॐ ॥ 4-1-3-488 ॥

अत्र विष्णुप्रतीकयोरैक्योपास्तिः निवार्यते।'आत्मेति' इति पदद्वयमनुवर्तते। 'प्रतीके' इति विषयसप्तमी। 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादौ श्रुतनामादौ प्रतीके आत्मेत्युपास्तिर्न कार्या। नामादिकं ब्रह्मेति नोपास्यम्। कुतः? न हि सह। हि यस्मात् स प्रस्तुतो विष्णुः प्रतीकं न भवति। अतस्तयोरैक्याभावात् न तथोपास्तिः। कार्या।इत्योपास्तेर्निशेधादिति भावः।

कथं तर्हि कार्येत्यतोऽपि— प्रतीके। अधिकरणसप्तमी। आत्मेतीत्यस्ति। प्रतिमात्मके नामादौ आत्माअस्तीत्युपारितः कार्येत्यर्थः॥3॥

ब्रह्माधिकरणम्॥4-1-4॥

ॐ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॐ ॥ 4-1-4-489 ॥

अत्र ब्रह्मत्वोपास्तेरावश्यकत्वमुच्यते। आत्मेत्यत आत्मशब्दः सप्तम्यन्ततया विपरिणम्य वर्तते। आत्मनि ब्रह्मदृष्टिः ब्रह्मत्वोपासनं पूर्णत्वोपास्तिः सर्वथा आर्या। कुतः? उत्कर्षात् सर्वगुणपूर्णत्वरूपोत्कर्षस्य ब्रह्मपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यर्थः। तथोपास्तेरेव प्रीतिहेतुत्वादिति भावः।

यद्वा तथोपास्तेः उपास्त्यन्तरादुत्कृष्टत्वादित्यर्थः। सर्वगुणपूर्णत्वरूपब्रह्मत्वस्य उत्कृष्टत्वरूपतया तथोपास्तेरन्योपासनादुत्कर्षादिति भावः। ब्रह्मदृष्टिरित्युक्त्या 'ब्रह्मदृष्ट्या सदोपास्यो विष्णुः' इति स्मृतिः सूचिता। भूम्न इत्यत्रोक्तस्यास्य अवश्यकार्यत्वाय पुनरिहोक्तिः॥4॥

आदित्याधिकरणम्॥4-1-5॥

ॐ आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॐ ॥ 4-1-5-490 ॥

अत्राङ्गाश्रितत्वेन देवतोपासनस्यावश्यकत्वमुच्यते। अङ्गे प्रस्तुतब्रह्माङ्गे तत्र स्थितत्वेन आदित्यादिमतयः आदित्याद्युपासनाश्च, स्वस्वाश्रयाङ्गकत्वेनोपासना इति यावत्, आदित्यादिदेवैः सदा सर्वथा कार्या एव। कुतः? उपपत्तेः। देवानाम् अङ्गजत्वेन मुक्तौ तत्र लयस्यापेक्षितत्वात्। उपासनस्य फलसाम्येन कार्यत्वात् रूपान्तरेण नित्यं तत्रावस्थित्या मिथ्योपासनाभावादित्युपपत्तेः सत्त्वादित्यर्थः।

उपासनस्य ज्ञानविशेषत्वद्योतनाय दृष्टिर्मतय इत्याद्युक्तिः। तथा ज्ञानमप्यावश्यकमिति सूचयितुं चेति। बहुवचनं तु यद्यदङ्गे यस्य यस्य निवेशस्तेन तेन तथा मतिः कार्येत्यनेककर्तृकत्वद्योतनाय। चस्तु ब्रह्मदृष्ट्या समुच्चयार्थ इत्येके। अवधारण इत्यन्ये। अङ्ग इत्येकवचनं 'स्वोत्पत्त्यङ्गं च देवानां विष्णोश्चिन्त्यं सदैव तु' इति स्मृत्यनुरोधेन इत्येके। अङ्गानामभेदसूचनायेत्यन्ये। अङ्गेष्वित्यत्रोक्तस्यावश्यकत्वोक्तिरत्रेत्यदोषः॥5॥

आसीनाधिकरणम्॥4-1-6॥

ॐ आसीनः सम्भवात् ॐ ॥ 4-1-6-491 ॥

अत्र ध्याने आसनादिनियमः साध्यते। आसीनः आसने उपविष्ट एव सदोपासनं कुर्यात्। कुतः? सम्भवात् आसीनस्यैव सम्भवात् अन्यस्यासम्भवादित्यर्थः।आसनसदोपासनयोः द्वयोर्विरोधात् आसनं नावश्यकमित्यत आह —

ॐ ध्यानाच्च ॐ ॥ 4-1-6-492 ॥

भावप्रधानम्। आसीनेन क्रियमाणस्य ध्यानरूपत्वादविरोधश्चेत्यर्थः। स्मरणध्यानभेदेन उपासनस्य द्वैविध्यात् नित्यं कार्यस्व स्मरणस्य तदनपेक्षत्वेऽपि ध्याने तदावश्यकम्। अन्यथा चित्तविक्षेपादिति भावः।

प्रत्यहारादिनाऽपि विक्षेपनिरासात् किमासनेनेत्यत आह—

ॐ अचलत्वं चापेक्ष्य ॐ ॥ 4-1-6-493 ॥

मनोविक्षेपाभाव इति शेषः। न केवलं प्रत्याहारादिना, किन्तु शरीराचलत्वं चापेक्ष्य मनोविक्षेपाभावो भवत्यत आसीन एव ध्यायीतेत्यर्थः। तत्त्वप्रदीपे तु अनिद्रत्वं चशब्दार्थ इत्युक्तम्।

स्मृतिभिरप्यासनस्यावश्यकत्वमाह —

ॐ स्मरन्ति च ॐ ॥ 4-1-6-494 ॥

कृष्णादय उक्तमर्थं 'उपविश्यासने', 'समं कायशिरोग्रीवं' इत्यादिना स्मरन्तीत्यर्थः। स्मृतिबहुत्वसूचनाय बहुवचनम्।

'पर्वताग्रे नदीतीरे', 'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय' इत्यादेः देशकालयोरप्यासनवदावश्यकत्वं स्यादत आह —

ॐ यत्रैकाग्रता तत्रा विशेषात् ॐ ॥ 4-1-6-495 ॥

ध्यानस्येति विपरिणम्यास्ति। यत्र देशकालादौ ध्यानस्यैकाग्रता स्यात्तत्र ध्यानं कार्यम्। न तु देशविशेषनियतिः। कुतः? किं ध्यानोपयोगितया आसनवत् तदावश्यकम् उत तज्ज्ञानोपयोगितया। न द्वयमपि। अविशेषात् नियतदेशादिना ध्याने ज्ञाने वा तेन विशेषाभावादित्यर्थः। अविशेषादित्युक्त्या 'तमेव देशं सेवेत' इत्यादिस्मृतिः सूचिता॥6॥

अप्रायणाधिकरणम्॥4-1-7॥

ॐ आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॐ ॥ 4-1-7-496 ॥

अत्र ध्यानस्य प्रयाणान्तत्वं साध्यते। आङ् मर्यादायाम्। प्रकर्षेण अयनं प्रायणं नारायणं प्रति प्रयाणरूपमोक्षः। आ प्रायणात् मोक्षपर्यन्तं ध्यानमवश्यकमिति प्रस्तुतमन्वेति। कुतः? दृष्टं हि। दृष्टं श्रुतिः। हि यस्मात् 'स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायाणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत' इति श्रुतिरस्त्यत इत्यर्थः। कैमुत्येनाप्याह – तत्रापि। मुक्तावपि ध्यानं कुर्वते किमु ततः प्रागित्यर्थः। तदेव कुतः? दृष्टं हि 'मुक्ता अपि ह्येनमुपासते' इति श्रुतिर्यतोऽत इत्यर्थः। आप्रायणादित्युक्तिः श्रुत्यनुरोधेन। आकडारादिवदयं निर्देशः॥7॥

तदधिगमाधिकरणम्॥4-1-8॥

ॐ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॐ ॥4-1-8-497 ॥

एवं प्रासङ्गिकं समाप्य अत्रेशज्ञानेन कर्मक्षयाख्यफलसिद्धिः साध्यते। तदिति ब्रह्मदृष्टिरितिप्रकृतब्रह्मपरामर्शः। तदधिगमे ब्रह्मदर्शने सति उत्तरपूर्वाघयोरश्रेषविनाशौ उत्तराघस्याश्लेषः पूर्वाघस्य विनाशो भवतीत्यर्थः। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इति स्मृतेस्तु अकृतप्रायिश्चित्तविषयत्वस्य वा, अज्ञविषयत्वस्य वा प्रारब्धविषयत्वस्य वा कल्पनादिति भावः। न च

तत्र प्रायश्चित्तविधिवदिह बाधकं नेति शङ्क्यम्। तद्यपदेशात् 'तद्यथा पुष्करपलाश' इति श्रुतावश्लेषस्य, 'तद्यथैषीकातूलं' इति श्रुतौ नाशस्य च व्यपदेशादित्यर्थः।

अश्लेषो नाम इह जन्मन्यशुचित्वासम्भाष्यत्वाद्यभावः परत्र च नरकाद्यहेतुत्वम्। आनन्दह्रासकारकत्वाख्यश्लेषोऽस्त्येवेति बोध्यम्। दृष्टेरुपास्तिरूपत्वात् ज्ञानलाभायाधिगम इत्युक्तिः। पुण्यस्याप्येवंभावेन कर्मणोरिति वाच्ये अघयोरित्युक्तिः पुण्ये विशेषसूचनाय। स च वक्ष्यते। 'उपमर्दं च' इत्यत्र प्रारब्धस्याल्पभोग उक्तः। इहाप्रारब्धस्य स्वरूपनाश इति भेदः।

ईशद्वेषिणो मिथ्याज्ञानेन पुण्यस्याप्येवमित्याह—

ॐ इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॐ ॥ 4-1-8-498 ॥

इतरस्येति तन्त्रम्। पात इतिसामीप्यसप्तमी। तादर्थ्ये वा। असंश्लेष इत्युपलक्षणम्। तुः अनुत्थानरुपविशेषवाची सन् पातविशेषणम्।

इतरस्य प्रस्तुतज्ञानीतरस्येशद्वेषिणः पाते तु अनुत्थानपाते आसन्ने मिथ्याज्ञाने पूर्णे सति पुण्यस्यापि एवं ज्ञानिपापस्येव उत्तरपूर्वघयोरश्लेषविनाशौ भवत इत्यर्थः।

तमोभोगानन्तरं पुण्यभोगोऽस्तु किमश्लेषादिनेत्यतः तुरुक्तः। एवमित्युक्त्यैव विनाशस्येवाश्लेषस्यापि लाभेऽपि पुनरुक्तिः ज्ञानिनोऽघेन आनन्दह्रास इवेशद्वेषिणः पुण्येन तमसि किञ्चित्सुखलेशोऽपि नेति सर्वथैवाश्लेष इति वक्तुम्। अत एव समित्युक्तम्।

ज्ञानिद्वेषिणोः ज्ञानादिनैव पापपुण्ययोः क्षये सद्यो मोक्षादि स्यादित्यत आह —

ॐ अनारब्दकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॐ ॥ 4-1-8-499 ॥

अनारब्धकार्ये भोक्तुम् अनुपक्रान्ते सुखदुःखरूपे कार्ये ययोस्ते तादृशे एव पूर्वे पूर्वोक्ते पुण्यपापे नश्यत इति शेषः। न तु प्रारब्धकार्ये येनोक्तदोषः स्यादित्यर्थः। ज्ञानानन्तरं प्रारब्धसत्त्वं कुतः? तदवधेः। श्रवणादिति शेषः। तदिति तन्त्रं श्रुतिस्थं परामृशति। तस्य मोक्षस्य तदवधेः प्रारब्धकर्मावसानावधिकत्वस्य 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्यते' इति श्रवणादित्यर्थः।

तुः चार्थः सन् 'यदनारब्धपापं स्यात्' इत्यादिस्मृतेश्चेति समुच्चिनोति। श्रुतौ प्रारब्धसत्त्वस्यास्फुटत्वात् स्मृत्युक्तिः।

ज्ञानिनोऽघक्षयेऽपि तत्कृतपूर्वोत्तरपुण्यसत्त्वात् कथं मुक्तिरित्यत आह —

ॐ अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॐ

॥4-1-8-500 ॥

तुः ज्ञानिनस्तु न द्वेषिण इति विशेषार्थः। तत्कार्यमिति कर्मधारयस्तेत्पुरुषश्च। तदिति प्रस्तुताधिगम उच्यते।

ज्ञानिनोऽग्निहोत्राद्यकाम्यं कर्म तत्कार्यायैव ज्ञानाख्यकार्याय ज्ञानकार्यमोक्षातिशयानुभवायैव च। न तु नाशा श्लेषावाप्नोति। नापि बन्धकम्। ज्ञानात् पूर्वकृतं ज्ञानाय पाश्चात्यं तु अतिशययेत्यर्थः। कुतः? तद्दर्शनात्। 'य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते' इति श्रुतावुक्तार्थस्य दर्शनादित्यर्थः। यो जिज्ञासुरुपास्ते तस्य पुण्यं ज्ञानद्वारेणाक्षयमोक्षफलं भवतीति तथा य उपास्ते जानीते तस्य पुण्यम् अक्षयमोक्षातिशायायेति श्रुत्यर्थप्रतीतेरिति भावः।

इतरस्येत्यस्य व्यवायादग्निहोत्रादीत्युक्तिः। पुण्यं त्विति वाच्ये एवमुक्तिः विशिष्य प्रदर्शनायेति केचित्। अग्नये विष्णवे होत्रं हविर्यस्मिन् इत्यकामकर्मलाभायेत्यन्ये। एवेत्यघवद्विनाशादिकं नेति वक्तुम्। भाक्तं वेत्यत्र मुक्तेः कर्मसाध्यत्वश्रुतिगत्युक्त्यर्थं पूर्वोत्तरपुण्यस्य मुक्त्युपयोग उक्तः। अत्र तु प्रतिबन्धकत्वशङ्कानिरासायेति भेदः।

तथापि काम्यपुण्यसत्त्वात् कथं मुक्तिरित्यत आह —

ॐ अतोऽन्यदपीत्येकेषामुभयोः ॐ ॥ 4-1-8-501 ॥

अपीत्यतः अश्लेषविनाशावित्यस्ति। अनारब्धकार्यमिति च। अतः प्रस्तुतादकाम्यादन्यत् काम्यं पूर्वोत्तरपुण्यं चाप्रारब्धमनिष्टं चेति शेषः, नाशाश्लेषाववाप्नोति। न केवलमघमित्यपेरर्थः। कुतः? इत्येकेषामुभयोः। इति एवं पूर्वोत्तरपुण्यपापयोस्त्यागेन एकेषां शाखिनां पाठोऽस्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां त्विषन्तः पापकृत्याम्' इत्यत इत्यर्तः।

तत्त्वप्रदीपे तु अघस्यैव नाशे कथं सुहृदः साधुकृत्यां इत्यवतार्य अतोऽन्यत् काम्यमप्रारब्धमनिष्टं च पुण्यं नश्यतीत्येवं भावाद्धि एकेषां शाखिनामयं पाठो न पुनरकाम्यपुण्यस्य नाशादिनेति इतिशब्दस्य हेत्वर्थत्वमुपेत्यार्थ उक्तः।

नाशशिरस्काल्पफलस्य कर्मणो मुक्त्यनुप्रवेशः कथमित्यत आह —

ॐ यदेव विद्ययेति हि ॐ ॥ 4-1-8-502 ॥

अग्निहोत्रादीति तत्कार्ययैवेति चास्ति। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इति श्रुतिर्हि यस्मादस्त्यतोऽकाम्यं ज्ञानिकर्म मोक्षोपयोगीति युक्तमित्यर्थः।

श्रुतेरिति वाच्ये प्रतीकग्रहणेन तदुक्तिरज्ञकृतकर्मणो नश्वराल्पफलकत्वेऽपि ज्ञानिकृतस्य न तथेति द्योतनाय। तच्छ्रुतेरित्यत्र विद्यया कृतं कर्म मुक्त्यन्यफलाय शक्तमित्युक्तम्। इह तु मोक्षगतातिशयायेति भेदः।

एतत्त्रिसूत्रीन्यायो द्वेषिणां पुण्ये पापे चानुसर्तव्यः।

तथापि ज्ञानिद्वेषिणोः प्रारब्धपुण्यपापसत्त्वात् न मुक्तितमसी स्यातामित्यत आह —

ॐ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पत्स्यते ॐ ॥4-1-8-503 ॥

तुः ज्ञानिनः प्रारब्धभोगे उपमर्दं चेत्युक्तविशेषसूचकः। अथशब्दो नियमसूचकः।

इतरे प्रस्तुतानारब्धादन्ये प्रारब्धपुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा, अथ प्रारब्धपुण्यपापक्षपणादन्वेव न तु ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमिव विलम्बः। सम्पत्स्यते। ब्रह्म वा तमो वा ग्राप्नोतीत्यर्थः।

इति श्रीराघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः सम्पूर्णः

श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः

वाङ्मनसाधिकरणम्॥4-2-1॥

एवं ज्ञानभोगाभ्यां कर्मक्षयमुक्त्वाऽत्र पादे देहत्यागाख्यफलमुच्यते। तस्य देवतदन्यरूपाधिकारिभेदेन लयोत्क्रान्तिरूपेण भेदादादौ देवानां स्वोत्तमदेवेषु लय उच्यते।

ॐ वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॐ ॥ 4-2-1-504 ॥

अत्र वाचो मनसि लयः साध्यते। वाक् वागभिमानिनी वारुणी सुपर्णी च मनसि मनोऽभिमानिनि शेषे च लीयत इति शेषः। अस्मिन्नेवार्थे सम्पत्स्यत इत्यनुवृत्तिर्वा। कुतः? दर्शनात्। वाचो मनोवशत्वस्य प्रत्यक्षत एव दर्शनात्। मनसा सङ्कल्पितस्यैव वाचा व्याहरणात्। तस्य 'यावन्न वाङ् मनसि सम्पद्यते' इति शब्दाच्चेत्यर्थः।

वाचो मनोवशत्वदृष्टावपि कुतस्तत्र लय इत्यतः शब्दोक्तिः। 'वाक् पूर्वरूपं मन उत्तररूपं', 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपं' इति व्यामिश्रोक्तिः वाङ् मनसयोः विष्णुनाम्नि पूर्वोत्तरवर्णदेवतात्वे गुणप्रधानत्वे च मुनिमतविमतिपरेति भावः। वारुणी शेष इत्यादिप्रसिद्धतत्तद्देवतावाचिपरे प्रयोज्ये वागित्यात्युक्तिः

यथा मुच्यमानानां देवानामुत्तमेषु लयः एवं तदभिमन्यमानानां देहगानां वागादिवृत्तीनां मृतिकाले लयो भवतीति प्रसङ्गात् सूचयितुम्।

वाचो लयनिश्चयेऽपि सर्वदेवानां कथं लयनिश्चय इत्यत आह —

ॐ अत एव च सर्वाण्यनु ॐ ॥ 4-2-1-505 ॥

अत इति प्रस्तुतशब्दपरामर्शः। सर्वाणि दैवतानि अनुस्वनियम्यनियामकानुसारेण लीयन्त इत्यनुषङ्गः। कुतः? अत एव 'अग्नौ सर्वे देवा विलीयन्ते' इत्यादिशब्दादेवेत्यर्थः।

चः सर्वाण्यपीत्यर्थ इति टीकायां भाति। तत्त्वप्रदीपे तु चशब्दादिन्द्रियाणि च यथानुकूलं विलीयन्त इत्युक्तम्। नियामकानां बाहुल्याल्लयानिश्चय इत्यतः अत एवेति श्रुत्युक्तिः। एवेति निश्चयमाह। सर्वाणीति क्लीबोक्तिः 'अन्यानि दैवतानि यथानुकूलम्' इति श्रुत्यनुरोधेन॥1॥

मनःप्राणाधिकरणम्॥4-2-2॥

ॐ तन्मनः प्राण उत्तरात् ॐ ॥ 4-2-2-506 ॥

अत्र मनसः प्राणे लयः साध्यते। तत् 'तत्प्राक् श्रुतेः' इति ईशादुत्पन्नत्वेनोक्तं पूर्वयोगे वाङ्नियामकत्वेन प्रस्तुतं वा मनः मनोऽभिमानी शेषः सुपर्णश्च प्राणे वाणीद्वारा चतुर्मुखे लीयत इत्यनुषङ्गः। कुतः? उत्तरात्। शब्दादित्यस्ति। पूर्वोक्तवाङ्मनसीति शब्दात् मनः प्राण इत्युत्तराच्छब्दादित्यर्थः। मनः प्राण इत्येव पूर्तौ तदित्युक्तिः मनसः प्राणादनुत्पन्नत्वेन वागादिसर्वप्रवृत्तिहेतुत्वेन प्राणादनूनत्वाच्च न प्राणे लय इति शङ्कासूचनाय।समाधिस्तु प्राणद्वारा ईशजत्वात् 'मन उदक्रमात् मीलित इव प्राणे उत्क्रान्ते पद्यत' इत्यादेस्तत् ऊनत्वादिति प्रकृष्टाननवाचिप्राणपदात् सूचितः॥2॥

अध्यक्षाधिकरणम्॥4-2-3॥

ॐ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॐ ॥ 4-2-3-507 ॥

अत्र चतुर्मुखस्येशे लय उच्यते। स प्राणः अध्यक्षे परमात्मनि लीयते। कुतः? तदुपगमादिभ्यः। तदुपगमोऽध्यक्षप्राप्तिः। आदिपदात् अध्यक्षानुप्राणनतत्प्रवेशादि, तेन च तद्बोधकश्रुत्यादि गृह्यते। 'प्राणः परमुपगच्छति प्राणः परमनुप्राणिति, प्राणः परस्यां देवतायाम्', 'मुक्ताः सन्तोऽग्निमाविश्य देवाः सर्वेऽपि भुञ्जते। अग्निरिन्द्रे तथेन्द्रश्च वायुमाविश्य सोऽपि तु। आविश्य परमात्मानं भुङ्क्ते

भोगांश्च बाह्यकान्॥' इत्यादितदुपगमादिश्रुतिस्मृतिभ्य इत्यर्थः। प्राणस्य तदधीनत्वात् तस्येशे लयो युक्त इति भावः।

अध्यक्ष इत्युक्तिस्तस्य स्वामित्वात् प्राणस्य तदधीनत्वेन तत्र लयो युक्त इति युक्तिसूचनाय। चक्षुरादिवत्त्वित्यत्र ईशवशत्वोक्तावपि प्राणस्वातन्त्र्यश्रुतिबाहुल्येन तदयोगमाशङ्क्य निरवकाशेशवशत्वश्रुतिबाहुल्येन तद्वशत्वोक्त्यर्थमयं योगः। स्वातन्त्र्यश्रुतयस्तु 'सर्वे प्राणमुपगच्छन्ति', 'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति' इत्याद्युक्त्या सर्वस्य प्राणोपगमादिना सावकाशा इति भावः। एतदर्थं तदुपगमेत्यस्य वृत्त्यन्तरं बोध्यम्। प्राणस्य तेजसि मार्गमात्रत्वस्योक्तस्मृतावेवोक्तेः लयाभावान्न 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतिविरोधः॥3॥

भूताधिकरणम्॥4-2-4॥

ॐ भूतेषु तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 4-2-4-508 ॥

अत्र प्राग् विशिष्योक्तान्यदेवानां भूतेषु लय उच्यते। प्रागुक्तेभ्योऽन्ये देवाः पञ्चसु भूतेषु भूताभिमानिषु लीयन्ते। न त्वेकस्मिन्नग्नाविति बहुवचनार्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः। तस्य भूतेषु देवानां लयस्य 'भूतेषु देवा विलीयन्ते' इति श्रवणादित्यर्थः। 'अग्नौ देवा विलीयन्ते' इति श्रुतिस्तु अग्रे सावकाशयिष्यत इति भावः॥4॥

नैकस्मिन्नधिकरणम्॥4-2-5॥

ॐ नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॐ ॥ 4-2-5-509 ॥

अत्र देवानां सर्वभूतेषु लयः समर्थ्यते। भूत इति विपरिणामेन वर्तते। देवानामग्नौ लयेऽपि तद्वारा वायावाकाशे च लयेन भूतेष्विति प्रागुक्त इत्युपपत्तेः एकस्मिन्नग्नावेव भूते देवा विलीयन्त इति न भवति। कुतः? हि यस्मात् 'पृथिव्यां ऋभवो विलीयन्ते वरुणेऽश्विनावग्नावग्नयः' इति, 'ऋभवः पृथिव्यां' इति, च श्रुती प्रत्येकं भूतेषु देवतालयं दर्शयतोऽत इत्यर्थः। 'अग्नौ देवा विलीयन्ते' इति श्रुतिस्तु उदाहृतश्रुतौ 'अग्नयः' इति निर्दिष्टसर्वाग्निपुत्रमात्रपरेति भावः॥5॥

समनाधिकरणम्॥4-2-6॥

ॐ समना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॐ॥4-2-6-510॥

अत्र श्रियो विष्णौ लयाभावः साध्यते। आद्यश्चो नञोऽनुपकर्षकः। अन्त्योऽवधारणे।

न श्रीरीशे लीयते। कुतः? अनुपोष्य च अनुपास्यैव स्वत एवामृतत्वं नित्यमुक्तत्वमस्या इति यावत्। यतोऽत इति योज्यम्। तदेव कुतः? असृत्युपक्रमात्। सृतिः संसारः। कदाऽपि संसारोपक्रमणाभावात्। तदपि कुतः? समना देशकालाभ्यां व्याप्त्या समो ना परमपुरुषो विष्णुर्यस्याः सा। ङीबभावश्छान्दसः। हेतुगर्भम्। ईशवन्नित्यत्वात् सर्वगतत्वादित्युत्तरोत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्य हेतुत्वं बोध्यम्। 'तेजः परस्यां' इति श्रुतिस्तु 'हरेरत्यन्तसमामीप्यं लयो लक्ष्म्याः' इत्युक्तेरतिसामीप्यपरेति भावः।

अस्रुतेरित्येव पूर्तावुपक्रमेत्युक्तिः कदाऽपि संसारो नेति वक्तुम्। असृत्युपक्रमादित्युक्त्या 'द्वावसृत्यनुपक्रमौ प्रकृतिश्च परमश्च' इति श्रुतिः सूचिता। अनुपोष्येत्यकारस्योत्वं छान्दसम्। यद्वा – उपपूर्वस्य वसतेः सम्प्रसारणे रूपमेतत्। उपवासादिक्लेशमकृत्वा अनुपास्येति यावत्। कामादित्यत्रबन्धोक्तावपीशेन सर्वसाम्यापत्तेरबन्धो न युक्त इति तदाक्षेपादीशाधीनत्वयुक्त्या श्रुत्या च लयशङ्कायामयमारम्भः।

इत्यमुक्तत्वे सर्वसाम्यमीशेन स्यादत आह —

ॐ तदपीतेः संसारव्यपदेशात् ॐ ॥ 4-2-6-511 ॥

तदपीतेः प्रस्तुतप्रकृतौ लयस्य संसारव्यपदेशात् ईशे लयस्य मुक्तिव्यपदेशाद् ' "विलीनो हि प्रकृतौ संसारमेति विलीनः परमेह्यमृतत्वमेति" इति श्रुतौ' इत्युपलक्षणत्वेन योज्यम् — अतो न सर्वसाम्यमित्यर्थः।

तत्त्वप्रदीपे तु — आसमन्तादपीतेरित्यविज्ञातत्वं प्रवेशस्योक्तम्। ' "अविज्ञातं प्रविष्टं यदपीतं" इति वचनस्य "अप्ययोऽयं समुद्दिष्टस्तदन्येषामदर्शनम्" इति वचनात् सावकाशत्वशङ्का स्यादिति तदापीतेरित्युक्तम्। स्वस्याप्यविज्ञात एव तदा प्रकृतौ प्रवेशः' इत्याद्युक्त्या तदापीतेरिति पाठोऽभिमत इति भाति।

इतश्च न सर्वसाम्यमित्याह —

ॐ सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॐ ॥ 4-2-6-512 ॥

तदिति विभज्यास्ति। आवर्तते च। आद्यं पञ्चम्यन्तं विपरिणाम्यम्। तस्याः प्रकृतेरपि तद् ब्रह्म सूक्ष्मं प्रमाणतश्च परिमाणतश्च ज्ञानानन्दादिगुणपरिमाणेन चाधिकमिति शेषः। कुतः? 'सर्वतः प्रकृतिः सूक्ष्मा प्रकृतेः परमेश्वरः' इत्यादिश्रुतौ तथा दर्शनादित्यर्थः। अतोऽपि न सर्वसाम्यमिति भावः।

एवं हि नित्यमुक्तत्वादिना साम्यमपि न स्याद्, ब्रह्मादिवदित्यत आह—

ॐ नोपमर्देनातः ॐ ॥ 4-2-6-513 ॥

अतः साम्यतदभावयोरेव साधितत्वात् स्वातन्त्र्यादीशगुणासाधारण्यानुपमर्देन नित्यमुक्तत्वादिना साम्यमित्यर्थः। नोपमर्देनेति न समासः।

इतश्च किञ्चित्साम्यमित्याह —

ॐ अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॐ ॥ 4-2-6-514 ॥

अस्येति प्रस्तुतं किञ्चित्साम्यमुच्यते। चः समुच्चये। उपपत्तेरिति षष्ठी। ऊष्मेति तत्पदोपेतश्रुतिरुच्यते।

'द्विधा हीदमवदृश्यते ऊष्मावदनूष्मावच्च। तत्रोष्मावत् परंब्रह्म यन्न' जिघ्रन्ति इत्यादिनेशस्योष्मावत्त्वं, देव्या ऊष्मावत्त्वमनूष्मवत्त्वं च वदन्ती श्रुतिर्देव्योरस्यैव किञ्चित्साम्यस्यैवोपपत्तेरर्थे भवति तस्योपपादिका भवति यतोऽतश्च किञ्चित्साम्यं तयोरित्यर्थः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॐ ॥ 4-2-6-515 ॥

अस्येत्यस्ति। 'सर्वे ह्येतेऽणवो जायन्ते म्रियन्ते च' इत्यादि श्रुतौ ईशादन्येषु नित्यसर्वगतत्वाद्यभावस्य ईशे तद्भावस्य चोक्त्याऽस्य देशकालव्याप्त्यादिनाऽपि साम्यस्य प्रतिषेधात् न देवदेव्योर्देशादिव्याप्त्यादिनाऽपि साम्यमिति चेन्न। शरीरात् जीवात् साम्यस्यैवेशस्य श्रुतौ प्रतिषेधात्। प्रकतेस्तत्प्रतिषेधाभावादित्यर्थः। शरीरादित्युक्तिस्तस्य शारीरत्वेन नित्यसर्वगतत्वायोगादिति सूचयितुम्।

कुतः सामान्यश्रुतेः शारीरसाम्याभावरूपविशेषपरत्वमित्यत आह —

ॐ स्पष्टो ह्येकेषाम् ॐ ॥ 4-2-6-516 ॥

एकेषां माधियान्दिनानां 'अथासमा ब्रह्मेन्द्रो रुद्रः' इति श्रुतौ जीवानामेवासमत्वोक्तिपूर्वकं प्रकृतेः समासमत्ववादः स्पष्टोऽस्ति यतोऽत इत्यर्थः।

न विशेषश्रुत्यैव सामान्यश्रुतेर्बाधः, विशेषस्मृत्या चेत्याह —

ॐ स्मर्यते च ॐ ॥ 4-2-6-517 ॥

'ब्रह्माद्यास्त्वसमाः प्रोक्ताः प्रकृतिश्च समासमा' इति स्मर्यते असमत्वं समासमत्वं चातश्चैवमित्यर्थः ॥ 6 ॥

पराधिकरणम्॥4-2-7॥

ॐ तानि परे तथा ह्याह ॐ ॥ 4-2-7-518 ॥

अत्र विरिञ्चेतरदेवानाम् ईशे लय उच्यते। 'तानि भूतेषु लीयन्ते' इत्युक्तसर्वदैवतानि श्रुत्यन्तरोक्तद्वारान्तरप्रवेशपूर्वकविरिञ्चद्वारा परे परमात्मनि लीयन्ते, न तु विरिञ्चादिस्वस्वबिम्ब एव। येन तेषां मुक्तिर्न स्यात्। कुतः? हि यस्मात् 'सर्वे देवाः प्राणमाविश्य देवे मुक्ता लयं परमे यान्ति' इति श्रुतिस्तथाऽहात इत्यर्थः॥7॥

अविभागाधिकरणम्॥4-2-8॥

ॐ अविभागो वचनात् ॐ ॥ 4-2-8-519 ॥

अत्र मुक्तानामीशाधीनत्वमुच्यते। प्रस्तुतदेवादिमुक्तानां सत्यकामादेरीशेच्छातः अविभागस्तादात्म्यम्। तेन विषयतादात्म्यं लक्ष्यते। इच्छयैकविषयत्वं तदिच्छानुसारित्वमिति यावत्। न स्वातन्त्र्यम्। कुतः? वचनात् कामेन मे काम आगाद्धृदयाद्धृदयं मृत्योरिति वचनादित्यर्थः॥8॥

तदोकोऽधिकरणम्॥4-2-9॥

ॐ तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॐ ॥ 4-2-9-520 ॥

एवं देवानां मोक्षमुक्त्वाऽत्र मनुष्याणा मुक्त्यर्थं देहोत्क्रमणस्याज्ञमृतितो वैलक्षण्यं साध्यते। तदिति पर इति प्रकृत ब्रह्मोच्यते।

उत्क्रान्तिकाले तदोकसो भगवदोकसो हृदयस्याग्रे ज्वलनं प्रभा प्रादुर्भवति। तावताऽज्ञात् को विशेषः? अत उक्तं तदिति। तेन प्रकाशेन प्रकाशितनाडीद्वारः सन् देहान्निर्यातीति शेषः। अज्ञस्तु नैवमिति ततोऽस्ति ज्ञानिनो विशेष इति भावः। ज्ञस्यापि प्रारब्धसत्त्वात् कथमयं विशेषोऽत उक्तं विद्येति। ईशापरोक्षशक्त्येत्यर्थः। ज्ञानस्य स्वोदयमारभ्य फलदातृत्वात्। 'स्वोदयात् फलदं ज्ञानं' इत्यादेरिति भावः।

तर्हि ज्ञस्याऽदिमृतिरेवैवं किं नेत्यत उक्तं — तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च। तस्या विद्यायाः शेषोऽङ्गं या हृदयमारभ्य ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्ताया गतेरनुस्मृतिः तत्साहित्याच्च, न विद्यासामर्थ्यमात्रादित्यर्थः। सा च स्मृतिः स्वकर्मविराम एव न मृत्यन्तरे। 'ज्ञानिनां कर्मयुक्तानाम्' इत्यादेरिति भावः। किमुक्तरूपेण

विद्यासामर्थ्यैनैव निर्यातिर्नेत्याह — हार्देति। हृत्सम्बन्धिना हृदिस्थेन विद्याप्रसन्नेन ईशेनानुगृहीतः सन् निर्यातीत्यर्थः। कया नाड्येत्यत उक्तं शतेति। शताधिकया सुषुम्नाख्ययेत्यर्थः।

गत्यनुस्मृतियोगादित्यनेनैव पूर्तौ तच्छेषेत्युक्तिः विद्याया गतिस्मृतिसापेक्षत्वे उत्क्रमणहेतुत्वं नेति न शङ्क्यम्। तस्यास्तच्छेषत्वात्। न हीतिकर्तव्यतामपेक्षमाणो हेतुरहेतुरिति द्योतनायेति। तत्त्वप्रदीपे तु तदेति विच्छेदेनोत्क्रान्तिकाल इत्येकोऽर्थ उक्तः। तत्पक्षे ओमाङोश्चेति चकारादन्यत्रापीति सुधोक्तेस्तदोक इति साधु। तदिति च विच्छेदेन तस्य विदुषो जीवस्य हृदयाग्रज्वलनं भवतीत्यन्योऽर्थोऽभिमतः।

द्वार इत्युक्त्या नाड्यन्तः अङ्गवत्तमसैव गमनं स्यात्। अन्यथा तत्पदवैयर्थ्यादित्यत आह —

ॐ रश्म्यनुसारी ॐ ॥ 4-2-9-521 ॥

'सहस्रं वा आदित्यस्य रश्मय आसु नाडीष्वातताः' इति श्रुत्या नाड्यन्तराततसौररश्म्यनुसारी सङ्ज्ञानी निर्यातीत्यस्ति। द्वारप्रकाशस्यवैष्णवत्वादन्तः प्रकाशस्य सौरत्वात् द्वारपदमर्थवत्। 'तदा विष्णोः स्वतेजसा द्योतते हृदयाग्रं' इत्यादेरिति भावः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ निशि नेति चेन्न सम्बन्धात् ॐ ॥ 4-2-9-522 ॥

रात्रौ पर्यवसितकर्मणामुत्क्रान्तिर्न स्यात्तदा रश्म्यभावादिति चेन्न। सम्बन्धात्। रश्मीनामित्यनुषङ्गः बाह्यादित्याभावेऽप्यन्तःस्यादित्यरश्मीनां सदा नाडीसम्बन्धादित्यर्थः।

यावद्देहभाविनि नाडीरश्मिसम्बन्धे मानाभाव इत्यत आह —

ॐ यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॐ ॥ 4-2-9-523 ॥

सम्बन्धस्येत्यनुषङ्गः। नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहाभावित्वात्। न चासिद्धमिदम्। 'संसृष्टा वा एते रश्मयश्च नाड्यश्च नैषां वियोगो यावदिदं शरीरं' इति श्रुतिर्दर्शयति यस्मात्तस्मादित्यर्थः। चो यत इत्यर्थे।

यावद्देहभावित्वं दर्शयति चेति वाच्ये पञ्चम्युक्तिः नाडीरश्मिसम्बन्धः सदातनोऽथ देहपातपूर्वकालीनः? नाद्यः। सदा नाडीनामभावात्। नान्त्यः। कदाचिदज्ञानिनस्तमसोत्क्रान्तिप्रसङ्गादिति नाशङ्क्यम्। यावद्देहभावित्वोपगमात्। तस्य च श्रुतिसिद्धत्वादिति सूचयितुम्।

'दक्षिणे मरणाद्याति स्वर्गं ब्रह्मोत्तरायणे' इत्युक्त्या ज्ञानिनो दक्षिणायन उत्क्रान्त्ययोगवत् रात्रवप्युत्क्रान्त्यभावोपपत्त्या रात्रावुत्क्रान्त्युपपादनायासो व्यर्थ इत्यत आह —

ॐ अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे ॐ ॥ 4-2-9-524 ॥

साध्यसमुच्चये चः। हिर्हेतौ। अपिः स्मृतिसमुच्चये। 'दक्षिणे मरणात्' इति स्मृतिवचनेन ज्ञानिनो दक्षिणायनोत्क्रान्त्ययोगदृष्टान्तेन रात्रावपि तदभावो न वाच्यः। 'दक्षिणे मरणात्' इति स्मृतिसत्त्वेऽपि दक्षिणायने ज्ञानिन उत्क्रान्तिर्युक्ता। कुतः? अतः सौररश्मिसहस्रस्य नाडीसम्बन्धसत्त्वादित्यर्थः। स्मृतौ दक्षिणोत्तरायणशब्देन देहव्याप्तसौररश्मीनामेवाभिधानं न तु कालस्येति भावः। 'शतं पञ्चैव सूर्यस्य दक्षिणायनरश्मयः' इत्यादिस्मृतेरित्यप्याहुः॥9॥

योग्यधिकरणम्॥4-2-10॥

ॐ योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते ॐ ॥ 4-2-10-525 ॥

अत्र विद्यागत्यनुस्मृत्योरवश्यकत्वं साध्यते। योगिन इति द्वितीयान्तम्। एते ब्रह्मचन्द्रगती योगिनः ज्ञानकर्मयोगिनः प्रतिस्मर्येते 'अग्निर्जोतिरहःशुक्लः', 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः' इत्यादिस्मृत्योरुच्येते। ज्ञानादिसाध्यतया स्मर्येते इति यावत्। न तु कालादिकृते इत्यर्थः। अनेन ब्रह्मगतेर्विद्यासाध्यत्वमुक्तम्।

गत्यनुस्मृतिसाध्यत्वं चाऽऽह – स्मार्ते चेति। स्मृतेरिमे स्मार्ते। गत्यनुस्मृतिसाध्ये एवेत्यर्थः। स्मर्यते इत्यन्वयः। 'अग्निर्ज्योतिः' इति स्मृतौ ब्रह्मविद इति विशेषणात्, गत्यनुस्मरणाद् 'ब्रह्म चन्द्रं वा गच्छति' इति वचनाच्च विद्यानुस्मृतिसाध्यत्वं गतेरिति भावः।

योगिन इत्युक्तिर्ब्रह्मचन्द्रगत्योर्ज्ञानकर्मणी एवोपायौ, न तु तत्कालस्मृतिरिति सूचयितुमिति तत्त्वप्रदीपाद्भाति। योगशब्दस्योपायार्थत्वात्॥10॥

इति श्रीराघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः सम्पूर्णः ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥4-3॥

ब्रह्मनाड्योत्क्रान्तानां यो ब्रह्मप्राप्तौ मार्गः, यच्च तेन पथा गतानामन्येषां देवानां च गम्यं तद्द्वयमत्र पादे कथ्यते।

अर्चिराद्यधिकरणम्॥4-3-1॥

ॐ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॐ ॥ 4-3-1-526 ॥

अत्रेशप्राप्तिमार्गेऽर्चिष आदित्वं साध्यते। ब्रह्म गच्छन् ज्ञानी 'तेऽर्चिषमभिसंविशन्त्यर्चिषोऽहः' इत्युक्तार्चिरादिना पथा गच्छति न तु 'स वायुमागच्छति' इत्युक्तवाय्वादिना। कुतः? तत्प्रथितेः। तस्योक्तार्थस्य 'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति' इति श्रुतौ 'द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्चिरादिर्विपश्चिताम्' इति स्मृतौ च प्रसिद्धेरित्यर्थः। 'स वायुम्' इत्यस्य तु गतिर्वक्ष्यते॥1॥

वायुशब्दाधिकरणम्॥4-3-2॥

ॐ वायुशब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॐ ॥ 4-3-2-527 ॥

अत्र वायोरर्चिरनन्तरप्राप्यत्वं साध्यते। अविशेषविशेषाभ्यां वायुशब्दाद्वायोः प्राप्यत्वश्रुतेः वायोर्द्वितीयप्राप्यत्वमिति शेषः। 'यदा ह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति' इति सामान्यतो वायोः प्रथमप्राप्यत्वोक्तेः तस्याश्च पूर्वोक्ताविशेषवचनबाधेनार्चिषोऽनन्तरप्राप्यत्वार्थत्वस्य न्याय्यत्वात्। 'स इतो गतो द्वितीयां गतिं वायुमागच्छति' इति विशेषोक्त्या च तथैवावगतेरिति भावः॥2॥

तटिदधिकरणम्॥4-3-3॥

ॐ तटितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॐ ॥ 4-3-3-528 ॥

अत्र तठिल्लोकस्य संवत्सरलोकादनन्तरप्राप्यत्वं साध्यते। तटितस्तल्लोकादधि उपरि तटिल्लोकप्राप्त्यनन्तरं वरुणः प्राप्यो न तु 'संवत्सराद्वरुणलोकं' इति श्रुत्या तदनन्तरमेव। कुतः? सम्बन्धात्। 'तटितो ह्यूह्यते वरुणलोकः' इति तस्य तटितोऽधिसम्बन्धश्रवणादित्यर्थः॥3॥

आतिवाहिकाधिकरणम्॥4-3-4॥

ॐ आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात् ॐ ॥ 4-3-4-529 ॥

अत्रार्चिषोऽनन्तरं प्राप्यवायोरातिवाहिकत्वं साध्यते। द्वितीयप्राप्यतया प्रागुक्तो वायुरातिवाहिकाख्यो मुख्यवायुपुत्रः कश्चित्, न मुख्यवायुः। कुतः? पूर्वप्राप्यत्वरूपतल्लिङ्गादित्यर्थः।

नन्वथापि न मुख्यः कुतः? अन्यथा तत्प्राप्त्यनापत्तेः। 'विद्युतमेवान्तत उपगच्छति द्यौर्वाव विद्युत्तत्पतिं वायुमुपगम्य' इत्यग्रे वाय्वन्तरप्राप्त्युक्तावपि सन्देहानिरासादित्यत आह —

ॐ उभयव्यामोहत् तत्सिद्धेः ॐ॥ 4-3-4-530 ॥

सप्तम्यर्थे पञ्चमी। उभयस्मिन् वायुशब्दे आतिवाहिको मुख्यो वेति व्यामोहे सन्देहेऽपि तत्सिद्धेः। पूर्वोक्त आतिवाहिकः पश्चादुक्तो मुख्य इत्यस्यार्थस्य सिद्धेः। पश्चात्तनस्य दिवस्पतित्वलिङ्गादिति भावः।

उत्क्रान्तस्तु शरीरात् स्वात् गच्छत्यर्छिषमेव तु। ततो हि वायोः पुत्रं च योऽसौ नाम्नाऽऽतिवाहिकः॥ ततोऽहं पूर्वपक्षं चाप्युदक्संवत्सरं तथा। तटितं वरुणं चेव प्रजापं सूर्यमेव च॥ सोमं वैश्वानरं चेन्द्रं ध्रुवं देवीं दिवं तथा। ततो वायुं परं प्राप्य तेनैति पुरुषोत्तमम्॥' इति स्मृत्योक्तार्थः सर्वो ध्येयः॥4॥

वैद्युताधिकरणम्॥4-3-5॥

ॐ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 4-3-5-531 ॥

अत्रेशप्राप्तिमार्गे मुख्यवायोरन्तिमत्वं साध्यते। तत इत्यनन्तरमन्यः प्राप्योऽस्तीति न शङ्क्यमिति शेषः। विद्युतोऽयं वैद्युतः। तेन विद्युत्पतिना वायुनैव ब्रह्मगमनश्रवणात्। 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इति श्रवणादित्यर्थः।

यद्वा वैद्युतेनैव ब्रह्मप्राप्तिर्यतस्तस्माद्धेतोः स एवान्तिमप्राप्य इति शेषः। तच्छ्रुतेः वैद्युतेनैव ब्रह्मगमनस्य श्रवणादित्यर्थः। अन्यस्यान्तिमप्राप्यत्वे तस्य ब्रह्मप्रापकत्वं स्यात्। तच्च नास्तीति भावः। वैद्युतेनेत्युक्त्या 'विद्युत्पतिर्वायुरेव नयेद् ब्रह्म न चापरः' इति स्मृतिः सूचिता॥5॥

कार्याधिकरणम्॥4-3-6॥

ॐ कार्यं बादरिरस्यगत्युपपत्तेः ॐ ॥ 4-3-6-532 ॥

एवं मार्गं विचार्य गम्यमत्र निरूप्यते। कार्यमुत्पत्तिमत्। तद् ब्रह्मेत्यन्वेति। 'स एनान् ब्रह्म' इति श्रुतौ कार्यं ब्रह्म चतुर्मुखाख्यमेव वायुर्नयतीति बादरिर्मन्यते। ब्रह्मशब्दस्येशे मुख्यत्वात् कथमेवमित्यत उक्तम् — अस्येति। 'तथापि प्रकृतेर्बन्धो ब्रह्मणा सह भिध्यते' इत्युक्त्या चतुर्मुखमुक्तिपर्यन्तं बन्धस्य सन्ततत्वेन ततोऽर्वाग् अस्यैव गत्युपपत्तेरित्यर्थः। बद्धत्वेन परप्राप्त्ययोगरूपयुक्तिबलाद् ब्रह्मश्रुतेरमुख्यार्थत्वमिति भावः।

विशेषश्रुतिबलाच्चामुख्यार्थत्वमित्याह —

ॐ विशेषितत्वाच्च ॐ ॥ 4-3-6-533 ॥

'यदि वाव परमभिपश्यति प्राप्नोति ब्रह्माणं चतुर्मुखम्' इति श्रुतौ चतुर्मुखत्वेन ब्रह्मणो विशेषितत्वाच्च कार्यमेव ब्रह्मपदार्थ इत्यर्थः।

‘ब्रह्मविदाप्नोति परं’ इति ज्ञानिनः परप्राप्त्युक्तेः कथं कार्यमित्यत आह —

ॐ सामीप्यात्तुतद्व्यपदेशः ॐ ॥ 4-3-6-534 ॥

तुरेव। ज्ञानिनः परप्राप्तिव्यपदेशः परप्राप्तेः कालतः सामीप्यादेव हेतोर्न तु कार्यस्याप्राप्यत्वान्न परस्य प्रथमप्राप्यत्वादित्यर्थः। ‘तद्व्यपदेशस्तु’ इत्यन्वितः सन् ‘ब्रह्मवित्’ इति श्रुतिगतिसूचनार्थो वा तुशब्दः।

सामीप्यादिति कोऽर्थः? लयादर्वाग् उत लय एव वा? नाद्यः। बद्धत्वरूपप्रागुक्तयुक्तिसाम्यात्। नान्त्यः। मानाभावादित्यत आह —

ॐ कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॐ ॥4-3-6-535 ॥

कार्याणामत्यये नाशरूपप्रलये तदध्यक्षेण कार्याणां स्वामिना चतुर्मुखेन सह अतश्चतुर्मुखात् परं ब्रह्म ज्ञानी गच्छति। कुतः? ‘ते ह ब्रह्माणमभिपद्य यदैतद्विलीयतेऽथ सह ब्रह्मण परमभिगच्छन्ति’ इति श्रुतौ तदभिधानादित्यर्थः।

कार्येत्याद्युक्तिः लयस्वरूपोक्त्यर्था। तदध्यक्षेणेत्युक्तिः। ईशनियोगात्तस्य कार्याधिकृतत्वेन तदपगमे तस्यापीशप्राप्तिर्युक्तेति सूचयितुम्।

इतश्चैवमित्याह—

ॐ स्मृतेश्च ॐ ॥ 4-3-6-536 ॥

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते परात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति स्मृतेश्च कार्यात्यय इत्युक्त एवार्थो ज्ञायत इत्यर्थः।

प्राप्ये पक्षान्तरमाह—

ॐ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॐ ॥ 4-3-6-537 ॥

‘स एनान् ब्रह्म’ इति श्रुतौ परं ब्रह्म वायुर्गमयति न कार्यमित्यर्थ इति जैमिनिर्मन्यते। कुतः? ब्रह्मशब्दस्य तत्र मुख्यत्वादित्यर्थः।

मुख्यत्वे तदनुपपत्तिः प्रागुक्तेत्यत आह —

ॐ दर्शनाच्च ॐ ॥ 4-3-6-538 ॥

परस्येत्यनुवर्त्यम्। श्रवणादिसाधनैरपरोक्षतया परस्यैव ब्रह्मणो दर्शनाच्चान्यस्य तदभावाद्युक्त एवात्र मुख्यार्थस्वीकार इत्यर्थः।

इतश्चैवमित्याह —

ॐ न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॐ ॥ 4-3-6-539 ॥

प्रतिपत्तिरुपास्तिः। तत्सहितोऽभिसन्धिरिच्छा प्रतिपत्त्यभिसन्धिः। कार्ये ब्रह्मणि प्रतिपत्तिः कार्यं प्राप्नवानीत्यभिसन्धिश्च नास्ति यतोऽतश्च परमेव प्राप्यं, न कार्यमित्यर्थः। हेतुसमुच्चये चः।

एवं बादरिजैमिनिमतभेदोक्त्या विरुद्धवत् प्रतीयमानानां कार्यपरगतिविषयश्रुतिस्मृतीनां विरोधं परिहरन् विषयविभागसत्तां सूचयित्वा उभयत्र च गन्तृणां सहेतुकं विभागज्ञापनाय स्वमतमाह —

ॐ अप्रतीकालम्बनान् नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात् तत्क्रतुश्च ॐ ॥ 4-3-6-540 ॥

प्रतीकं देहः। उपलक्षणमेतत्। तत्रैव देहादावेव ब्रह्म पश्यन्तः प्रतीकालम्बनाः। तदन्येऽप्रतीकालम्बनाः। व्याप्ततया ब्रह्म पश्यन्त इत्यर्थः। तान् परं नयति, न तु सर्वान्। अन्यानेव च कार्यमिति श्रुत्यर्थ इति बादरायणो मन्यते। कुतः? उभयथा च दोषात्। कांश्चित् कार्यं, कांश्चित् परमित्यनस्वीकृत्य सर्वान् कार्यमेव नयति न परं, परमेव न कार्यमित्यङ्गीकारे दोषसत्त्वादित्यर्थः। आद्ये ब्रह्मशब्दस्य तत्र मुख्यत्वं, तद्दर्शनं तत्रैवोपास्त्यादिसत्त्वमिति परप्राप्तिपक्षे यत्साधकमुक्तं तदयुक्तं स्यात्। अन्त्ये कार्यस्यैव गम्यत्वोपपत्तिः, 'ब्रह्माणं चतुर्मुखं' इति विशेषितत्वमित्यादि यत् कार्यप्राप्तिपक्षे साधक मुक्तं तदयुक्तं स्यादिति भावः। उभयप्राप्तिपक्षे दोषद्वयापात इत्येतट्टीकायामेव परिहृतम्।

'यत्प्राप्तुमभिवाञ्छति तत्प्राप्नोति' इति वचनात् इच्छानुसारेण किं तयोः प्राप्तिरित्यत उक्तं - तत्क्रतुश्चेति। श्रुतिग्रहणमेतत्। 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवतियत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' इति श्रुतिर्यतोऽतो नेच्छानुसारेण तत्प्राप्तिः, किन्तु केनचित् क्रमेणैवेत्यर्थः। अत्र श्रुतौ यत्प्राप्तीच्छा तज्ज्ञानोपासना परोक्षैरेव तत्प्राप्तेरुक्तत्वादिति भावः।

कांश्चिदिति वाच्ये अप्रतीकेत्याद्युक्तिः क्रमेऽपि न सौकर्यक्रमेणोभयप्राप्तिः 'सप्रतीकाश्चतुर्मुखमप्रतीकाः परमिहैते गच्छन्ति', 'प्रतीकं देह उद्दिष्टः' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुरोधेन प्रतीकालम्बनान् कार्यम्, अन्यान् परमिति क्रम इति सूचयितुम्।

अप्रतीकालम्बनाः केचित् केचिन्नैवमिति नियमाभाव इत्यत आह —

ॐ विशेषं च दर्शयति ॐ ॥ 4-3-6-541 ॥

अप्रतीकालम्बनत्वादिविशेषं च 'देवा वाव सर्वप्रकाशा ऋषयोऽन्तःप्रकाशा मनुष्या एव बहिः प्रकाशाः' इति श्रुतिर्दर्शयतीत्यर्थः॥6॥

इति श्रीराघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः सम्पूर्णः॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥4-4॥

अत्र पादे चतुर्मुखेन सह परब्रह्मप्राप्तानां यस्तत्र भोगः स उच्यते।

सम्पद्याधिकरणम्॥4-4-1॥

ॐ सम्पद्याविहाय स्वेन शब्दात् ॐ ॥ 4-4-1-542 ॥

अत्र मुक्तस्य ब्रह्मानतिक्रमेणैव भोगानुभवः साध्यते। परमित्यस्ति।

ज्ञानी परं ब्रह्म सम्पद्य प्राप्याविहाय परं ब्रह्मानतिक्रम्य स्वेन रूपेणावस्थितः सन् भोगान् भुङ्क्इति शेषः। 'एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्नन्धो भवति' इति श्रुतिविरोध इत्यत उक्तं - शब्दादिति। 'इमां घोरामशिवां नदीं तीर्त्वैतं सेतुमाप्यैतेनैव सेतुना मोदते' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः। एतच्छ्रुत्यनुरोधेन प्रागुक्तसामान्यश्रुतेरर्थो वाच्य इति भावः।

सम्पद्येत्युक्त्या 'स एवंविदेवं मन्वान एवं पश्यन्नात्मानमभिसम्पद्यैतेनात्मना यथाकामं सर्वान् कामाननुभवति' इति श्रुतिः सूच्यते। स्वेनेति 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति श्रुतिः सूचिता। परानतिक्रमे ह्यमुक्तत्वं स्यात्, 'एतं सेतुं तीर्त्वा' इति तदतिक्रम एव मुक्तत्वोक्तेरिति शङ्कां व्युदसितुं स्वेनेत्युक्तम्। स्वरूपाविर्भावस्यैव मुक्तित्वादिति। शब्दादित्युक्तिः श्रुतिविरोध निरासार्था॥1॥

मुक्ताधिकरणम्॥4-4-2॥

ॐ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॐ ॥ 4-4-2-543 ॥

अत्र ब्रह्म प्राप्य तदविहाय भोगान् भुञ्जानस्य मुक्तत्वं साध्यते। स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्' इत्यत्र मुक्त उच्यते। न तु क्रियाप्रतीत्या संसारी। कुतः? 'अथ यदैनं मुक्तोऽनुप्रविशति मोदते प्रमोदते' इति श्रुत्यन्तरे मुक्तस्यैवैंविधभोगप्रतिज्ञानादित्यर्थः। 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्युपक्रमे स्पष्टं मुक्तत्वस्य प्रतिभानादिति चार्थः। श्रुतिविरोधात् मुक्तस्याक्रियत्वं बाधितमिति भावः॥2॥

आत्माधिकरणम्॥4-4-3॥

ॐ आत्मा प्रकरणात् ॐ ॥ 4-4-3-544 ॥

अत्र मुक्तप्राप्यज्योतिषो ब्रह्मत्वं साध्यते। 'परं ज्योतिरुसम्पद्य' इति श्रुतं मुक्तप्राप्यं ज्योतिरात्मा परमात्मैव। न तु 'सूर्यमगन्म ज्योतिः', 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' इत्यादिश्रुत्या सूर्यः। कुतः? 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इति परमात्मप्रकरणादित्यर्थः॥3॥

अविभागाधिकरणम्॥4-4-4॥

ॐ अविभागेन दृष्टत्वात् ॐ ॥ 4-4-4-545 ॥

अत्र सायुज्यभाजाम् ईशभुक्तभोगवत्त्वं साध्यते। अविभागेन परमात्मभोगाविभागेन सायुज्यभाजो भोगान् भुञ्जते। तद्भागानेव कांश्चित्भुञ्जते, न पार्थक्येनेति यावत्। कुतः? दृष्टत्वात्। 'यानेवाहं श्र्णोमि यान् पश्यामि' इत्यादिश्रुतौ तथा दृष्टत्वादित्यर्थः। श्रुतिरिति वाच्ये दृष्टत्वादित्युक्तिः मन्त्र्यादौ राजभोग्यगानलास्यादिकिञ्चिद्भोक्तृत्वस्य लोके दृष्टत्वादिति सूचयितुम्॥4॥

ब्राह्माधिकरणम्॥4-4-5॥

ॐ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॐ ॥ 4-4-5-546 ॥

अत्र मुक्तस्य देहाभावप्रयुक्ताभोक्तृत्वं निरस्य भोक्तृत्वं साध्यते। मुक्तस्य स्वदेहाभावेऽपीशप्रविष्टस्य ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना देहेन ग्रहवद्भोगोऽस्तीति जैमिनिर्मन्यते। कुतः? 'ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा श्रुणोति' इति श्रुतौ तथोपन्यासात्। आदिपदस्य 'आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ठ्यैव पश्यति' इत्यादिस्मृतेः, 'गच्छामि विष्णुपादाभ्यां विष्णुदृष्ट्या च दर्शनम्। इत्यादिपूर्वस्मरणान्मुक्तस्यैतद्भविष्यति' इति स्मृत्युक्तयुक्तेश्चेत्यर्थः। श्रुतौ ब्राह्मदेहानुक्तेः स्मृत्युक्तिः। स्वयं देहहीनस्य कथमन्यदेहेन भोग इत्यतो इत्युक्तिः।

देहाभावमुपेत्य भोगं प्रसाध्य तत्सत्त्वमुपेत्यापि तमाह —

ॐ चितिमात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॐ ॥ 4-4-5-547 ॥

चितिमात्रेण चिन्मात्ररूपेण देहेन मुक्तो भोगान् भुङ्क्ते। न चैवं देहित्वे संसारिसमानत्वम्। चिन्मात्रदेहस्य तदात्मकत्वात् मुक्तस्वरूपत्वात्। तस्याकृत्रिमत्वेन कृत्रिमदेहस्यैवतत्साङ्ख्यापादकत्वमित्यौडुलोमिर्मन्यत इत्यर्थः। 'चिन्मात्र एवैष भवति' इति श्रुत्या मुक्तस्य तदात्मकत्वात् चिन्मात्रात्मकत्वादित्यप्यर्थः। तेन मुक्तस्य कुतश्चिद्रूपत्वमिति निरस्तम्।

देहभावाभावयोर्विरोधात् समाधिद्वयमयुक्तमित्यत आह —

ॐ एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॐ ॥4-4-5-548॥

एवमपि चिन्मात्रदेहेन भोगान् भुञ्जत इत्येवप्रकारेणापि 'स वा एष एतस्मान्मर्त्यादिमुक्तश्चिन्मात्री भवत्यथ तेनैव रूपेणाभिपश्यत्यभिश्रुणोति' इति श्रुतावुपन्यासात् पूर्वभावात् पूर्वस्य जैमिन्युक्तदेहाभावस्यापि भावात् तत्रोक्तश्रुत्या सत्त्वावगमात् – द्वयोरपि प्रमाणिकत्वादिति यावत् — अविरोधं जैमिन्यौडुलोमिमतयोर्मर्त्यामर्त्यदेहाभावभावाभ्युपगमेनाविरोधं बादरायणो मन्यत इत्यर्थः। अविरोधप्रकारश्च 'मर्त्यदेहं परित्यज्य चितिमात्रात्मदेहिनः' इत्यादिस्मृत्यनुसारेण चिन्मात्रकेण स्वदेहेन ब्रह्मदेहेन च साहित्येन भोगाविरोधं बादरायणो मन्यते। साहित्यं च तत एव दर्शन श्रवणाद्युक्तेः तदनुग्राह्यानुग्राहकभावेनेति तत्त्वप्रदीपोक्तरीत्या ध्येयम्। औडुलोमिमते प्राग्ज्ञानानुक्तेरिहोपन्यासादित्युक्तिः॥5॥

सङ्कल्पाधिकरणम्॥4-4-6॥

ॐ सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॐ ॥ 4-4-6-549 ॥

अत्र मुक्तस्य सङ्कल्पमात्रसाध्यभोगवत्त्वं साध्यते। मुक्तानां सङ्कल्पादेव भोगसिद्धिः। कुतः? तच्छ्रुतेः। 'सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इति तस्य श्रवणादित्यर्थः। चशब्दस्तु लोके भोगस्य कर्मसाध्यत्वात् मुक्तभोगस्यापि प्रयत्नापेक्षेति न वाच्यमिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थ इति टीका। चकारादनिष्टभोगोपरमश्चेति तत्त्वप्रदीपोक्तिः॥6॥

अनन्याधिपत्यधिकरणम्॥4-4-7॥

ॐ अत एव चानन्याधिपतिः ॐ ॥ 4-4-7-550 ॥

अत्र मुक्तानामनियम्यत्वराहित्येन भोगः साध्यते। अत एव प्रागुक्तदहमियतामेव नियम्यः स्यामिति सत्यसङ्कल्पादेव मुक्तोऽनन्याधिपतिः क्लृप्तस्वोत्तमेभ्योऽन्याधिपतिहीन इत्यर्थः। चस्तु राजगृहं प्रविष्टस्य प्रतिहारपालादिनियतत्ववत् मुक्तस्यापीशगृहं प्रविष्टस्यावरनियम्यता स्यादिति शङ्कानिवृत्त्यर्थेति टीका। 'परमोऽधिपतिस्त्वेषां' इत्यादिप्रमाणसमुच्चय इति तत्त्वप्रदीपोक्तिः। अनधिपतिरित्युक्तौ स्वोत्तमानां पतित्वं वारितं स्यादित्यतोऽनन्याधिपतिरित्युक्तम्॥7॥

अभावाधिकरणम्॥4-4-8॥

ॐ अभावं बादरिराह ह्येवम् ॐ ॥ 4-4-8-551 ॥

अत्र मुक्तस्य बोगानुपपत्तिर्निरस्यते। अभावं चिन्मात्रदेहान्यप्राकृतदेहस्याभावं मुक्तानां बादरिर्मन्यते, येन दुःखित्वादिकमाशङ्क्यं स्यात्। कुतः? 'अशरीरो वाव तदा भवति' इति श्रुतिरेवमाह हि यस्मात्तस्मादित्यर्थः।

देहसद्भावमप्याह —

ॐ भावं जैमिनिर्विकल्पाम्नानात् ॐ ॥ 4-4-8-552 ॥

कदाचिद् भोगार्थं मुक्तानां चिन्मात्रदेहान्यप्राकृतदेहस्य भावं सत्वं जैमिनिर्मन्यते। कुतः? 'चिता वा अचिता वा' इति श्रुतौ विकल्पाम्नानादित्यर्थः।

उक्तमतयोर्विरुद्धत्वात् स्वमतं किमित्यत आह—

ॐ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॐ ॥ 4-4-8-553 ॥

अत इति मतद्वयोक्तप्रमाणपरामर्शः। उभयविधं मुक्तानां देहभावाभावाख्यं प्रागुक्तमुभयविधं बादरायणः स्वमतं मन्यते। कुतः? अतः उभयोरपि प्रमाणवत्त्वादित्यर्थः।

विरुद्धं कथं स्वमतम्? अत उक्तं — द्वादशेति। यता द्वादशाहाख्ययागस्य क्रतुत्वं सत्रत्वं च यजमानेच्छया एकानेक यजमानकत्वाभ्यामविरुद्धं तथा मुक्तानामिच्छया देहभावाभावौ न विरुद्धाविति।

अत्र भाष्ये क्रतुशब्दोऽहर्गणाख्याहीनपर इति गुरुपादाः। तदुक्तं तत्वप्रदीपे – क्रतुरित्यहीनो विवक्ष्यते। अहीनैकाहेष्वस्य श्रेष्ठत्वात् अत्र क्रतुशब्दः प्रयुक्तः। तथाच श्रुतिः — श्रेष्ठयज्ञो वा एष, यत् द्वादशाहः इत्यादि। तेन कस्यचिन्मीमांसाविरोधापलापानवकाशः।

नन्वेवमविरोधेऽपि देहाभावे कथं भोग इत्यत आह —

ॐ तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॐ ॥ 4-4-8-554 ॥

तन्वभावे मुक्तौ बाह्यदेहाभावेऽप्युपपत्तेः भोगस्येति शेषः। कथं? सन्ध्यवत्। स्वप्नावस्थायां देहाभिमानाभावेपि यथा भोगस्तथेति। अनभिमानस्याभावसाम्यात्। स्वाप्नार्थानां सत्यत्वोक्तेरिति भावः।

देहभावे तु सुतरां भोगो युक्त इत्याह —

ॐ भावे जाग्रद्वत् ॐ ॥ 4-4-8-555 ॥

यथा जाग्रद्दशायां देहभावे भोगस्तथा मुक्तावपि देहभावे भोगो युक्त इत्यर्थः। देहसत्त्वपक्षे भोगायोगाभावादयं योगः अवक्तुं शक्य इति चेन्न। प्रदीपवदिति वक्ष्यमाणदोषनिरासप्रस्तावार्थत्वादस्य अन्यथैतद्विषयता तस्य न ज्ञायेतेति भावः।

देहभावे दुःखभोगोऽपि स्यादित्यत आह—

ॐ प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॐ ॥ 4-4-8-556 ॥

मुक्तानामावेशः शुद्धप्रकृतिमयज्योतीरूपबाह्यदेहप्रवेशः प्रदीपवत् प्रदीपस्य दीपिकावेश इव। यथा प्रदीपो दीपिकाविष्टः सन् तत्स्थतैलाद्येव भुङ्क्ते न काष्ण्यादि तथा मुक्तो जडदेहप्रविष्टोऽपि न दुःखं भुङ्क्ते किन्तु सुखमेव। कुतः? 'तीर्णो हि तदा सर्वान् हृदयस्य भवति' इति श्रुतिस्तथा मुक्तौ दुःखाभावं दर्शयति हि यतोऽत इति।

यथा दीपिकां प्रकाशयन्नेव तैलादि भुङ्क्ते तथा मुक्तो जडदेहं प्रकाशयन्नेव सुखं भुङ्क्ते न तु देहधर्मसंस्पृष्ट इति च द्योतनाय प्रदीपदृष्टान्तोक्तिः।

'तीर्णो हि' इति वाक्यं स्वर्गस्थपरं किं न स्यादत आह —

ॐ स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॐ ॥4-4-8-557॥

स्वाप्ययः सुप्तिः। सम्पतिर्मुक्तिः। अन्यतरशब्दोऽत्रोभयपरः। 'तीर्णो हि' इति वाक्यं सुप्तिमुक्त्युभयपरं, न स्वर्गविषयम्। कुतः? हि यस्मादाविष्कृतं तदुभयविषयत्वमस्य वाक्यस्य विस्पष्टमत इत्यर्थः। 'अत्र पिताऽपिता भवत्यनन्वागतं पुण्येन' इत्यपितृत्वपुण्यपापाद्यसङ्गत्वलिङ्गश्रवणात्। स्वर्गिणः श्रद्धादिभोक्तृतुस्तदयोगादिति भावः।

अन्यतरेत्यस्य द्वयोर्मध्य एकार्थत्वे वस्तुनि विकल्पापातात् स्वाप्ययापेक्षं सम्पत्त्यपेक्षमिति वायात्। स्वाप्ययसम्पत्त्यपेक्षमिति वाच्ये एवमुक्तिः स्वाप्यये मोक्षे या सम्पत्तिः सुप्तिस्तदपेक्षमित्यर्थ इति मन्दस्य शङ्का माभूदिति सम्बन्धमात्राषष्ठ्या स्वाप्ययसम्पत्त्योरपेक्षमित्युक्त्या पूर्तावप्यर्थद्वयस्य साम्येन मुख्यत्वाद् यथारुच्येकार्थो ग्राह्य इति द्योतनाय स्वाप्ययसम्पत्त्योर्मध्येऽन्यतरेत्युक्तिः। एतेन स्वाप्ययसम्पत्त्युभयापेक्षमिति वाच्यमिति निरस्तम्। तथात्वे द्वयोर्मुख्यत्वासूचनात्। एतच्च तत्त्वप्रदीपबृहद्भाष्यकर्मनिर्णयटीकासु व्यक्तम्।

जगद्व्यापाराधिकरणम्॥4-4-9॥

ॐ जगद्व्यापारवर्जम् ॐ ॥ 4-4-9-558 ॥

अत्र मुक्तस्य भोगेयत्ता साध्यते। सृष्ट्यादिजगद्व्यापारवर्जं कामं मुक्त आप्नोति, न तु 'सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः' इति श्रुत्या सृष्ट्यादिकामानपीत्यर्थः।

कुत इत्यत आह —

ॐ प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॐ ॥ 4-4-9-559 ॥

'शरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्य' इति जीवप्रकरणात् जीवानां जगज्जननादिसामर्थ्येऽसन्निहितत्वात् तद्विदूरत्वात्तद्धीनत्वादिति यावत् — 'सर्वान् कामान्' इति श्रुतेः सङ्कोचो युक्त इत्यर्थः।

उक्तमाक्षिप्याह —

ॐ प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॐ ॥4-4-9-560॥

'ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' इति प्रत्यक्षं स्पष्टं मुक्तस्य सर्वदेवपूज्यत्वोपदेशात् मुक्तानां जगदैश्वर्यमस्तीति चेन्न। कुतः? आधिकारिकमण्डलस्थोक्थेः। अधिकारे नियुक्ता आदिकारिकाः — 'तत्र नियुक्तः' इति ठक् — स्वयोग्यपदवीं प्राप्ता देवाः। तेषां मण्डले नियामकतया स्थितस्य मुक्तविरिञ्चस्यैव तत्रोक्तेर्नाशेषभुक्तानां जगद्विषयैश्वर्यमित्यर्थः।

देवमण्डलेति वाच्ये एवमुक्तिर्मुक्तदेवानामपि मुक्तस्वावरनियमनाधिकारे नियुक्तत्वमस्तीति सूचयितुम्। तत्र तत्र स्थित्वा भोगान् भुङ्क्ते इति मण्डलस्येत्युक्तमिति तत्त्वप्रदीपोक्तिः।

मुक्तब्रह्मादीनाममुक्तजगद्व्यापारोऽपि कुतो नेत्यत आह —

ॐ विकारावर्ति च तथाहि दर्शयति ॐ ॥ 4-4-9-561 ॥

चो नेत्यनुकर्षार्थः। विकारं संसारमावर्तयतीति विकारावर्ति। तद्विषयं व्यापरणं मुक्तानां नास्ति। कुतः? 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा.4.15.6) इति श्रुतिस्तथा दर्शयति हि यतोऽत इत्यर्थः। मानवा यत्रावर्तन्ते स मानवावर्तः संसारः। तं नावर्तयन्तीति श्रुत्यर्थः॥1॥

स्थित्यधिकरणम्॥4-4-10॥

ॐ स्थितिमाह दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॐ ॥ 4-4-10-562 ॥

अत्र मुक्तानां भोगादिना वृद्धिह्रासौ नेत्युच्यते। 'ब्रह्मणि सम्पन्नो न जायते न म्रियते न हीयते न वर्धते' इति श्रुतिः स्थितिं मुक्तानामेकप्रकारेणावस्थानमाह। महतां प्रत्यक्षं, 'मुक्तो न वृद्ध्यादिमान् तद्धेतुशून्यत्वात्' इत्यनुमानं च एवं एकप्रकारेणावस्थितिं दर्शयतः। महतां प्रत्यक्षमस्तीत्येतत् 'न ह्रासो न च वृद्धिर्वा' इत्यादिस्मृत्याऽवसेयम्।

मुक्तानां भोगविशेषसत्त्वात् कथमेवमित्यत आह —

ॐ भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॐ ॥ 4-4-11-563 ॥

भोगमात्रस्य साम्ये मुक्तस्यानन्दवृद्ध्याद्यकारणत्वे लिङ्गाच्च लिङ्गस्य सत्त्वाच्चेत्यर्थः। 'एतमानन्दमयमात्मानमनुविश्य न जायते न म्रियते न ह्रसते न वर्धते यथाकामं चरति यथाकामं पिबति यथाकामं रमते यथाकाममुपरमते' इति श्रुतौ मुक्तस्य वृद्ध्याद्यभावोक्तिपूर्वं भोगभावाभावोक्तेर्भोगविशेषो नानन्दवृद्ध्यादिहेतुरित्यर्थे लिङ्गसत्त्वादिति भावः। 'यथाकामं रमते उपरमते' इति विशेषसूचनाय मात्रपदोक्तिरिति तत्त्वप्रदीपोक्तिः। भोगसामान्य एव साम्यं न तु तद्विशेष इत्यर्थ इति न्यायामृतोक्तिः॥10॥

अनावृत्त्यधिकरणम्॥4-4-11॥

ॐ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॐ ॥ 4-4-12-564 ॥

अत्र मुक्तस्य भोगान् भुञ्जानस्यापुनरावृत्तिरुच्यते। मुक्ता नामनावृत्तिः, न तु सर्वकालस्यापि समाप्त्या स्वर्गिवत् पुनरावृत्तिः। कुतः? 'न च पुनरावर्तते' इति शब्दात् श्रुतेरित्यर्थः। ज्ञायत इति शेषः। समस्तशास्त्रार्थावधारणार्था सूत्रस्यैवात्र द्विरुक्तिः॥11॥

कल्याणगुणपूर्णाय दोषदूराय विष्णवे।

नमः श्रीप्राणनाथाय भक्ताभीष्टप्रदायिने॥

सुधीन्द्रगुरुपादानां शिष्येण श्रीशतुष्टये।

राघवेन्द्रेण यतिना कृतोयं तन्त्रदीपिका॥

इति श्रीराघवेन्द्रयतिकृतायां तन्त्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥4-4॥

समाप्तोयं तन्त्रदीपिका॥